

कलिकाल सर्वशः श्री हेमचन्द्राचार्य रचित

त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित

[हिन्दी अनुवाद]

पर्व : ३-४, भाग : ३

[मगवान् सम्मवनाथ से धर्मनाथ तक १३ तीर्थज्ञान, २ चकवर्ती, ५ चासुदेव, ५ बलदेव, ५ प्रतिवासुदेव—३० महापुरुषों का चरित]



अनुवादक
श्री गणेश ललदानी
एवं
श्रीमती राजकुमारी बेगानी



प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पाइरबनाथ तीर्थ, मेवानगर

प्रकाशकीय

अप्रतिभ प्रतिभाधारक, कलिकाल सर्वज, परमार्हत कुमारपाल प्रतिबोधक, स्वनामधन्य श्री हेमचन्द्राचार्य रचित त्रिषष्ठिशलाका-उस्तुरित का तृतीय एवं चतुर्थ पर्व, भाग—३ के रूप में प्राकृत भारती के पुष्प संख्या ७९ के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

त्रिषष्ठि अर्थात् तिरेसठ, शलाका पुरुष अथवा सर्वोत्कृष्ट महापुरुष अथवा मृष्टि में उत्पन्न हुए या होने वाले जो सर्वश्रेष्ठ महापुरुष होते हैं वे शलाका पुरुष कहलाते हैं। इस कालचक के उत्सर्पणी और अवसर्पणी के आरकों में प्रथमक काल में सर्वोच्च ६३ पुरुषों की गणना की गई है, की जाती थी और की जाती रहेगी। इसी नियमानुसार इस अवसर्पणी में ६३ महापुरुष हुए हैं उनमें २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेवों की गणना की जाती है। इन्हीं ६३ महापुरुषों के जीवन-चरितों का संकलन इस 'त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष चरित' के अन्तर्गत किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे १० पर्वों में विभक्त किया है जिनमें कृष्णभदेव से लेकर महाबीर पर्वन्त ६३ महापुरुषों के जीवन-चरित संगृहीत हैं।

प्रथम पर्व में भगवान् कृष्णभदेव एवं भरत चक्रवर्ती का एवं द्वितीय पर्व में द्वितीय तीर्थकर भगवान् अजितनाथ एवं द्वितीय चक्रवर्ती भगव का सांगोपांग जीवन गुम्फित है। ये दोनों पर्व हिन्दी अनुवाद के साथ प्राकृत भारती के पुष्प ६२ एवं ७७ के रूप में प्राकृत भारती अकादमी द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं।

इस तृतीय भाग में पर्व ३ और ४ संयुक्त रूप से प्रकाशित किए जा रहे हैं। तृतीय पर्व में आठ सर्ग हैं जिनमें पहले सर्ग में भगवान् संभवनाथ, दूसरे सर्ग में प्रभु अभिमन्दन, तीसरे सर्ग में विभु सुमतिनाथ, चौथे सर्ग में स्वामिन् परमप्रभ, पाँचवें सर्ग में जिनेन्द्र सुपार्णनाथ, छठे सर्ग में तीर्थपति चन्द्रप्रभ, सातवें सर्ग में भगवान् सुविधिनाथ एवं आठवें सर्ग में भगवान् शीतलनाथ का जीवन चरित है। इस प्रकार इस तीसरे पर्व में तीसरे तीर्थकर से लेकर दसवें तीर्थकर शीतलनाथ के चरितों का समावेश हो गया है।

चतुर्थ पर्व में सात सर्ग हैं—

पहले सर्ग में र्यारहवें तीर्थकर श्रेयोसनाथ, प्रथम बलदेव अचल, प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ, प्रथम प्रतिवासुदेव अष्टवशीव का चरित है।

दूसरे सर्ग में धारहवें तीर्थकर वासुदेव एवं दूसरे—बलदेव विजय, द्विपृष्ठ वासुदेव, नारक प्रतिवासुदेव का चरित है।

तीसरे सर्ग में तेरहवें तीर्थङ्कर विमलनाथ एवं तीसरे—भद्र बलदेव, स्वयम्भू वासुदेव, मेरक प्रतिवासुदेव का जीवन चरित है।

चौथे सर्ग में चौदहवें तीर्थकर अनन्तनाथ एवं चौथे—सुप्रभ बलदेव, पुरुषोत्तम वासुदेव, मधु प्रतिवासुदेव का चरित है।

पाँचवें सर्ग में पन्द्रहवें तीर्थकर घर्मनाथ एवं पाँचवें—सुदर्शन बलदेव, पुरुषसिंह वासुदेव, निष्ठुर्म प्रतिवासुदेव का वर्णन है।

छठे सर्ग में तृतीय चक्रवर्ती भघवा का चरित है।

मातवें सर्ग में ततुर्थ चक्रवर्ती सनलकुमार का जीवन चरित है।

इस प्रकार चौथे पर्व में ५ तीर्थङ्करों, २ चक्रवर्तियों एवं पाँच-पाँच बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेवों—कुल २२ महापुरुषों का जीवन-चरित्र संकलित है।

पुर्व में आचार्य शीलांक ने 'चउप्पन-महापुरुष-चरित्य' नाम से इन ६३ महापुरुषों के जीवन का प्राकृत भाषा में प्रणयन किया था। शीलांक ने ९ प्रतिवासुदेवों की गणना स्वतन्त्र रूप से नहीं की, अतः ६३ के स्थान पर ५४ महापुरुषों की जीवनशाया ही उसमें सम्मिलित थी।

आचार्य हेमचन्द्र १२वीं शताब्दी के एक अनुपमेय सारस्वत पुत्र थे, कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी लेखिनी से साहित्य की कोई भी विधा अज्ञूनी नहीं रही। व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छन्द-शास्त्र, त्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र आदि प्रत्येक विधा पर अपनी स्वतन्त्र, मौलिक एवं चिन्तनपूर्ण लेखिनी का सफल प्रयोग छन्होने किया। आचार्य हेमचन्द्र न केवल साहित्यकार ही थे; अपितु जैनधर्म के एक दिग्भज आचार्य भी थे। महावीर की वाणी के प्रचार-प्रमार में अहिंसा का सर्वज्ञ क्यापक सकारात्मक प्रयोग ही इस हृषित से वे चालुक्यवंशीय राजाओं के सम्पर्क में

भी सजगता से बाए और सिद्धराज तथा परमार्हत कुमारपाल जैसे राज-ऋषियों को प्रभावित किया और सर्वधर्म रामनवय के साथ विशाल राज्य में अहिंसा का अमारी पठह के रूप में उद्धीप भी करवाया। जैन परम्परा के होते हुए भी उन्होंने महादेव को जिन के रूप में आलेखिन कर उनकी भी स्तवना की। हेमचन्द्र न केवल सार्वदेशीय विद्वान् ही थे; अपितु उन्होंने गुजर धरा में अहिंसा, करुणा, प्रेम के साथ गुजर भाषा को जो अनुपम अस्मिन्ना प्रदान की यह उनकी उपलब्धियों की पराकार्षा थी।

महापुरुषों के जीवनचरित को पौराणिक आख्यान कह सकते हैं। पौराणिक होते हुए भी आचार्य ने इस चरित-काव्य को साहित्य शास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य के रूप में सम्पादित करने का अभूतपूर्व प्रयोग किया है और इसमें वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं। यह कल्प उनीन् हस्तार भलैफ़ अरिहाण का है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र स्वयं ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखते हैं—

‘चेदि, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, सिन्ध और अन्य अनेक दुर्गम देशों को अपने भुजबल से पराजित करने वाले परमार्हत् चालुक्यकुलोत्पन्न कुमारपाल राज्यि ने एक समय आचार्य हेमचन्द्रसूरि से विनयपूर्वक कहा—‘हे स्वामिन् ! निष्कारण परोपकार की वृद्धि को धारण करने वाले आपकी आज्ञा से मैंने नरक गति के आयुष्य के निमित्त-कारण मृगया, जुआ, मदिरादि दुर्गुणों का मेरे राज्य में पूर्णतः निषेध कर दिया है और पुत्ररहित मृत्यु प्राप्त परिवारों के धन को भी मैंने त्याग दिया है तथा इस पृथ्वी को अरिहन्त के चैत्यों से मुश्लोभित एवं भण्डित कर दिया है। अतः वर्तमान काल में आपकी कृपा से मैं सम्प्रति राजा जैसा हो गया हूँ। मेरे पूर्वज महाराजा गिद्धराज जयसिंह की भक्तियुक्त प्रार्थना से आपने पंचांगीपूर्ण ‘सिद्धहेमशब्दानुशासन’ की रचना की। भगवन् ! आपने मेरे लिए निर्मल ‘योगशास्त्र’ की रचना की और जनोपकार के लिए द्रष्टारथ्य काव्य, छन्दोज्ञशासन, काव्यानुशासन और नामसंग्रहकोप प्रमुख अन्य ग्रन्थों की रचना की। अतः हे आचार्य ! आप स्वयं ही लोगों पर उपकार करते के लिए कटिवढ़ हैं। मेरी प्रार्थना है कि मेरे जैसे मनुष्य को

प्रतिबोध देने के लिए ६३ शलाका-पुस्तकों के चरित पर प्रकाश ढालें।'

इससे स्पष्ट है कि राजसी कुमारपाल के आग्रह से ही आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना उनके अध्ययन हेतु की थी। पूर्वीकित ग्रन्थों की रचना के अनन्तर इसकी रचना होने से इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १२२० के निकट ही स्वीकार्य होता है। यह ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य की प्रोढावस्था की रचना है और इस कारण इसमें उनके लोकजीवन के अनुभवों तथा मानव स्वभाव की गहरी पकड़ की झलक मिलती है। यही कारण है कि काल की इयत्ता में बन्धी पुराण कथाओं में इधर-उधर खिले उनके विचारकण कालातीत हैं। यथा—“शत्रु भावना रहित ब्राह्मण, वेईमानी रहित वणिक्, ईर्ष्या रहित प्रेमी, व्याधि रहित शर्वैर्, गत्वान् दिवान्, तद्द्वार रहित गुणवान्, चपलता रहित नारी तथा चरित्रवान् राजपुत्र बड़ी कठिनाई से देखने में आते हैं।”

श्री गणेश ललवानी इस पुस्तक के अनुवादक हैं। ये बहुविधि विधाओं के सफल शिल्पी हैं। उन्होंने इसका बंगला भाषा में अनुवाद किया था और उसी का हिन्दी रूपान्तरण श्रीमती राजकुमारी बेगानी ने सफलता के साथ किया है। शब्दावली में कोभलकान्त पदावली और प्राञ्जलता पूर्णरूपेण समाविष्ट है। इसके सम्पादन में यह विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि अनुवाद कौन से पद्य से कौन से पद्य तक का है, यह संकेत प्रत्येक गद्यांश के अन्त में दिया गया है। हम श्री गणेश ललवानी और श्रीमती राजकुमारी बेगानी के अत्यन्त आभारी हैं कि इन्होंने इसके प्रकाशन का शेय प्राकृत-भारती को प्रदान किया और हम उनसे पूर्णरूपेण आशा करते हैं कि इसी भाँति शेष ६ पवीं का अनुवाद भी हमें शीघ्र ही प्रदान करें जिससे हम यम्पूर्ण ग्रन्थ धीरे-धीरे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सकें।

यारसमल भंसाली म. विनयसागर बैबेन्द्रराज मेहता

अध्यक्ष

निदेशक

सचिव

श्री जैन एवं, नाकोड़ा प्राकृत भारती भ्राकादमी प्राकृत भारती भ्राकादमी
पार्कनाथ तोर्च, भेदानगर जयपुर जयपुर

विषयालुक्रम

तृतीय एवं

प्रथम सर्ग	— भ. सम्भवनाथ का चरित	१—२६
द्वितीय सर्ग	— भ. अभिनन्दन का चरित	२६—३६
तृतीय सर्ग	— भ. सुभतिनाथ का चरित	३६—४२
चतुर्थ सर्ग	— भ. पद्मप्रभ का चरित	४२—६६
पंचम सर्ग	— भ. सुपार्श्वनाथ का चरित	६७—७४
षष्ठ सर्ग	— भ. चन्द्रप्रभ का चरित	७४—८२
सप्तम सर्ग	— भ. सुविधिनाथ का चरित	८२—९२
अष्टम सर्ग	— भ. शीतलनाथ का चरित	९२—१००

चतुर्थ एवं

प्रथम सर्ग	— भ. श्रेयांसनाथ एवं प्रथम—क्षिपृष्ठ वासुदेव, अचल बलदेव तथा अस्वग्रीव प्रतिवासुदेव का चरित	१००—१५६
द्वितीय सर्ग	— भ. वासुपूज्य और द्वितीय—क्षिपृष्ठ वासुदेव, विजय बलदेव एवं तारक प्रतिवासुदेव का चरित	१५६—१७८
तृतीय सर्ग	— भ. विमलनाथ एवं तृतीय—स्वयम्भू वासुदेव, भद्र बलदेव और मेरक प्रतिवासुदेव का चरित	१७८—१९३
चतुर्थ सर्ग	— भ. अनन्तनाथ और चतुर्थ—पुरुषोत्तम वासुदेव, सुप्रभ बलदेव एवं मधु प्रतिवासुदेव का चरित	१९३—२१४
पंचम सर्ग	— भ. धर्मनाथ एवं पंचम—पुरुषसिंह वासुदेव, सुदशीन बलदेव तथा निशुम्भ प्रतिवासुदेव का चरित	२१४—२३८
षष्ठ सर्ग	— तृतीय चक्रवर्ती भधवा का चरित	२३८—२४२
सप्तम सर्ग	— चतुर्थ चक्रवर्ती सनलकुमार का चरित	२४२—२६८

त्रिष्णुष्टशलाकापुरुषचरितम्

श्री संभवनाथ चरित

तृतीय पर्व

प्रथम सर्ग

जो तीन लोक के नाथ है, जिनका जन्म पवित्र है, जो संसार और कर्म-बन्धनों का नाश करने वाले हैं, उन्हीं जिनेष्वर भगवान् श्री संभवनाथ स्वामी को नमस्कार कर भवचक्र नाशकारी भगवान् का जीवन वर्णन करता हूँ। (श्लोक १-२)

धातकी खण्ड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में क्षेम के निवास रूप क्षेमपुरी नामक एक प्रसिद्ध नगर था। उस नगर में जैसे मेववाहन ही पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं ऐसे विपुल-वाहन नामक एक सद-विवेचक राजा थे। माली जिस प्रकार भाड़-भांडा द्वारा उद्यान की रक्षा करता है उसी प्रकार वे भी प्रजा के समस्त दुःख द्वारा उसकी रक्षा करते थे। मही जिस भांति पथिकों की कलान्ति द्वारा करती है उसी प्रकार उनकी सन्तीति प्रजा को सदैव प्रफुल्लित रखती थी। उनका न्यायानुसार शासन इतना दृढ़ था कि वे स्वर्य के या अन्य के द्वारा उसका व्यतिक्रम नहीं होने देते थे। वैद्य जिस प्रकार रोगी की चिकित्सा में रोग निवारण के लिए यथोचित कठोर व्यवस्था का अवलम्बन करते हैं उसी प्रकार वे अपशाद के गुरुत्वानुसार अपशादी के दण्ड की व्यवस्था करते थे। जो पुण्यवान् थे, गुणानुयायी थे जन्हें पुरस्कृत भी करते थे। वास्तव में ऐदकाशी के इस प्रकार भेद करने से ही श्री-वृद्धि होती है। अन्य के लिए जो मान का कारण था वह उनमें मान उत्पन्न नहीं करता। वर्षा का जल नदी की भांति समुद्र के जल की अभिवृद्धि नहीं करता। (श्लोक ३-१०)

जिस प्रकार मन्दिर में भगवान् का निवास रहता है उसी प्रकार उनके अन्तर में सर्वज्ञ सर्वदा निवास करते थे। जिस भांति

शास्त्रों में सर्वज्ञ का गुणगान रहता है। उसी प्रकार उनकी बाणी से सर्वज्ञों का गुणगान उच्चारित होता रहता था। जबकि अन्य उनके चरणों में माथा भुकाते थे; किन्तु वे अपना मस्तक के वेख अरिहन्त, सिद्ध, प्राचायं, उपाध्याय और साधुओं के चरणों में ही नत करते थे। दुःखदायी आर्तिष्यान का अभाव होने के कारण वे शास्त्रों के स्वाध्याय से, अहंतों की यूजा से, मन, वचन, काया की उत्तम प्रवस्था को प्राप्त हुए थे। जिस भाँति वस्त्र में नील का रंग बैठ आता है उसी भाँति श्रावक के द्वादश व्रत उनके हृदय में सुदृढ़ रूप में बस गए थे। उस महामना की जिस प्रकार द्वादश राजाओं पर दृष्टि थी उसी प्रकार श्रावक धर्म पर भी थी, पवित्रमता वे धर्म बोज रूप अर्थ सर्वदा सात क्षेत्रों में यथायोग्य रूप से वपन करते थे। उनके द्वार से प्रार्थी कभी भी खाली हाथ नहीं लौटता था। समुद्रोत्थित मेघ की भाँति वे ही परम करुणामय दौरदों और मनाथ व्यक्तियों के शाश्वत स्थल थे। वर्षी के जल की भाँति वे दरिद्रों को धन दान करते थे। वे अहंकार से शून्य थे। अतः मेघ की भाँति गरजते नहीं थे। कण्टक नाश के कुठार तुल्य व दान में कल्पतरु सम उन राजा के शासनकाल में पृथ्वी पर कोई दुःखी नहीं था।

(श्लोक ११-१९)

एक बार उनके राज्य में दुष्क्षिण पड़ा। भाग्य को छीतना कठिन है। वर्षी ऋतु होने पर भी आकाश श्याम वर्ण न होने से तथा वर्षी न होने पर वह वर्षी ऋतु भी ग्रीष्म की भाँति दुःखदायी हो गई। प्रलयकालीन वायु की भाँति नैऋत्य कोण की वायु ने प्रवाहित होकर वृक्षों को उखाड़ डाला व समस्त जलाशयों को सुखा दिया। आकाश काक के उदर की भाँति पांशु वर्णयुक्त और सूर्य भालर की तरह उज्ज्वल हो गया। ग्राम और नगर के लोग शस्य के अभाव में वृक्षों की छाल, कन्द-मूल और फल खाकर संन्यासी की तरह जीवन व्यतीत करने लगे। भस्मक दोग-ग्रस्त व्यक्ति की तरह बहुत खा लेने पर भी उनकी कुछांश ज्ञान्त नहीं होती थी। भिक्षा लेना लज्जापद होने के कारण लोग संन्यासी का वेष धारण कर भिक्षा लेने लगे।

(श्लोक २०-२६)

आहार की खोज में माता-पिता-पुत्र एक दूसरे का परिस्थाग कर इधर-उधर घूमने लगे मातों वे राह भूल गए हों। यदि कहीं

खाने की वस्तु मिल जाती तो पिता भूखे पुत्र को रोते देखकर भी खाना नहीं देता। रास्तों पर घूमती मातर्थ एक मुट्ठी मटर के दानों के निए श्रपने पृथ्वी-पुत्रियों को उसी प्रकार बेच देते जिस प्रकार कंगाली में लड़कियां सूप बिक्री कर देती हैं। सुबह के समय घर के भूखे कबूतर जिस प्रकार आंगन से धान चुन-चुनकर खाते हैं उसी प्रकार धूधार्त व्यक्ति धनी व्यक्तियों के आंगन से धान्य बीज चुन-चुनकर खाते थे। रोटी की टूकानों से वे कुत्ते की तरह बार-बार रोटी चुराकर ले जाने लगे। समस्त दिन भटकने के पश्चात् सत्त्वा तक किसी भी प्रकार से यदि उन्हें सामान्य-सा खाद्य-पदार्थ भी मिल जाता तो वे स्वर्य को भाग्यशाली समझते। कंकाल-से भयंकर पतित मनुष्यों से नगर का राजपथ भी अमशान-सा लगने लगा। उनकी लगातार चीत्कार मानो कर्ण-रन्ध्रों को प्रतिपल सूई छाकर बींध रही है ऐसी कर्णशूल हो गई थी। (श्लोक २०-३४)

इस भाँति के भयंकर दुर्भिक्ष में चतुर्विध संघ को मानो प्रलयकाल धिर आया हो इस भाँति परितप्त देखकर वे महामना राजा सोचने लगे—पृथ्वी की रक्षा करना ऐरा कर्तव्य है; किन्तु मैं क्या करूँ? दुःसमय शस्त्र द्वारा निवारित नहीं हो सकता। किर भी किसी न किसी प्रकार मुझे संघ की रक्षा करनी होगी। कारण, महान् व्यक्ति के योग्य व्यक्ति की रक्षा करना सर्वप्रथम कर्तव्य है। (श्लोक ३५-३७)

ऐसा सोचकर राजा ने श्रपने रसोइयों को आज्ञा दी—'आज से संघ के आहार के पश्चात् ही जो कुछ बचेगा मैं उसे अहण करूँगा और मेरे लिए जो आहार तैयार होगा वह साधुओं को दिया जाएगा।' (श्लोक ३८-३९)

'जैसी आपकी आज्ञा' कहकर प्रधान रसोइए ने राजा की आज्ञा स्वीकार कर ली। इस आज्ञा का यथोचित रूप से पालन हो इसलिए राजा स्वर्य देख-रेख करने लगे। (श्लोक ४०)

चावल जिनकी सुगन्ध पद्म सुवास-सी थी, उड़द के दानों से भी मोटे मटर, अमृत के सहोदर घृतोद समुद्र के जल से गाढ़ा विभिन्न प्रकार के सूप, तरल खाद्य, शर्करा मिश्रित मण्डक, मिठाई, सुपक्व फल, मरंराल (पापड़), घी में तली पूड़ी, चोद्य द्रव्य, तक, दूध, मीठा दही प्रादि राजा के आहार की तरह श्रावकों के आहार के लिए प्रस्तुत होने लगे। (श्लोक ४१-४५)

वे महामना राजा अपने हाथों से दोषशून्य, ऐषणीय शुद्ध आहार साधु और मुनिवरों को देने लगे। इसी भाँति उस दुर्भिक्षकाल में राजा ने सम्मान और सत्कार के साथ संघ को आहार दान दिया। समग्र संघ की इस सेवा और भाव उल्लास के कारण राजा ने तीर्थंकर गोत्र कर्म उपार्जन किया। (स्लोक ४६-४८)

एक दिन जबकि वे प्रासाद की छत पर बैठे हुए थे पृथ्वी के छत्र की भाँति आकाश में मेघ उदित होते देखा। उस मेघ ने विद्युत खिचित नीलाम्बर की तरह समस्त आकाश को आवृत कर लिया। इसी बीच वृक्षराजि को मूल और पाताल भित्ति से उखाड़ते हुए भयानक तूफान आया। उस तूफान से अकं के फल की तरह उस मेघ को मुहूर्त मात्र में छिन्न-भिन्न कर चारों ओर छिटरा दिया। मुहूर्त भर के लिए मेघ आकाश में छाया और मुहूर्त भर में खो गया। यह देखकर राजा मन ही मन विचारने लगे—जिस भाँति देखते-देखते मेघ उमड़ा उसी भाँति देखते-देखते ही समाप्त हो गया। संसार की समस्त स्थिति ऐसी ही तो है। ये मनुष्य जो बातें कर रहे हैं, गीत गा रहे हैं, नाच रहे हैं, हँस रहे हैं, खेल रहे हैं, धनोपार्जन के लिए विविध प्रकार की चिन्ताएँ कर रहे हैं, चलते-फिरते, सोते-उठते, यान पर अवस्थान करते, कुदू व कीड़ा खत, घर में या बाहर भाग्य द्वारा नियुक्त सर्प के ढाढ़ा वे सहसा दंशित होते हैं, विद्युत्पात से मरते हैं, मदोमत्त हाथी के पैरों तले पिसते हैं, पुरानी प्राचीय के गिर जाने से दब जाते हैं, कुधातं बाघ द्वारा भक्षित होते हैं या दुरारोग्य रोगों से आक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जंगली धोड़ों या ऐसे ही किसी जानवर द्वारा जमीन पर पटक दिए जाते हैं, दस्यु या शक्तुओं द्वारा छुरिकाहत होते हैं, प्रदीप से लगी आग से जलकर मरते हैं या अति बर्फ के कारण नदी में शाई बाढ़ में बह जाते हैं या वात, पित्त, कफ का प्रकोप उनकी देह का उत्ताप शोषण कर लेता है, अतिसार से पीड़ित होते हैं या भयंकर खांसी से अभिभूत हो जाते हैं या जर्मेभ्याधि से आक्रान्त होते हैं या क्षय रोगाक्रान्त होते हैं या बदहजमी से पीड़ित होते हैं, गठिया की पीड़ा से पीड़ित होते हैं, आमाशय, कोष्ठ-काठिन्य या फोड़ा-फुनिसियों से, भगन्दर से, हँफनी से, वात या यमदूत-से नाना प्रकार की व्याधियों से आक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं। (स्लोक ४९-६७)

फिर भी मनुष्य स्वयं को अमर समझकर मूर्ख पशु की भाँति जीवित रहते जीवन-वृक्ष के कल की प्राप्ति का प्रयास नहीं करते। अभी मेरे भाई दरिद्र हैं, यभी सन्तानें छोटी हैं, लड़की का विवाह करना है, पुत्र की शिक्षा की व्यवस्था करनी है, अभी तो मात्र विवाह किया है, माता-पिता बृद्ध हो गए हैं, मातृ-शतसुर आर्यहीन हैं, बहन विद्यवा हो गई है—इसी प्रकार चिन्ता करते हैं जैसे वे चिरकाल तक उनकी रक्षा कर सकेंगे। मूर्ख मनुष्य कभी नहीं सोचते कि भव-समुद्र गले में बंधे पत्थर की तरह है।

(श्लोक ६८-७१)

आज प्रियतमा का देह-पालिगन का आनन्द प्राप्त नहीं हुआ, पिष्टक की गत्थ नहीं मिली, आज मेरी माल्य-प्राप्ति की इच्छा पूर्ण नहीं हुई, आज मनोमुख कर दृश्य देखने की वासना तृप्त नहीं हुई, वेणु या बीणा के संगीत का आज मुझे आनन्द नहीं मिला, घर का भण्डार आज भरा नहीं गया, जिस पुराने गृह को तोड़ डाला है उसका निमणि नहीं हुआ, जो अश्व खरीदे हैं उन्हें प्रशिक्षित नहीं किया गया, द्रुतगामी बलद उत्कृष्ट रथ में जोते नहीं गए हैं इस भाँति मूर्ख जीवन के अन्तिम समय तक परिताप करता रहता है; किन्तु मैंने धर्मचिरण नहीं किया इसका परिताप कोई नहीं करता। यहाँ मृत्यु सदा मुँह बाए रहती है। फिर आकस्मिक मृत्यु भी तो है। रोग हैं और अनेक दुष्कृतिएँ हैं। एक ओर राग-द्वेष-से शब्द तो है ही दूसरी ओर प्रवृत्तियाँ जो कि युद्ध की भाँति मृत्यु के कारण होती हैं। संसार जो महाभूमि-सा है वहाँ ऐसा कुछ नहीं है जो सुख दे सके। हाय, मनुष्य, 'मैं आराम में हूँ' ऐसा सोचकर संसार से विरक्त नहीं होता। जो ऐसी धारणा में मुग्ध है सोए हुए व्यक्ति पर आक्रमण करने की तरह मृत्यु उस पर सहसा आ पड़ती है। पके शश की भाँति धर्म-साधना इसी नश्वर देह का फल है। नश्वर शरीर से विनश्वर अवस्था प्राप्त करने की बात करना खूब सहज है; किन्तु हाय, विमुग्ध मनुष्य वह करता कहाँ है? अतः अब दुष्कृति न कर आज से इस देह से निवारण रूप धन उपार्जन का प्रयास करूँगा और यह राज्य-सम्पदा पुत्र को सौंप दूँगा।

(श्लोक ७२-८३)

यह सोचकर राजा ने द्वार-रक्षक द्वारा अपने यशस्वी पुत्र

विमलकीर्ति को बुलवाया। कुमार ने आकर इस भाँति करवद्द होकर अपने पिता को प्रणाम किया जैसे किसी लक्षणिकाली देव को प्रणाम कर रहे हों। प्रणाम कर विनीत भाव दें जैसे—

‘आप मुझे गुरुत्वपूर्ण आदेश दीजिए। अहं स्रोतकर चिन्तित न बनें कि मैं प्रभी बालक हूँ। आज किस लक्ष्मी-राज्य को अध करना है? किस पार्वत्य राजा को पर्वत सहित मैं दमन करूँ? जल-दुर्मवासी किस शब्द को जल सहित विनष्ट करूँ? जो आपको कंटक की तरह बीध रहा है, कहिए उसे तुरन्त उखाड़ दूँ? बालक होने पर भी मैं आपका पुत्र हूँ। प्रतः जिसे दमन करना कठिन है उसे भी दमन करने में मैं समर्थ हूँ। अवस्था ही यह क्षमता आपकी ही है, मैं तो आपका प्रतिबिम्ब हूँ।’ (श्लोक ८४-८९)

राजा ने कहा—‘कोई भी राजा नेहै इस गत्युतावादम नहीं है। कोई भी पार्वत्य राजा मेरे आदेश की अपहेलता नहीं करता। किसी भी द्वीप के राजा ने मेरे विरुद्ध आचरण नहीं किया जिसके लिए हे दीर्घबाहु पुत्र, मैं तुम्हें भेजूँ; किन्तु इस भरणशील शरीर में अवस्थान ही सर्वदा मेरी चिन्ता का कादण रहा है प्रतः हे कुल-भूषण, तुम इस पृथ्वी का भार ग्रहण करो। तुम इस भार को बहन करने में समर्थ हो। जिस भाँति मैंने इस राज्य-भार को ग्रहण किया था उसी भाँति तुम भी इसे ग्रहण करो ताकि मैं दीक्षा ग्रहण कर इस संसारी जीवन का परित्याग कर सकूँ। गुरुजनों के आदेश को अमान्य नहीं किया जाता यह समझकर भी जो तुम्हारे लिए पालनीय है इसे अन्यथा मढ़ करना।’ (श्लोक ९०-९४)

कुमार सोचने लगा—‘गुरुजनों का आदेश श्रीर मेरी प्रतिज्ञा के कारण मैं इसका प्रत्युत्तर देने से वंचित हो गया हूँ।’ राजा ने भी पुत्र का मनोभाव समझकर बड़ी धूम-धाम से स्व-हाथों से उन्हें सिंहासन पर अभिवित्त किया। (श्लोक ९५-९६)

विमलकीर्ति द्वारा अनुष्ठित दीक्षा-पूर्व स्नानाभिषेक के पश्चात् राजा शिविका में बैठकर स्वयंप्रभसूरि के पास गए। थोड़ आचार्य से जो कुछ परित्यज्य था उसका परित्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली। संयम रथ पर आरूढ़ होकर आश्यत्तरिक शब्द के ग्राक्षमण से उन्होंने अपने संयम रूपी राज्य की समुचित भाव से रक्षा की। बीस स्थानक श्रीर छन्द स्थानकों की आशाधना कर तीर्थकर गोत्र

कमं की और अभिवृद्धि की । परिषहों को सहन करते हुए सदैव जागृत प्रहरी की तरह उन्होंने अपना समय अतीत किया । अन्ततः अनशन में मृत्यु प्राप्त कर उन्होंने आनंद नामक स्वर्ग को प्राप्ति की । सामान्य दीक्षा परिणाम में निर्वाण रूप फल प्रदान करने वाली सिद्ध हुई ।

(श्लोक ९७-१०२)

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अलंकार रूप आवस्ती नामक एक समुद्रिशाली नगरी थी । शत्रुघ्नों को जय करने के कारण जिनका जितारि नाम सार्थक था ऐसे राजा वहाँ राज्य करते थे । वे इक्षवाकु कुश खाली क्षोर समुद्र के लिए चक्रवर्त्य थे । वन्य-वश्यों में जिस प्रकार सिंह और पक्षियों में बाज है उसी प्रकार राजाघों में उनके समकक्ष या उनसे अधिक कोई नहीं था । कक्ष पथ में प्रवेशकारी यह सहित चन्द्र की तरह राजा अपने सेवाकारी राज्य के मध्य शोभित होते थे । जो धर्म-संगत नहीं हो ऐसा वे कदापि न बोलते थे, न करते थे, न सोचते थे । वे साक्षात् धर्म रूप ही थे ।

(श्लोक १०३-१०७)

राजा के रूप में वे अपराधी को दण्ड और दरिद्रों को धन देने के लिए थे; किन्तु उनके राज्य में न कोई अपराधी था न दरिद्र । वे हाथ में ग्रस्त्र धारण मात्र करते थे; परन्तु वे परम कारुणिक, समर्थ और सहिष्णु, ज्ञानी और छल-कपट रहित थे । वे यीवत सम्पन्न थे; किन्तु इन्द्रिय निय्रह में सक्षम थे । उनकी प्रधान घटरानी सेना का नाम भी सार्थक था । वे थीं धर्म रूप सेना की सेनापति, सौन्दर्य की आकर । संसारी जीवों की किसी भी प्रकार की हिसान कर चन्द्र जैसे रोहिणी के साथ कीड़ा करता है राजा भी उसी प्रकार उनके साथ कीड़ा करते थे ।

(श्लोक १०८-१११)

राजा विपुलवाहन का जीव आनंद नामक स्वर्ग का आयुष्य पूर्ण कर वहाँ से च्युत होकर कालगुन मास की शुक्ल पक्ष की अष्टमी को चन्द्र जब मृगशिरा पर अवस्थित था महारानी सेना के गर्भ में प्रवेश किया । मूहतं मात्र के लिए नारकी जीवों ने भी उस समय आनन्द की अनुभूति की एवं तीनों लोक में विद्युत आलोक-सा एक आलोक व्याप हो गया ।

(श्लोक ११२-११४)

निद्रित अवस्था में शानी सेना देवी ने रात्रि के शेष भाग में जीदह स्वप्नों को अपने कमल तुल्य मुख में प्रवेश करते देखा ।

यथा—शरद् के शुभ्र मेघ-सा मधोन्मत्त हाथी, स्फटिक शिखा-से विद्युत् धबल वृष, सघन केशरयुक्त केशरी सिंह, युग्म हस्तयों द्वारा अभिषिक्त श्री देवी, सान्ध्यमेघ की शोभा को हरने वाली चंचवर्णीय पुष्पों से गुंथो भाला, दर्पण-सा रूपहला पूर्ण चन्द्र, तिमेर हरण-कारी सूर्य जिसके द्वारा दूर होता है अंधकार, गुंधरू लगे और पताका से मुशोभित होता छब्ज-दण्ड, कमल द्वारा आच्छादित स्वर्ण-कुम्भ, कमल द्वारा शोभित प्रफुल्लित सरोवर, हस्त प्रमाण तरंगों से उल्लसित क्षीर-समुद्र, रत्ननिर्मित प्रासाद, जिसे पहले किसी ने न देखा हो ऐसा नागों द्वारा रक्षित रत्न-तुल्य रत्न-राशि, प्रभात सूर्य-सी निधू'म अग्नि-शिखा। (श्लोक ११५-१२२)

जागृत होकर रानी ने उन स्वप्नों का विवरण राजा को बताया। राजा बोले—‘इससे लगता है तुम त्रिलोक बन्दनीय पुत्र को जन्म दोगी।’ (श्लोक १२३)

सिहासन कम्पित होने पर इन्द्र वहाँ आए और सेनादेवी को स्वप्नों का अर्थ बताया। बोले—‘हे देवी, इस अवसर्पिणी के तीसरे तीर्थच्छुर प्राप्तके पुत्र रूप में जन्म लेंगे।’ स्वप्न-अर्थ को सुनकर जिस प्रकार मेघ घोष से मयूर प्रानन्दित हो जाता है उसी प्रकार आनन्दित हो उठीं महारानी सेना। उन्होंने शेष रात्रि जागृत रह कर ही अतिवाहित की। (श्लोक १२४-१२६)

रत्न खान की मिट्टी जिस प्रकार हीरों को बहन करती है, त्रिलोक बत्तिका अग्नि को, उसी भाँति सेनादेवी अपने पवित्र गर्भ को बहन कर रही थी। गंगा-जल में जिस प्रकार स्वर्ण कमल बढ़ित होता है उसी भाँति गर्भ में वह अरुण बढ़ित होने लगा। रानी की आँखें ईषत् लाल हो उठीं। शरद् ऋतु के प्रभात से सरोवर का कमल जिस प्रकार देखने में सुन्दर होता है उसी प्रकार अरुण के प्रभाव से रानी का सौन्दर्य, स्तनों का विस्तार और गति की मृदुता दिनोंदिन वृद्धिगत होने लगी। (श्लोक १२७-१३०)

आकाश जिस प्रकार लोक-आनन्द के लिए मेघ को धारण करता है उसी प्रकार उन्होंने भी फालग्न मास की शुक्ल अष्टमी को गर्भ धारण किया और नौ मास साढ़े सात दिन व्यतीत होते पर अग्रहण शुक्ला चतुर्दशी को जब चन्द्रमा मृगशिरा नक्षत्र पर अवस्थित था सहज भाव से एक पुत्र को जन्म दिया। शिशु-जन्म

के पश्चात् रक्षणरित नहीं हुया। जातक का रंग था सूर्योदयकालीन पूर्व के आकाश-सा स्वर्णिम। उस समय अवध्यकार को नष्ट करते बाला एक आलोक मुहूर्त मात्र के लिए तीनों लोक में व्याप्त हो गया और एक मुहूर्त के लिए नारकी जीव भी आनन्दित हुए। ग्रह-समूह उस समय उच्च स्थान पर था, आकाश प्रसन्न था। मृदु-मन्द वायु प्रवाहित हो रही थी। मनुष्यों ने आनन्दोत्सव मनाया। नभ से बरसा सुगन्धित जल। आकाश में हुआ दुन्दुभिनाद। हवा ने अपसारित कर दिया छूलि करणों को। पृथ्वी उच्छ्रवसित हो उठी।

(श्लोक १३१-१३६)

अधोलोक से भोगकरा आदि आठ दिक्कुमारियाँ प्रवधि-ज्ञान से अहंत का जन्म अवगत कर वहाँ उपस्थित हुईं। उन्होंने जिन और जिन-माता को तीन बार प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया एवं अपने आगमन को ज्ञापित किया। साथ ही साथ यह भी कहा—‘आप भयभीत न हों।’ तदुपरान्त उन्होंने इशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्रधात से संबर्त नामक वायु प्रवाहित रुद सूतिकामृह के चारों ओर एक योजन पर्यन्त भूमि को कदंब और कंकर रहित किया। तत्पश्चात् जिन भगवान् को नमस्कार कर उनके तिकट बैठी और परिवार के सदस्यों की भाँति उनका गुणगान करते लगीं। (श्लोक १३७-१४०)

इसके बाद उच्चलोक से मेघंकरा आदि आठ दिक्कुमारियाँ भी पूर्वनुरूप वहाँ प्राई और जिन एवं जिनमाता को नमस्कार किया। उन्होंने मेघ का सर्जन कर सुगन्धित जल की वर्षा की और सूतिकामृह के चारों ओर एक योजन पर्यन्त धूल को नष्ट कर डाला। छूटनों तक पञ्चवर्णीय पुरुषों की वर्षा कर जिन भगवान् को नमस्कार किया और उनका गुणगान करते हुए यथास्थान जाकर खड़ी हो गईं।

(श्लोक १४१-१४३)

पूर्व रुचकादि से नन्दोत्तरा आदि आठ दिक्कुमारियों ने पूर्वनुरूप आकर जिन और जिनमाता को नमस्कार किया और हाथ में दर्पण लेकर गीत गाने लगीं। दक्षिण रुचकादि से समाहारा आदि आठ दिक्कुमारियाँ भी पूर्वनुरूप आकर जिन और जिन-माता को नमस्कार कर दाहिने हाथ में स्वर्णकलश लेकर दक्षिण दिशा में खड़ी हो गईं। पश्चिम रुचकादि से इला आदि आठ

दिक्कुमारियां आईं और जिन एवं जिनमाता को नमस्कार कर हाथ में पंखा लेकर पीछे की ओर जाकर खड़ी हो गईं। उत्तर हचकाद्रि से अलम्बना आदि थान दिक्कुमारियां आईं और जिन एवं जिनमाता को नमस्कार कर हाथ में चैवर लेकर गीत गाती हुई बाईं और जाकर खड़ी हो गईं। विदिशा के हचक पर्वत से चिन्हा आदि चार दिक्कुमारियां आईं और पूर्वानुसार जिन एवं जिनमाता को नमस्कार कर हाथों में दीप लेकर गीत गाती हुई विदिशा में जाकर खड़ी हो गईं। (इलोक १४५-१४८)

हचक द्वीप से रूपादि चार दिक्कुमारियां वहाँ आईं, उन्होंने भगवान् की नाड़ीनाल चार अंगुल परिमित रखकर काटी और उसको रत्न की तरह धरती में छहुआ खोदकर गाढ़ दिया। हीरे और रत्नों से उस खद्दे को बन्द कर ऊपर दूर्वावास से आच्छादित कर दिया। तदुपरान्त पश्चिम दिशा को छोड़कर भगवान् के जन्मगृह के तीनों और चार कक्षयुक्त कदलीगृह का निर्माण किया। बाद में जिनेश्वर को हाथ में लेकर एवं जिनमाता को हाथ का सहारा देकर दक्षिण के चतुर्प्रकोण कदलीगृह में ले जाकर एक सिंहासन पर बैठाया। सुवासित लक्षणाक तेल दोनों की देह पर भर्देन किया और सुगन्धित उबटन लगाया। तदुपरान्त पूर्व दिशा के कदलीगृह में ले जाकर सिंहासन पर बैठाया और स्नान कराया। देवदुष्य वस्त्र से देह पोङ्ककण गोशीर्ष चन्दन-रस से चचित किया और दोनों को दिव्य वस्त्र एवं शलंकारों से विभूषित किया। तत्पश्चात् उत्तर दिशा के कदलीगृह में ले जाकर रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठाया। वहाँ आभियोगिक देवों द्वारा गोशीर्ष चन्दन का काष्ठ मंगवाया। अरणी के दो खण्ड लेकर अग्नि प्रज्वलित कर होम करने के लिए गोशीर्ष काष्ठ के टुकड़ों से हवन किया। हवन की समाप्ति पर भस्मावशेष को वस्त्र-खण्ड में बांधकर दोनों के हाथों में बांध दिया। भगवान् के कान में 'तुम पर्वत तुल्य आयुषमान बनो' कहकर दो प्रस्तर गोलक ठोके। तदुपरान्त माता और बालक को शय्या पर सुलाकर मंगल-गीत गाने लगीं। (इलोक १४९-१६०)

भगवान् के चरण-कमलों में जाने के लिए मानो इन्द्रासन कांप उठा। अवधिज्ञान से तीर्थंड्कुर का जन्म श्रवणत कर शक्ति ने सिंहासन का परित्याग किया। सात-प्राठ कदम तीर्थंड्कुर की ओर

अग्रसर होकर उन्हें घन्दना की । शक के सेनापति ने धण्टा बजाया । तीर्थंडुर भगवान् के स्नानाभिषेक के लिए उत्सुक देव उनके तिकट आकर खड़े हो गए । (श्लोक १६१-१६३)

शक देवताओं सहित पालक विमान पर चढ़े और नम्दीश्वर द्वारा होते हुए जिनेश्वर के आवास पर पाए । विमान में बैठे हुए ही तीर्थंडुर के जन्मगृह के चारों ओर परिक्रमा देकर, विमान को ईशान कोण में रखकर वे विमान से बाहर आए । तदुपरान्त सूतिकागृह में गए और भगवान् को देखते ही उन्हें प्रणाम किया । तीर्थंडुर और उनकी माता को तीन प्रदक्षिणा देकर भूमि-स्पर्श पूर्वक उन्हें पुनःपंचांग प्रणाम किया । माता को अवस्वापिनी निद्रा से निप्रित कर उनके पास तीर्थंडुर का एक प्रतिरूप रखकर स्वयं पांच रूप धारण किए । किर एक रूप से उन्होंने उसे हाथों में लिया, दूसरे रूप से छब्बी धारण किया, तृन्त दो हाथों से चैत्र धारण किया और शेष एक रूप से बज द्वारा हाथ में लेकर उनके धागे-धागे चले । तदुपरान्त जय-जय शब्द से आकाश गुच्छित कर देवताओं द्वारा परिवृत्त होकर वे एक मुहूर्त में मेसपर्वत पर पहुंच गए । वहां अतिपाण्डुकबला शिला पर शक क्रिभुवनपति को गोद में लेकर रत्न-सिहासन पर बैठ गए । (श्लोक १६४-१७१)

सिहासन कम्पित होने से अच्युतेन्द्र ने अवधिज्ञान का प्रयोग किया और अनुरूप भाव से प्राणत सहस्रार, महाशुक्र, लान्तक, ब्रह्म, महेन्द्र, सनत्कुमार, ईशान, चमर, बलि, धरण, भूतानन्द, हरि, हरिष, वेणुदेव, वेणुदारी, अग्निशिख, अग्निमानव, वेलम्भ, प्रभंजन, सुघोष, महाघोष, जलकान्त, जलप्रभ, पूर्ण, अवशिष्ट, अमित, अमितवाहन, काल, महाकाल, सुरूप प्रतिरूपक, पूर्णभद्र, मणिभद्र भीम, महाभीम, किञ्चन, किञ्चुरुष, सत्युरुष, महापुरुष, अतिकाय, महाकाय, गीतरति, गीतथश, सञ्चिहित, समानक, धातृ, विधातृ, कृषि, कृषिपालक, ईश्वर, महेश्वर, सुवत्सक, विशालक, हास, हासरति, श्वेत, महाश्वेत, पावक, पावकगति, सूर्य, चन्द्र ये त्रेसठ हन्द्र परिजन सहित आडम्बरपूर्वक इस भाँति मेसपर्वत पर तीर्थंकर के जन्माभिषेक के लिए उपस्थित हुए मानो प्रतिक्षेपी के घर से आए हों । (श्लोक १७२-१८२)

अच्युतेन्द्र के आदेश से शाभियोगिक देव, सुरपर्ण के, रजत के,

रत्नों के, सुवर्ण और रजत के, सुवर्ण और रत्न के, रजत और रत्न के, सुवर्ण रजत और रत्न के, ऐसे ही मिट्टी के इस भाँति आठ रकम के प्रत्येक प्रकार के एक हजार आठ सुन्दर कलशों का निर्माण किया। कलशों की संख्या के अनुपात में आठ प्रकार के पदार्थों की भारी, दर्पण, रत्न करणिङ्का, सुप्रतिष्ठक, थाल, राचिका व पुष्पों की डाली का निर्माण किया। तत्परतात् देव क्षोरसमुद्रादि समुद्र और तीर्थादि से जल और आनन्दित करने के लिए मिट्टी और कमल तोड़कर ले आए; क्षुद्र हिमवत से ग्रीष्मधि, भद्रशाल से केशर एवं अन्य सुगन्धित द्रव्य ले आए। उन सभी सुगन्धित द्रव्यों को भक्तिवश तत्परण जल में डालकर तीर्थजल को सुवासित किया।

(श्लोक १८३-१८६)

देवताश्रों द्वारा प्रदत्त कलशों से और प्रवाल वृक्ष के पुष्पों से अच्युतेन्द्र ने प्रभु को स्नान कराया। जिस समय वे प्रभु को स्नान करा रहे थे आनन्द भरे देवगणों में कोई गाने लगा, कोई नृत्य करने लगा, कोई कीरुक अभिनय करने लगा। तदुपरान्त आरण्य और अच्युतेन्द्र ईशा ने भक्ति भाव से पृथु की हड्डी को पौङ्कार किया गन्ध द्रव्य का लेपन किया एवं अपना भक्ति भाव निवेदित किया। शक के पश्चात् अन्य बासठ इन्द्रों ने भक्ति भाव सहित प्रभु को स्नान कराया। पृथ्वी को पवित्र करने का यही तो एक मात्र साधन है।

(श्लोक १८९-१९२)

शक की भाँति ईशानेन्द्र ने भी पांच रूप घारणा किए। एक रूप से उन्होंने प्रभु को गोद में लिया, दूसरे रूप में छवि घारणा किया। अन्य दो रूपों से चैवर हाथ में लिया और शेष एक रूप में प्रभु के सम्मुख खड़े हो गए। भक्ति में प्रौढ़ शक ने प्रभु के चारों प्रोर दीघं शृङ्ग विशिष्ट चार स्फटिक मणि के वृषभ तैयार करका ए। उनके शृङ्गों से जलधारा ऊपर की ओर उठने लगी। मूल में पृथक्-पृथक्; किन्तु ऊपर जाकर वे एक साथ मिलकर प्रभु पर बरसने लगी। इस भाँति सौधर्म कल्प के इन्द्र ने अत्यधिक भक्तिवश प्रभु का स्नानाभिषेक कराया जो कि अन्यान्य इन्द्रों से विशिष्ट था। तदुपरान्त उन चारों वृषभों को नष्ट कर शक ने प्रभु की देह पर शृङ्गराग किया और पूजा कर भक्ति भाव से आनन्दमना बने इस प्रकार सुन्ति करने लगे—‘हे त्रिलोकीनाथ, तीनों लोक के

रथक तृतीय तीर्थकर, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। असाधारण शक्ति के कारण आप साधारण भूष्य से निष्ठ हैं। जल्द ऐ ही प्राप तीन ज्ञान और अनेक शक्तियों के प्रधिकारी हैं। आपकी देह पर एक हजार आठ शुभचिह्न हैं। आपका यह जन्म-कल्याणक उत्सव सदा निवित के निद्रा विनाशकारी मुझ जैसे के लिए सुख का सूखक है। हे त्रिबगत्पति, आज भी यह सम्पूर्ण रात्रि अभिनन्दनीय है क्योंकि आज रात्रि में कलंकहीन अन्द्र-से आपने जन्म ग्रहण किया है। हे भगवन्, आपकी बन्दना के लिए आने-जाने वाले देवों के कारण यह पृथ्वी भी स्वर्ग में परिणत हो गई है। आज से देवों को किसी अन्य मदिरा की आदर्शकता नहीं है। आपकी दर्शन रूपी मदिरा को पान कर उनका चित्त पूर्ण हो गया है। हे भगवन्, भरत क्षेत्र के थोड़ सरोवर में उत्पन्न कमल-तुल्य आप-से भ्रमण की भाँति मैं परमतृप्ति को प्राप्त करूँ। मृत्यु-जोक के ये अधिवासी भी धन्य हैं जो सर्वदा आपके दर्शनों का सुख प्राप्त करते हैं। हे भगवन्, आपको देखते का सीमाय स्वर्ग के राज्य से भी बढ़कर है।'

(स्लोक १९३-२०५)

इस प्रकार प्रभु की स्तुति कर शक ने पुनः पांच रूप धारण किए। एक रूप से प्रभु को ग्रहण किया एवं अन्य चार रूपों से पूर्व की ही भाँति छवादि धारण किए। मुहूर्तमात्र में वस्त्रालंकारों से भूषित प्रभु को माता सेनादेवी के पास सुला दिया और श्रीदाम गण्डक चौदोबे में लटका दिया। एक जोड़ी अंगद, दो दिन्य वस्त्र उन्होंने तकिए पर रख दिए। तत्पश्चात् सेनादेवी पर प्रयुक्त अवस्वापिनी निद्रा श्रीर तीर्थकर के प्रतिबिम्ब को उठा लिया। तदुपरान्त शक ने अभियोगिक देवों द्वारा अपनी आज्ञा वैमानिक भवनपति व्यन्तर और ज्योतिष्क इन चारों विकाय के देवों में घोषित करवा दी कि जो प्रभु और प्रभु की माता का अनिष्ट करने की इच्छा करेगा उसका भस्तक सात खण्ड होकर फूट जाएगा। बाद में उन्होंने प्रभु के अंगुष्ठ में अमृत भर दिया। कारण, अहंत स्तन-पान नहीं करते। जब उन्हें भूख लगती है वे अपना अंगुष्ठ छूसते हैं। इसके बाद पांच अप्सराओं को धाय माता के रूप में नियुक्त कर अहंत की बन्दना की प्रीर वहाँ से प्रस्थान किया। अन्य इन्द्र मेष्यवंत से ही नन्दीश्वर द्वीप चले गए। वहाँ शाश्वत अहंत-

प्रतिमाद्वारे का अष्टाह्लिका उत्सवे कर सकल सुरासुर स्व-स्व निवास स्थान को चले गए ।

(श्लोक २०६-२१४)

सुबह होने पर राजा जितारी ने स्व-पुत्र रूप में जन्मे अर्हत् का स्नानाभिषेक महाधूमधाम से सम्पन्न किया । जिस भाँति राज-गृह में उत्सव अनुष्ठित हुआ उसी प्रकार प्रकार प्रत्येक घर में, प्रत्येक पथ में, प्रत्येक बाजार में, समय नगरी में अनुष्ठित हुआ । वे अल गर्भ में थे तब प्रभूत धान्य उत्पन्न हुआ था (सम्भूत) और जन्म समय द्वितीय कर्णण (सम्बा) सम्पन्न हुआ थतः उन्होंने पुत्र का नाम रखा सम्भव ।

(श्लोक २१५-२१७)

राजा ने त्रिलोकपति पुत्र का बार-बार मुख देखा । ऐसा लगा—मानो वे प्रभूत सागर में निमिज्जित हुए जा रहे हैं । राजा दहुमूल्य रत्न की भाँति त्रिलोकपति को कभी ओढ़ में, कभी वक्ष पर, कभी सिर पर धारण कर स्पर्शसुख का अनुभव करते हैं । शक द्वारा नियोजित पांचों धात्रियां श्रद्धिकाधिक भक्ति के कारण देह की काया की तरह कभी उनका परित्याग नहीं करती; किन्तु वे उनकी गोद से उत्तरकर सिंह-शावक की तरह भग्नान होकर इवर-उधर विचरण करते और उन्हें सिंहनी की भाँति उड़िग्न कर देते । यद्यपि वे तीन ज्ञान के धारक थे फिर भी वे मणि कुट्टिम प्रतिविम्बित चन्द्र को पकड़ने के लिए बाल्य-कीड़ाएँ करते ।

(श्लोक २१८-२२२)

उनका साहृचर्य पाने के लिए आए मानव रूपजारी देवकुमारों के साथ वे कीड़ा करते । देवों के सिवाय उनसे कीड़ा करने में भला कौन समर्थ है? महावत जैसे हस्ती के सम्मुख पीठ कर दीड़ता है उसी प्रकार देव भी खेल ही खेल में उनकी तरफ पीठ कर दीड़ते । खेल के बहाने से जब वे जमीन पर गिरकर बचायो-बचायो करते तब प्रभु अवस्थानुसार उन पर करणा वर्षण करते । चन्द्रमा जिस प्रकार रात्रि का प्रथम भाग व्यतीत करता है उसी प्रकार उन्होंने खेल-कूद में बाल्यकाल व्यतीत किया ।

(श्लोक २२३-२२६)

चार सौ धनुष दीर्घ स्वर्ण वर्ण वाले भगवान् ऐसे लगते थे मानो मनुष्यों को आनन्दित करने के लिए मेह ने ही मनुष्य रूप धारण कर लिया है ।

(श्लोक २२७)

वे छत्र की तरह सिर पर उष्णीष धारण करते थे। उनके केश थे घने, काले और मसृए। ललाट का सौन्दर्य चन्द्रमा का-सा था। नेत्र थे आकर्ण विस्तृत, कर्ण स्कन्धस्पर्शी। उनके बृंब से स्कन्ध, दीर्घ बाहु, प्रशस्त वक्ष, केशरी-से क्षीण कटि, गज-सुण्ड-सी जंघाएँ व पैर हरिण-से थे। बुटने छोटे, चरण कच्छप पृष्ठ से मसृए और तोरणाकृति, अंगुलियाँ सीधी, रोम अलग-अलग, परिपूर्ण, काले, नरम और स्तिर्य, श्वास पद्मगन्धवाही, सर्व प्रकार की अपवित्रता से सर्वथा मुर्ल। दबावना है। उनका दारीर ऐसा था कि वे शरद के पूर्ण चन्द्रमा की तरह सर्वदा अस्वाभाविक रूप से तरुण हैं—ऐसे प्रतीत होते थे।

(ग्लोक २२८-२३२)

एक दिन उनके माता-पिता ने अपनी साध पूर्ण करने के लिए देव-कन्या-सी राजकुमारियों के साथ विवाह के लिए प्रस्ताव रखा। भोगकर्म अभी अवशेष है, देखकर एवं माता-पिता के आदेश को समझकर उन महामना ने विवाह की स्वीकृति दे दी। शक की उपस्थिति में राजा जितारि ने सम्भवकुमार का विवाहोत्सव सम्पन्न किया। इस उत्सव में हा-हा-हू-हू ने मधुर संगीत परिवेशित किया, गन्धवीं ने मन्दिर स्वर में बाद्य-बादन किया, रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सरायों ने नृत्य किया एवं उच्चकुलजात रमणियों ने मंगल गीत गाए। विवाहोपरात्त कभी नन्दन-धन-से श्रेणीबद्ध उद्यानों में, कभी रत्नगिरि-से कीड़ा-पर्यंतों पर, कभी सुधा समुद्र-से स्त्रियों सरोबरों में, देव-दिमानों-से चित्रगृह में, युष्यपति हस्ती की भाँति सम्भव स्वामी हजारों तरुणी और विचक्षण रमणियों के साथ कीड़ा करने लगे। इस प्रकार सांसारिक सुखों को भोगते हुए उन्होंने पन्द्रह लाख पूर्व वर्ष व्यतीत कर लिए।

(ग्लोक २३३-२४१)

संसार से वैराग्य उत्पन्न होने पर राजा जितारि ने सम्भव स्वामी की सम्मति लेकर उन्हें अंगूठी के हीरे की तरह सिंहासन पर स्थापित किया। तदुपरात्त उपयुक्त मुह से दीक्षा लेकर राजा ने अपनी मनोकामना पूर्ण की। पिता से राज्य ग्रहण कर सम्भव स्वामी ने उद्यग प्रताप से माला की भाँति पृथ्वी की रक्षा की। आपके प्रताप से प्रजा निरपद्रव एवं व्याघ्रिरहित होकर सुख से जीवन व्यतीत करने लगी। जबकि सम्भव ने अपनी भीहों को भी कुचित नहीं किया तो प्रत्यंचा कुचित करने का तो प्रश्न ही नहीं

उठता। भोग कर्मों को क्षयकर प्रभु ने ४४ लाख पूर्व और ४ पूर्वांग राजा रूप में व्यतीत किए। तत्पश्चात् तीन ज्ञान के धारी स्वयंबुद्ध प्रभु संसार की क्षणभंगुरता के विषय में इस भाँति विचारने जगे :

(श्लोक २४२-२४६)

विषाक्त खाद्य की भाँति इन्द्रियों के विषयों के उपभोग क्षण सुखदायी होते हैं; किन्तु परिणाम में अनिष्टकारी है। लवणाक्त शू-भाग में जिस प्रकार भीठा जल पाना दुष्कर है उसी प्रकार इस अद्भुत-सागर में मनुष्य जन्म पाना भी दुष्कर है। जब मनुष्य जन्म मिला है तो उसे अमृत रस में पांच धोने की भाँति व्यर्थ होने देना उचित नहीं है। (श्लोक २४९-२५०)

जब प्रभु इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे तभी लोकान्तिक देवों ने आकर उनसे निवेदन किया—‘मगवन्, तीर्थ की स्थापना करिए।’ देवों के चले जाने के पश्चात् भगवान् संवत्सरी दान देने को प्रस्तुत हुए। इन्द्र के आदेश से कुबेर द्वारा प्रेषित जृम्भक देवगणों ने जिस धन के अधिकारी मरु चुके हैं, जो अङ्गात गिरि-कन्दराश्रों में या समादिश्वरों भी गड़े हुए हैं, वर्ती में लुप्त हुए हैं, बहुत दिनों से खोए हुए हैं, ऐसे धन लाकर श्रावस्ती के चौराहों पर, तिराहों पर एवं अन्य स्थानों पर स्तूपीकृत पहाड़ की भाँति घर दिए। सम्भव स्वामी ने श्रावस्ती भैं घोषणा करवा दी कि जिसको जितना धन चाहिए वह उतना मुझसे आकर ले जाए। स्वामी प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख सुबर्ण दान करते थे। जिस समय अहंत् प्रभु ने दान दिया उस समय जितने याचक उपस्थित थे उन्हें एक वर्ष तक इन्द्र कोटि ८० लाख सुबर्ण दान दिया। (श्लोक २५१-२५९)

वर्ष के मन्त छोते ही इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। वे सपरिवार एवं अनुचरों सहित स्वामी के घर उपस्थित हुए। विमान में अवस्थित रहकर उन्होंने तीन बार प्रभुगृह की प्रदक्षिणा दी किर विमान से बाहर आए। उनके चरण भूमि से चार अंगुल ऊपर थे। समस्त इन्द्रों ने त्रिलोकपति को प्रदक्षिणा देकर भक्ति-भाव से बन्दन किया। स्नानाभिषेक की भाँति आभियोगिक देवों द्वारा लाए तीर्थ-जल से अच्युतेन्द्र ने प्रभु का स्नानाभिषेक किया। भक्ति में विज्ञ अन्य इन्द्रों ने भी उसी प्रकार प्रभु का स्नानाभिषेक किया। तत्पश्चात् सुरेन्द्रों की तरह एसुरेन्द्रों ने भी सुवासित जल

से सम्भव स्वामी को स्नान कराया। सुबर्ण दर्पण-सी देवाधिदेव प्रभु को सित्त देह को देवों ने देवदुष्य बस्त्र से पोंछा। भक्ति भरे देवों ने गो-शीर्ष चन्दन का उनके शरीर पर लेन किया और सूक्ष्म परिधान एवं अलकारों से उन्हें विभूषित किया। प्रभु को देवों ने पृथ्वी के सर्वस्व रूप हीरों का किरीट पहनाया व कानों में कणभिरण। देखकर लगा जैसे वे मेघमुक्ता द्वारा निमित हों। गले में सोती की लड़ियों का हार पहनाया जो कि तिहार पर्वत से गिरती गङ्गा-सा लग रहा था। हाथों में अङ्गद पहनाए। वे सूर्य और नक्षत्रों द्वारा बने हों ऐसे लग रहे थे। पांवों में जो नुपूर पहनाए उन्हें देखकर ऐसा लगा जैसे पश्चात को बलयाकृत कर दिया गया है। राजाश्रों ने तब सिंहासन और पादपीठ सह एक शिविका उनके लिए निमित करवाई जिसका नाम रखा सिद्धार्थ। अच्युतेन्द्र ने भी आभियोगिक देवों द्वारा एक शिविका का निर्माण करवाया जो देखने में वैमानिक देवों के हन्द्र-विमान-सा था। अच्युतेन्द्र ने तब स्व-निमित शिविका को राजाश्रों द्वारा निमित शिविका में इस भाँति स्थापित करवा दी जिस प्रकार चंदन-काठ में अगुरु संस्थापित होता है। हंस जिस तरह पथ पर आरोहण करता है वैसे ही सम्भव स्वामी भी देवों की सहायता से शिविकास्थित सिंहासन पर आरूढ़ हुए। रथ के अश्रों की भाँति शिविका का आग्रभाग नरेन्द्रों ने उठाया, चनवात जिस प्रकार पृथ्वी को धारण करती है उसी प्रकार पीछे का भाग देवेन्द्रों ने उठाया। (स्लोक २६०-२७५)

मेघ की भाँति अङ्गु और वादित्र बजने लगे, गन्धवंगण कानों को अमृत-तुल्य लगे ऐसे गीत गाने लगे, अप्सराएँ विभिन्न अङ्ग-भङ्गिमा में नृत्य करने लगीं, चारण आदृति करने लगे, ब्राह्मण मन्त्र-पाठ करने लगे, कुलवृद्धाएँ मांगलिक गान गाने लगीं और अभिरमणियों भी गीत गाने लगीं। देवगण आगे-पीछे और दोनों पाँव में अश्व की भाँति दौड़ने लगे। पद-पद पर नाशिकों का अभिनन्दन ग्रहण करते और अपनी अमृत तुल्य दृष्टि से पृथ्वी को आनन्दित करते हुए प्रभु उदार दृष्टि से चारों ओर देखने लगे। देव उन्हें खेल बींज रहे थे, देव उनका छत्र पकड़े हुए थे। इस प्रकार स्वामी आवस्ती मगरी के सहस्राब्र वत में पहुँचे।

(स्लोक २७६-२८१)

आहार-प्रहण के लिए जिस प्रकार भयुर बृक्ष से नीचे उतरता है उसी प्रकार जगदगुह रत्न-जड़ित शिविका से नीचे उतरे। फिर शरीर पर धारण की हुई समस्त मालाएँ और घलझारों को उतार दिया। तभी इन्द्र ने उनके कन्धे पर देवदुष्य बस्त्र रखा। प्रग्रहण मास की पूर्णिमा को चन्द्र जब मृगशिरा नक्षत्र में था तब दिवस के अन्तिम प्रहर में प्रभु ने दो दिनों के उपवास के पश्चात् पूर्वजित आख्य की तरह मस्तक के केशों को उत्पाटित किया। उन केशों को इन्द्र ने अपने उत्तरीय में प्रहण किया और तत्काल यज्ञावशेष की तरह उन्हें क्षीर-समुद्र में निक्षेप कर दिया। हार-रक्षक की भाँति उन्होंने हाथ के इशारे से देव, असुर व मनुष्यों द्वारा होने वाले शब्दों को बन्द करवा दिया। (श्लोक २८२-२८७)

'मैं समस्त प्रकार के सावध कर्मों का परित्याग करता हूँ' कहकर सम्भव स्वामी ने देवादि सभी के सम्मुख चारित्र प्रहण कर लिया। तभी उन्हें केवल ज्ञान की अमानत की भाँति मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय नरकाग्नि में सर्वदा दुःख भोग करने वाले नारकी जीवों को भी मुहूर्त भर के लिए शान्ति प्राप्त हुई। एक हजार राजाओं ने अपने राज्य को तृणवत् त्याग कर प्रभु के साथ दीक्षा प्रहण कर ली। (श्लोक २८८-२९१)

तब इन्द्र ने करबद्ध होकर उनकी बन्दना की और भक्तिप्लुत कण्ठ से उनकी स्तुति करने लगे—

‘हे चार ज्ञान के धारी, चार प्रकार के धर्म के प्रवर्तक, चार प्रकार की गतियों के जीवों को आनन्द प्रदानकारी, आपकी जय हो। हे तीर्थपति, हे त्रिलोकनाथ, भरत क्षेत्र के जिन-जिन स्थानों पर ज़म्म तीर्थ की भाँति आप विचरण करेंगे वे सभी स्थान धन्य हैं। आप इस पाथिक देह में रहते हुए भी पाथिक देह से अस्पृष्ट हैं। कीचड़ में उत्पन्न होने पर भी कमल कभी कर्दम-लिप्स नहीं होता। आपके चार महावित, जो तलवार की भाँति कर्म कर छेदन करते हैं, उनकी जय हो। यद्यपि आप अनुराग-मुक्त हैं, फिर भी आप अधिकारी हैं, यद्यपि दस्तिरहीन हैं, फिर भी अनन्त शक्ति के अधिकारी हैं, यद्यपि पराक्रमगाली हैं, फिर भी सर्वदा शान्त हैं, यद्यपि साहसी हैं फिर भी संसार के भयों से भीत हैं। हे मुक्तिदाता, सर्वत्र विचरणकारी, आप जिसके घर पारणा करेंगे

वह मानव होने पर भी देवों के लिए पूज्य है। हे भगवन्, प्रापके दर्शन मेरे लिए जो सर्वदा वासना-मुक्त नहीं है, रोग-प्रस्त के लिए धीषधि की भाँति उपकारी है। हे अलोकनाथ, मेरा मन सदैव प्रापमें संलग्न रहता है मानो वह उसमें मिलाई किया गया है, बैठाया गया है, जोड़ा गया है इस भाँति है।' (स्लोक २९२-३००)

इस तरह भगवान् की स्तुति कर उनके समीप रहने की इच्छा प्रकट कर शक्ति और अन्यान्य इन्द्रु देवों सहित अपने-अपने आवास को लौट गए। (स्लोक ३०१)

दूसरे दिन पारने के लिए प्रभु उसी नगरी के राजा सुरेन्द्रदत्त के घर गए। प्रभु को आते देख राजा सुरेन्द्रदत्त उठकर खड़े हो गए, बन्दना की और 'प्रभु, ग्रहण करें' कहकर थीराज्ञ प्रभु को बहराया। प्रभु ने उस निर्दोष अचित्त ग्रहणयोग्य आहार को अपने कार-पाल में ग्रहण किया। रस्तूर्मा आहार-नाहार में विस्पृह प्रभु ने मात्र उतना ही ग्रहण किया जितना जीवन धारण के लिए प्रयोजनीय था। इस दान को देने से दान देने वाले का भाग्योदय हो गया। आकाश में दिनगजों के बृहत्तिनाद की भाँति देव-दुःखभि बजने लगी। दूटी हुई माला से जिस प्रकार भणियाँ गिर पड़ती हैं उसी भाँति आकाश से रत्न-राजि की वर्षा हुई। नन्दनवन के सुरभियुक्त पुष्प भी बरसे। देव जैसे एक सूक्ष्म में ग्रहित हो इस भाँति अपने उत्तरीय को लहरा कर 'अहो दान ! अहो दान !' बोलने लगे। सुरेन्द्रदत्त ने जिस स्थान पर प्रभु ने पारण किया था, रत्न-जड़ित सुवर्ण पादपीठ का निर्माण करवाया और उसी पादपीठ की प्रभु के साक्षात् चरणों की तरह सुबह, मध्याह्न एवं सायं पूजा करने लगा। बिना पूजा किए वह किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करता। (३०२-३१०)

उस स्थान का परित्याग कर प्रभु चौदह वर्षों तक प्रदर्शन करते रहे। उस समय वे ग्राम, नदीपथ और स्थलपथ युक्त ग्राम, नगर, खान, दरिद्र ग्राम, प्राकारों से विरा नगर, विच्छिन्न नगर, नदीपथ और स्थलपथ युक्त नगर और अरण्य में अण्गार रूप में विभिन्न भ्रतों से संयत होकर, बाईस परिष्ठों को सहन करते हुए, तीन गुप्ति, पाँच समिति धारण कर, मौनावलम्बी होकर, निर्भय, दृढ़-प्रलिङ्ग और नासाय हृष्टि धारे हुए विचरते रहे।

(स्लोक ३११-३१३)

तदुपरान्त प्रभु प्रतिमा धारण कर सहस्राभवन के शालवृक्ष के नीचे शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद में अवस्थित हुए। जब वे ध्यान में अवस्थित थे वृक्ष के शुष्क पत्तों की तरह चारों धातों कर्म झड़ पड़े। कात्तिक कृष्णा पंचमी के दिन जबकि चन्द्र मृगशिरा नक्षत्र में था तब बेले की तपस्या में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अब वे भूत, भविष्य, वर्तमान को देखने लगे। उस समय नारकी जीवों ने भी एक मुहूर्त के लिए परमाधार्मिक स्थान और एक दूसरे के द्वारा उत्त्वं तुःखों को भूलकर शान्ति प्राप्त की। देव और असुरों के समस्त इन्द्रों के आसन कम्पायमान होने से प्रभु के समवसरण उत्सव का उद्घापन करने वहाँ उपस्थित हुए।

(इति ३१४-३१५)

एक योजन परिमाण भूमि को वायु कुमार देवों ने तीव्र वायु द्वारा परिष्कृत कर दिया। मेघकुमार देवों ने वारि-वर्षण कर समवसरण के लिए उस भूमि को मार्जित किया। व्यंतर देवों ने उस भूमि को रत्न और सुवर्ण जड़ित शिलाओं से आवृत्त कर उस पर पंचवर्णीय पुष्पों की वर्षा की। उन्होंने चारों दिशाओं की प्रत्येक दिशा में छत्र, पताका, स्तम्भ मकर-मुख आदि से सुशोभित चार तोरण स्थापित किए। भवनपति देवों ने मध्य भाग में रत्न-जड़ित एक वेदी का निर्माण किया, जिसके चारों ओर स्वर्ण शिखर युक्त रौप्य प्राकार का भी निर्माण किया। ज्योतिष्क देवों ने रत्न-शिखर युक्त सुवर्ण की एक मध्य प्राकार निर्मित की मानो वह धरती रूपी वृष्टि की मेखला हो। तदुपरान्त वैमानिक देवों ने हीरों जड़ी रत्नों की ऊर्ध्व प्राकार निर्मित की। प्रत्येक प्राकार में चार अलंकृत द्वार रखे गए। द्वितीय प्राकार के मध्य में उत्तर-पूर्व की ओर एक वेदी का निर्माण किया। ऊर्ध्व प्राकार के मध्य स्थान में व्यंतर देवों ने दो कोस और एक सौ आठ धनुष ऊंचे एक चैत्य वृक्ष का निर्माण किया। चैत्य वृक्ष के नीचे रत्न खचित वेदी पर उन्होंने एक मंच बनाया। और इसके ठीक बीच में पूर्वभिमुख पाद-पीठ सहित रत्न-जड़ित एक सिहासन स्थापित किया। उस मंच पर तीन इवेत छत्र स्थापित किए। दोनों ओर दो यक्ष चन्द्रिका-से शुश्र इवेत चैत्य वृक्ष कर स्थित हो गए। समवसरण के सम्मुख तीर्थपति धर्म-चक्रवर्ती हैं यह समझाने के लिए व्यंतर देवों ने एक उज्ज्वल धर्मचक्र स्थापित किया।

(इति ३२०-३३०)

देवताओं द्वारा परिवृत होकर देवताओं द्वारा ही संचालित नौ स्वर्णकमलों पर पैर रखते हुए सुबह के समय भगवान् ने पूर्व द्वार से समवसरण में प्रवेश किया और चैत्य बृक्ष को तीन प्रदक्षिणा दी। तदुपरान्त 'नमो तित्वाय' कहकर मंच पर रखे सिंहासन पर पूर्वाभिमुण द्वारा दैठ गए। भगवान् जी शक्ति से व्यंतर देवों ने प्रभु की तीन मूर्तियों का निर्माण कर अन्वय तीनों और रत्न-जड़ित सिंहासन पर स्थापित कर दो। भगवान् के पीछे भामंडल था। सम्मुख इन्द्रध्वज और आकाश में देव-दुर्दुभि बज रही थी।

(श्लोक ३३१-३३५)

साधुगण ने पूर्व द्वार से प्रवेश कर अर्हत को प्रणाम किया और बैठ गए। साक्षियाँ और वैमानिक देव-पत्नियाँ दक्षिण पूर्व कोण में जाकर खड़ी हो गयीं। उत्तर द्वार से प्रवेश कर वैमानिक देव, मनुष्य और देवियाँ अर्हत की बन्दना कर यथाक्रम उत्तर-पूर्व के कोण में जाकर खड़ी हो गयीं। पश्चिम द्वार से प्रवेश कर भवनपति, ज्योतिष्क और व्यंतर देव अर्हत की बन्दना कर यथाक्रम उत्तर-पश्चिम कोण में जाकर खड़े हो गए। भवनपति, ज्योतिष्क और व्यंतर देवों को देवियाँ, दक्षिण द्वार से प्रवेश कर अर्हत प्रभु की बन्दना की ओर दक्षिण-पश्चिम कोण में जाकर खड़ी हो गयीं। इस प्रकार प्रथम प्राकार के मध्य चतुर्विध संघ, द्वितीय प्राकार के मध्य जीव-जन्म और तृतीय प्राकार के मध्य वाहन रूप में आगत पशु अवस्थित हो गए।

(श्लोक ३३६-३४०)

शक्ति भगवान् को बन्दन कर विनम्रतापूर्वक भक्तिभाव से करबद्ध बने निम्न स्तुति करने लगे :

'भगवन्, आप आयाचित सहायकारी हैं, अकारण कारणिक, प्रार्थित न होने पर भी कृपा करने वाले, ज्ञानी के लिए भी आत्मीय तुल्य हैं। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूं, मुझे शरण में लीजिए। आपका मन तैलाक्त नहीं होने पर भी स्निग्ध है, वाणी माजित न होने पर भी मधुर है, चारिक्र बिना धुला होने पर भी कलंकहीन है। आपने इच्छामात्र से कर्म के वक्र कंटकों को नष्ट कर डाला—जबकि आप दुर्दम योद्धा नहीं हैं, मात्र श्रमण हैं, शांत और समभावापन्न हैं। आपको नमस्कार! आप जन्म से मुक्त हैं, व्याधि से मुक्त हैं, नरक के कारण राग-द्वेष से मुक्त और पवित्र हैं। मैं

आपसे फल के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ। आप कल्प वृक्ष तुल्य हैं—कभी विनष्ट नहीं होने वाला आपका फल जीवन को शाश्वत बना देता है। हे जिन, आप राम-द्वेष से मुक्त कारणिक समदर्शी शरण्य और जगत के रक्षक हैं। भूत्य न होने पर भी मैं आपका भूत्य हूँ। मैंने आपको अपनी आत्मा दे डाली है कारण आप अरक्षित होने पर भी रत्नों के निधान हैं, घेरे न रहने पर भी कल्पवृक्ष हैं, अचिन्त्य भाव-रत्न के अधिकारी हैं। मैं ध्यान रूपी फल से शून्य हूँ। आप उस फल के मूल्तं-रूप हैं। मैं अज्ञानी हूँ। क्या करना होगा, नहीं जानता। आप मुझ पर दया करिए।' (श्लोक ३४१-३४९)

इस प्रकार स्तुति कर शक्ति के आसन ग्रहण कर लेने पर भगवान् सम्भवनाथ ने जगत-कल्याण के लिए यह उपदेश दिया :

'इस संसार की समस्त वस्तुएँ ही अनित्य हैं, नाशवान हैं किर भी प्राथमिक मधुरता के कारण जीव उनमें मूर्च्छित हो जाता है। संसार के जीवों के अपनी ओर से, दूसरों की ओर से, चारों ओर से विपत्ति ही विपत्ति आती रहती है। वे कृतान्तों के दाँतों के मध्य धृत होकर काल के मुख-बिंबर में निवास करते हैं। अनित्यता जबकि वज्र से हड़ एवं कठोर शरीर को भी जर्जित कर देती है तब कदली वृक्ष से कोमलतनु मनुष्यों का तो कहना ही क्या? यदि कोई निःसार और नाशवान शरीर को अविनाशी समझता है तब तो उसका प्रयत्न घास-फूस द्वारा निर्मित मनुष्यों की अविनाशी समझने जैसा ही है जो कि आंधी-बर्षा में गल जाता है। व्याघ्र रूपी काल के मुख में पकड़े हुए मनुष्य की मन्त्र-तन्त्र औषधि एवं देव-दानवों की कोई भी शक्ति रक्षा नहीं कर सकती। मनुष्य की उम्र जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वार्द्धक्य उसे निगलने लगता है और वह मृत्यु के निकट आ जाता है। इस रूप में भनुष्य-जन्म को विकार है।' (श्लोक ३५०-३५६)

'मनुष्य यदि कभी यह सोचे कि वह काल रूपी कृतान्त के अधीन है तो उसकी हचि आहार-ग्रहण में भी नहीं रहेगी, पाप कार्य करना तो दूर की बात है। जल में जैसे बुदबुदे उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य देह भी उत्पन्न होती है, नष्ट हो जाती है। काल का तो स्वभाव ही नष्ट करना है। वह धनाद्यथ या निर्धन, राजा या रंक, ज्ञानी या मूर्ख, सज्जन या दुर्जन का कोई भेद नहीं

करता। काल न पाप का निरादर और पुण्य का आदर करता है। दावानल जिस प्रकार समस्त अरण्य को जला डालता है काल भी उसी प्रकार सब कुछ नष्ट कर डालता है। यदि कहीं किसी कुशास्त्र में लिखा भी हो कि इस देह को अमर और स्थायी बनाया जा सकता है तो भी उस पर विश्वास रखना उचित नहीं है। कोई देवेन्द्रादि सुमेरु पर्वत को दण्ड और पृथ्वी को छल करने में समर्थ हैं वे भी मृत्यु से बचने और बचाने में असमर्थ हैं। सामान्य कीट से लेकर वैभवशाली हन्द्र पर्यन्त सब पर यमराज का शासन समान हृप से अव्याहन है। ऐसी अवस्था में काल को धोखा देना कोई बुद्धिमान व्यक्ति सोच नहीं सकता। कभी किसी ने अपने पूर्व पुरुषों को कहीं अमर होते देखा हो ऐसा नहीं पाया गया। फिर भी काल को छलने की बात संदेहास्पद है।' (श्लोक ३५७-३६४)

'यह समझना है कि यौवन भी अनित्य है, वृद्धावस्था यौवन के रूप और सौन्दर्य का हरण कर लेती है। यौवन में सुन्दर लड़कियाँ जिसे चाहती हैं वार्षक्य में वे ही उससे घृणा कर उसका परित्याग कर देती हैं। अनेक कष्टों से जिस धन का संग्रह किया जाता है, उपभोग न कर संचय किया जाता है, धनवानों का वह धन भी मुहूर्तमात्र में नष्ट हो जाता है। जो धन देखते-देखते नष्ट हो जाता है उसका तो कहना ही क्या? वह धन भी विद्युत और जल-बुद्धुदों की तरह ही धण-भंगुर है। बन्धु-बान्धव, आत्मीय परिजनों के साथ मिलन भी अनित्य है कारण मृत्यु, स्थान-परिवर्तन आदि के द्वारा वह भी समाप्त हो जाता है। जो नित्य अनित्यता की भावना करता है वह अपने प्रिय पुत्र को मृत्यु पर भी शोक नहीं करता और वह मुख्य प्राणी जो नित्यता का आग्रह करता है वही घर की एक दीवार टूट कर गिर जाने पर भी रो पड़ता है। शरीर, यौवन धन एवं कुटुम्बादि ही अनित्य नहीं है वृत्ति चर-अचर संसार भी अनित्य है। सब कुछ को अनित्य जानकर जो आत्मार्थी परिप्रह का त्याग करता है वह नित्यानन्दमय परम पद को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।' (श्लोक ३६५-३७२)

भगवान् की देशना श्रवण कर तत्काल कई स्त्री-पुरुषों ने उनसे दीक्षा प्रहण कर ली। तदुपरात्र प्रभु ने उत्पाद-व्यय-धौक्य इस त्रिपदी की चाह आदि उन-उन व्यक्तियों को जिनके गणधर

होने के कर्त्ता के शिष्य ही। उनके एक सौ दो भगवारों ने उस त्रिपदी के अनुसार बारह अङ्ग और चौदह पूर्वों की रखना की। शक द्वारा लाई गई बासक्षेप ग्रहण कर उस बासक्षेप को उन पर निष्क्रिय कर भगवान् ने द्रव्यादि के माध्यम से वह शिक्षा गण को देने का आदेश दिया। देवों ने भी दुन्दुभि वाच्य के साथ उन पर बासक्षेप किया। तब गणधरमण भगवान् के मुख से देशभासुनने की प्रतीक्षा करने लगे। भगवान् पुनः उसी दिव्य सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए और उन्हें पालनीय आचार की शिक्षा दी। प्रहर के अन्त में भगवान् ने देशना देनी बन्द कर दी। राज प्रासाद से चार प्रस्थ सुगन्धित अज्ञ की बलि लाई गई। उसे आकाश में उछाला गया। देवों ने उसे गिरने से पूर्व ही ग्रहण कर लिया। जो गिरा उसका आधा राजाओं ने और शेष साधारण मानवों ने ग्रहण कर लिया। तदुपरान्त निलोकनाथ उठकर खड़े हुए और क्लान्त न होने पर भी उत्तर द्वार से निकलकर मञ्च पर विश्राम करने लगे क्योंकि ऐसा ही नियम है।

(श्लोक ३७३-३८१)

भगवान् ने पादपीठ पर बैठकर गणधरों में प्रमुख चाह स्वामी ने भगवान् की शक्ति से अज्ञान का नाश करने वाला उपदेश दिया। द्वितीय प्रहर के अन्त में जैसे शनि के मध्याह्न के बाद पाठ बन्द किया जाता है, उपदेश देना बन्द कर दिया। तब देवगण, असुर एवं राजादि सभी प्रभु की बन्दना कर उत्सव के अन्त में जिस प्रकार लोग लौट जाते हैं उसी प्रकार आनन्दितमना बने अपने-अपने निवास को लौट गए।

(श्लोक ३८२-३८४)

इस प्रकार तीर्थ स्थापित होने पर निमुख नामक यक्ष प्रकट हुआ। उसके तीन मुख, तीन नेत्र और छह हाथ थे। उसको देह का रंग काला और वाहन मयूर था। दो दाहिने हाथों में पाश और दण्ड था। तृतीय हाथ वरद मुद्रा में था। बायें तीन हाथों में एक में नींबू बिजोरा, दूसरे में पुष्पमाला और तीसरे में अक्षमाला थी। इसी भाँति उनके तीर्थ में दुरितारि नामक यक्षिणी उत्पन्न हुई। उसके चार हाथ थे। वेह का चर्ण सफेद और वाहन भेड़ था। दाहिने हाथों में एक वरद मुद्रा में और दूसरे में अक्षमाला थी। बायें हाथों में एक में सर्प और दूसरा अभय मुद्रा में था। शासन देव और देवी त्रिमुख व दुरितारि अङ्ग-रक्षक की भाँति

सदैव भगवान् के साथ रहतीं ।

(श्लोक ३८५-३८९)

तदुपरान्त भगवान् चौबीस अतिशयों से सुशोभित और साधु-साधिवयों द्वारा परिवृत्त होकर अन्यत्र विहार कर गए । उनके शासन में दो लाख अमणि, तीन लाख छत्तीस हजार साधिवयों, इक्कीस हजार एक सौ पचास पूर्वधर, नी हजार छह सौ मनःपर्याय ज्ञानी, बारह हजार एक सौ पचास अवधिज्ञानी, पन्द्रह हजार केवल-ज्ञानी, दो सौ कम बीस हजार वैक्रिय लघिधारी, बारह हजार चादी, दो सौ मिन्यानवे हजार आवक, छह सौ छत्तीस हजार आविकाएँ थीं ।

(श्लोक ३९०-३९२)

केवलज्ञान धार्ति के पश्चात् चार पूर्वज्ञ और चौदह वर्ष कम एक लाख पूर्व तक सम्भव स्वामी ने विचरण किया । तत्पश्चात् सर्वज्ञ प्रभु ने अपना निर्वाण समय निकट जानकर अनुवर्ती अमणिों सहित सम्मेद शिखर पर पधारे । वहां आपने एक हजार मुनियों सहित पादपोषगमन अनशन ग्रहण किया । अमुरेन्द्र और देवेन्द्र भी भगवान् का मोक्षकाल निकट जानकर वहां आए और भक्तिभाव सहित त्रिलोकनाथ की सेवा करने लगे । पादपोषगमन अनशन के एक मास व्यतीत हो जाने पर पवंत की तरह स्थिर सम्भव स्वामी समस्त क्रियाओं का निरोध कर शेलेशीकरण ध्यान में स्थित हुए । चैत्र शुक्ला पञ्चमी को जब चन्द्र मुगशिरा नक्षत्र में था तब अनन्त चतुष्टय प्राप्त होकर प्रभु ने सिद्धलोक में गमन किया । इसी भाँति एक हजार मुनि भी भगवान् के अकलंक अवयव रूप में सिद्धलोक को प्राप्त हो गए ।

(श्लोक ३९३-४०२)

कुमारावस्था की ४५ लाख पूर्व, राजा रूप की ५४ लाख पूर्व और ४ पूर्वांग, छद्मस्थ अवस्था की ४ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व, इस प्रकार सब मिलाकर साठ लाख पूर्व की आयु भोगकर अजितनाथ स्वामी के निर्वाण के तीस लाख कोड़ सागरोपम के पश्चात् संभवनाथ स्वामी मोक्ष को प्राप्त हुए ।

(श्लोक ४०३-४०५)

तब इन्द्रों ने संभवनाथ स्वामी की देह को संस्कारित किया और अन्यान्य करणीय कर्म सम्पादित किए । प्रभु के ऊपर और नीचे के दांत उन्होंने परस्पर बांट लिए । अन्य देवों ने उनकी अस्थियों को संगृहीत किया । सभी इन्द्र अपने-अपने आवास को लौट गए और वहाँ मानवक स्तम्भों पर पूजा के लिए भगवान् की

अस्थि आदि रखी । तीर्थकरों का कौन सा अंश पूजनीय नहीं होता ।

(श्लोक ४०६-४०७)

प्रथम शर्त समाप्त

द्वितीय शर्त

पृथ्वी को आनन्द देने वाले धर्म के नन्दनवत् राजा सम्बर के पुत्र जिनेश्वर अभिनन्दन स्वामी की मैं स्तुति करता हूँ । तस्वज्ञान के असृत कुम्भ रूप, भव्यजनों की मोह निद्रा को भग करने वाले दिवालीक तुल्य भगवान् के दिव्य जीवन का अब मैं वर्णन करता हूँ ।

(श्लोक १-२)

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में ऐश्वर्य और सुख के निवास रूप मंगलावती नामक एक देश था । उस देश में पृथ्वी के शिरोमणि रूप, समुद्र की भाँति रत्नों के निवास स्थल, नगरी में रत्न तुल्या, रत्नमंजूषा नामक एक नगरी थी । उस नगरी में कुबेर-से ऐश्वर्यशाली, पवन की तरह शक्तिवान महाबल नाम के एक राजा थे । हिमवत पर्वत जिस प्रकार गंगा, सिंधु और रोहितास्या नदी से शोभित है वे भी उसी प्रकार राजकीय शक्ति—उत्साह, सन्मंवणा ऐश्वर्य और सैन्यदल की समृद्धि से सुशोभित थे । हस्तीशावक दंताधात से जिस प्रकार शब्दु को पराजित करता है वे भी उसी प्रकार चार प्रकार से शब्दु को शासित कर शासन करते थे । ज्ञान के आधार रूप में केवल महत् को ही देव, साधु को गुरु और जिन प्रवचन को धर्म मानते थे । उदारता, चारित, तप और भाव रूप धर्म में उन्हें आनन्द था । कारण महत् महत् ही होते हैं । (श्लोक ३०९)

राग रहित विवेकवान वे राजा संसार-भय से भीत और संसार की असारता को जानकर केवल शावक धर्म से ही सन्तुष्ट नहीं रहे विमलसूरि के चरणों में पाले हुए वृष की तरह चारित के साथ-साथ पंच महावत भी प्रहण किया । दुष्ट व्यक्ति यदि उनकी निन्दा करते तो वे दीर्घकाल तक हादिक सुख अनुभव करते । सज्जन व्यक्ति यदि उनकी उपासना करते तो वे मन-ही-मन लज्जित होते । दुष्ट व्यक्तियों द्वारा पीड़ित होने पर भी वे दुःखी नहीं होते, सज्जन व्यक्तियों द्वारा पूजे जाने पर भी गवित नहीं होते । मनोरम उद्यान में विचरण कर वे जिस प्रकार उत्फुल्ल नहीं होते उसी प्रकार सिंह

व्याधादिपूर्ण अरण्य में विचरण कर भयभीत नहीं होते। शीतकाल की रात्रि की भयानक सर्दी में भी प्रतिमा धारण कर आलान स्तम्भ की तरह बाहर ही अवस्थित रहते। सूर्य किरणों से उत्तप्त श्रीष्म-काल में धूप में तपस्या करने पर भी वे सूखते नहीं बल्कि अग्नि द्वारा परिशुद्ध स्वर्ण-से उज्ज्वल हो उठते। वर्षा अहन् में दोनों तरफ निरपद कर बृक्ष तले प्रतिमा धारण कर अवस्थित रहते। लोभी जिस प्रकार सम्पत्ति का संचय करता है उसी प्रकार उन्होंने सभी प्रकार के उपवास, एकावली, रत्नावली आदि बहुत बार पालन किए। बीस स्थानक के कई स्थानकों की उपासना कर उन्होंने तीर्थकर गोत्र-कर्म उपार्जन किया। इस प्रकार दीर्घकाल तक चारित्र-पालन कर मृत्यु के पश्चात् वे विजय-विमान में ऋद्धि सम्पन्न देव बने।

(श्लोक १०-२०)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में पुरन्दर की नगरी-सी अयोध्या नामक एक नगरी थी। उस नगरी में प्रत्येक गृह के रत्नजड़ित स्तम्भ में प्रतिबिम्बित होकर चन्द्र ने शाश्वत सुन्दर दर्पण का रूप प्राप्त किया था। वहाँ के प्रतिगृह के दृक्ष कल्पवृक्ष से लगते; कारण, वहाँ के भयूर खेल-खेल में एकावली हार खींच-खींच कर बिखेरते और उसमें से मणियाँ झर पड़तीं। पंक्तिबद्ध देवालयों से निकलती चन्द्रमणियों की आलोक धारा के कारण मन्दिर सरितायुक्त पर्वत-से लगते। प्रतिगृह की कीड़ावापियों पर कीड़ारत पुरुष और स्त्रियाँ शीर-सागर में कीड़ारत अप्सराओं को भी लज्जित करती थीं। गले तक जल में डूबी सुन्दर रमणियों के मुख-कमल से वे वापियाँ स्वर्ण-कमलों की माला द्वारा सर्वदा भूषित-सी लगतीं। नगर के बाहर की भूमि सघन और विस्तृत उद्यान से नवमेष्वाच्छादित पर्वत की अधित्यका-सी लगती, परिखायुक्त प्राकार, गंगा परिवृत अष्टापद से शोभित थे। हर मृह में स्वर्ग के कल्पवृक्ष-से देने की उत्सुख व्यक्ति सहज लक्ष्य थे; किन्तु याचक दुर्लभ थे अर्थात् पाए नहीं जाते थे।

(श्लोक २१-३०)

इक्षवाकु वंश रूप शीर-समुद्र के चन्द्रतुल्य, जिन्हें शत्रु की श्री देवियों ने भी स्व-पति रूप में चुन लिया है ऐसे संवर अयोध्या नगरी के राजा थे। कहणामय व्यक्ति की तलवार जिस प्रकार कोण से बाहर नहीं निकलती उसी प्रकार समग्र धरणी के एकछन्द्र राजा का

ऐश्वर्य उनके कोष से बाहर नहीं निकलता था। उन दीर्घबाहु महावीरवान राजा ने उत्तर आकाश के एक दृढ़ वर्षी तरह पह हृष्टि एकछत के रूप में धारण की हुई थी। उन्होंने पृथ्वी को धारण कर रखा था नहीं तो दिविजय के लिए निकली उनकी विपुल सैन्यवाहिनी के पदभार से पृथ्वी शतधा विदीर्ण हो जाती। जब वे दूर-दूर देश से थी को आकृष्ट कर लाते तब उनके कमल होने पर भी उन्हें धर्म-शृंखला में आबद्ध कर रखते थे। अन्य राजाओं के राजदण्ड हरण कर लेने पर भी वे गवित नहीं हुए। नदियों के जल को प्रहण कर क्या समुद्र कभी गवित होता है? सर्वदा शान्त निलोधी और निराकुल मुनि की तरह वे धन और सम्पदा के लिए नहीं, धर्म के लिए शासन करते थे। प्रजा की रक्षा के लिए ही वे शत्रुओं का शमन करते थे किसी द्वेष के बशीभूत होकर नहीं। प्रजा के लिए जो श्रेय है वह तुलादण्ड की तरह स्वयं में धारण करते थे।

(श्लोक ३१-३९)

उच्चकुलजाता धर्मभावापना अन्तःपुर की अलंकारस्वरूपा सिद्धार्थी नामक उनकी एक पत्ती थी। मन्थरगति के कारण मधुर-भाषिणी वह रूपवती राजहंसिनी-सी लगती थी। उसकी सुन्दर आँखें, मुख, हाथ, पैर धर्म और सौन्दर्य की सरिता में कमल-बन से लगती थे। उसके कमल नेत्रों-का भीनरी भाग इन्द्रनील-सा, दाँत मुक्ता-से, होठ प्रवाल-से, नख लोहितक-से, अंग-प्रत्यंग सुवर्ण-से, और देह रत्नों द्वारा निर्मित-सी लगती थी। वह नगरियों में दिनीता, विद्या में रोहिणी, नदियों में मन्दाकिनी-सी व भहीयसी भहिलाओं में श्रेष्ठा थी। वह पति के प्रति अनुराग के बादतरी होने पर भी कभी कोष-प्रदर्शन नहीं करती, कारण साध्वी स्त्रियाँ धार्मिक व्रतों की तरह वैवाहिक प्रतिज्ञा-भंग को भी भय की दृष्टि से देखती हैं। उनके प्रति राजा का प्रेम भी नील की तरह छल-रहित था। बिना धर्म का लंघन किए अहंकार शून्य वे दम्पत्ती सांसारिक सुखों का भोग करते थे।

(श्लोक ४०-४८)

उधर महाबल के जीव ने विजय विमान के आनन्द में तीनों सागरोपम का रावण्यु व्यतीत किया। बैशाख शुक्ला चतुर्थी को चंद्र जब अभिजित नक्षत्र में आया तब वह विजय विमान से च्युत होकर रानी सिद्धार्थी के गर्भ में अवतरित हुआ। उस समय वह तीन ज्ञान

का धारक था। उस समय पृथ्वी पर सर्वंत्र एक आलोक दीप्ति प्रसारित हो गई। नारकी जीवों ने भी मुहूर्त भर के लिए आनन्द का अनुभव किया।

(श्लोक ४९-५१)

रात्रि के चतुर्थ याम में सिद्धार्था रानी ने सुख-शय्या पर सोते हुए चौदह महास्वप्न देखे: चार दन्त विशिष्ट इवेत हाथी, जूही-सा इवेत वृषभ, व्यादित मुख सिंह, अभिषिक्तमाना लक्ष्मी, पञ्चवर्णीय पुण्यमाल्य, पूर्ण चन्द्र, उज्ज्वल सूर्य, घण्टिकायुक्त ध्वज, स्वर्ण का पूर्ण कुम्भ, पद्म सरोवर, तरंगित समुद्र, देवविमान, रत्न-राशि और निधूभ अपिन।

(श्लोक ५२-५६)

जागने पर रानी ने स्वप्नों को राजा के सम्मुख निवेदित किया। सुनकर राजा बोले—‘देवी, तुम्हारे स्वप्नों से लगता है तुम त्रिलोकनाथ पुत्र को जन्म दोगी।’ इन्द्र ने भी आकर ऐसा कहा—‘देवी, आप जिस गुल को जन्म देंगी वह चतुर्थ तीर्थङ्कर होगा।’ रात्रि का शेष भाग रानी ने निद्रा-रहित रहकर बिताया। पद्म-कोष के बीज की तरह वह भ्रूण उनके गर्भ में गोपनीय रूप में बढ़िगत होने लगा। देवी सिद्धार्था उस गर्भ को सहज रूप में बहन करती थी। सचमुच ही ऐसे जीवों का अवतरण पृथ्वी के आनन्द के लिए ही होता है। नौ मास साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर माघ मास शुक्लपक्ष में चन्द्र जब अभिजित नक्षत्र में था देवी सिद्धार्था ने सहज भाव से मर्कट लांछनयुक्त एक पुत्र को जन्म दिया। उसकी देह का रंग सुवर्ण-सा और दीप्ति सूर्य-सी थी। उसी समय तीनों लोक में एक आलोक व्याप्त हो गया एवं नारकी जीवों को भी मुहूर्त भर के लिए आनन्द प्राप्त हुआ।

(श्लोक ५७-६४)

स्व-स्व-निवास से ५६ दिक्कुमारियां आई और प्रसूति एवं पुत्र के जन्म-कल्याणक का करणीय-कार्य यथाविधि सम्पन्न किया। सिंहासन कम्पित होने पर अहंत् जन्म को अवगत कर शक्त देवों सहित पालक विमान में वहाँ आए। विमान से उतर कर प्रभु के घर में प्रवेश किया और तीर्थङ्कर एवं तीर्थङ्कर-माता की वंदना की। अवस्वापिनी निद्रा में माता को निद्रित कर प्रभु की प्रतिकृति उनके निकट रख शक्त ने पांच रूप धारण किए। एक रूप से उन्होंने प्रभु को गोद लिया। दूसरे से छब्ब धारण किया। अन्य दो रूपों से चैंचर डुलाने लगे और शेष एक रूप में बज्ज हाथ में लेकर नूल्य

करते हुए प्रभु के लागे चलने लगे। मुहूर्त भर में शक अतिपांडु-
कवला शिला पर जा पहुंचे और प्रभु को गोद में लिए हो सिंहासन
पर बैठ गए। तत्यश्चात् अच्युतादि लेसठ इन्द्र भी सपरिवार वहाँ
आए और यथोचित स्नानाभिषेक किया। ईशानेन्द्र ने भी पांच
रूप धारण कर एक रूप से प्रभु को गोद में लिया, दूसरे से
छळ धारण किया, तीसरे-चौथे रूप में चैंवर डुलाने लगे, पांचवें रूप
में बज्र हाथ में लिए उनके सम्मुख खड़े हो गए। शक ने चारों
दिशाओं में स्फटिक के चार वृषभों का निर्माण किया और उनके
शृङ्गों से निर्गत जल से प्रभु को स्नान करवाया। स्नानाभिषेक के
पश्चात् शक ने वंदना की एवं वस्त्रालंकारों से उन्हें भूषित कर हाथ
जोड़कर उनके सम्मुख इस प्रकार स्तुति करने लगे : (स्लोक ६५ ७४)

हे भगवन्, हे चतुर्थ तीर्थद्वार, कालचक के चतुर्थ आरे के
भास्कर, चातुर्थमि धर्म प्रकाशक आपकी जय हो। दीर्घ दिनों के
पश्चात् आप जैसे तीर्थपति को प्राप्त कर विवेकहरणकारी मिथ्या
द्वारा पृथ्वी अब आकाश नहीं होगी। आपके पादपीठ पर न्यस्त
मेरे मस्तक पर पुण्य-पणिका रूप आपकी चरणधूलि गिरे। मेरी
दृष्टि आपमें संलग्न रहे। जो दर्शनीय नहीं है ऐसी वस्तुओं के
दर्शन से मेरे जो नेत्र अपविल हो गए हैं वे मुहूर्त भर में आनन्द
के आंसुओं से धुल जाएँ। दीर्घ दिनों के पश्चात् आपके दर्शनों से
जो रोमांच हुआ है उससे अयोग्य वस्तु की दर्शन जनित जो स्मृति
मेरे मस्तक में थी वह दूर हो जाए। आपके मुख्यारविन्द के दर्शन
से मेरे नेत्र सदैव नृत्य करें, मेरे हाथ सदैव आपकी पूजा करें और
मेरे कर्ण हमेशा आपके गुणानुवादों का श्रवण करें। मेरे कण्ठ के
अवरुद्ध होने पर भी वह आपके गुणानुवाद के लिए तत्पर है।
आनन्द के कारण ही वह अवरुद्ध है, अन्य कारण से नहीं। मैं
आपका सेवक, दास और उपासक हूं। मैं अधम हूं। हे भगवन् !
ऐसा कहकर अब मैं निवृत्त होता हूं। (स्लोक ७५-८२)

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र ने पांच रूप धारण किए। एक
रूप में ईशानेन्द्र ने प्रभु को ग्रहण किया, दूसरे रूप से छळ धारण
किया, अन्य दो रूपों में चैंवर डुलाने लगे, शेष एक में बज्र हाथ
में लेकर मुहूर्त भर में स्वामी के घर पहुंच गए। वहाँ उन्होंने
अवस्वापिनी निद्रा और प्रभु की मूर्ति को हटा दिया एवं त्रिभुवन-

पति को माता के निकट यथाविधि सुला दिया। तदुपरात्म शक्र प्रभु के गृह से एवं अन्यात्य इत्यर्थोर्जत से उत्तरव रथान की लौट गए।

(श्लोक ८३-८५)

दूसरे दिन सुबह राजा ने पुत्र का जन्मोत्सव किया जिससे समस्त प्रजा आनन्दित हो उठी। जिस दिन से वे गर्भ में आए थे उस दिन से परिवार, नगर और राज्य आनन्दित हो रहा था अतः आपके माता-पिता ने आपका नाम रखा अभिनन्दन। रव-अंगुष्ठ से इन्द्र प्रदत्त अमृत-पान कर और स्वर्ग की अप्सराओं द्वारा पालित होकर वे क्रमशः बढ़े होने लगे। प्रभु ने अपने समवयवक देव और अमुर बालकों के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ा करते हुए बाल्यकाल को व्यतीत किया।

(श्लोक ८६-८९)

इसन्तकाल में जिस प्रकार उद्यान वृक्षों से सुशोभित होता है उसी प्रकार अभिनन्दन स्वामी यौवन प्राप्त कर शोभान्वित होने लगे। उनकी देह ३५० धनुष दीर्घ थी और भुजाएं आजानुलम्बित थीं। इससे वे श्रीदेवी के भूला सहित उच्चत वृक्ष से लगते थे। उनके कपोल सुन्दर थे। ललाट अद्वैचन्द्र-सा और मुख पूर्णचन्द्र की शोभा को अपहरण करने वाला था। उनका वक्षदेश सुवर्ण-शिला-सा था। सहस्र थे उन्हें, कटि झीण, पैर हरिण-से एवं पदतल कूमकुति थे।

(श्लोक ९०-९३)

यद्यपि उन्हें संसार से वैराग्य था फिर भी भोगकर्म अभी भी अवशेष हैं ऐसा जानकार माता-पिता की इच्छा के अनुसार उन्होंने उच्च कुलजात राजकन्याओं के साथ विवाह किया। इन सुन्दर तरणियों के साथ वे इच्छा के मुताबिक प्रमोद उद्यान में, वापियों में, जलाशयों में, क्रीड़ा पर्वतों पर चन्द्र जैसे तारिकाओं सहित विहार करता है उसी प्रकार विहार करने लगे। जन्म से साढ़े बारह लाख पूर्व तक उन्होंने अहमिन्द्र की तरह आनन्द में निमज्जित होकर व्यतीत किया।

(श्लोक ९४-९६)

राजा संवर अभिनन्दन स्वामी को लिहासन पर बैठाकर स्वयं दीक्षित हो गए। उन्होंने एक गौव की भाँति राघसन पृथ्वी का शासन किया। जो त्रिलोक की रक्षा करने में समर्थ हैं उनके लिए एक राज्य का शासन है ही क्या? राजा रूप में अभिनन्दन स्वामी ने छत्तीस लाख पूर्व और आठ अंगों को अतिवाहित किया।

(श्लोक ९७-९९)

अब उनकी इच्छा दीक्षा ग्रहण करने की हुई तो लोकान्तिक देवों ने अमात्य की तरह उनके भनोभावों को जानकर उनसे निवेदन किया—‘आपके संसार-त्याग का समय हो गया है। हे भगवन्, दुस्तर संसार-समुद्र अतिक्रम करने के लिए आप तीर्थ स्थापित कीजिए।’ (श्लोक १००-१०१)

लोकान्तिक देवों के चले जाने के पश्चात् अभिनन्दन स्वामी ने बिना इच्छा या फलाकांक्षा के वर्षी दान देना प्रारम्भ किया। शक के आदेश से कुबेर द्वारा प्रेरित जूम्भक देवगण बार-बार अर्थ लाकर अभिनन्दन स्वामी को देने लगे। वर्षीदान समाप्त होने पर अभिनन्दन स्वामी का दीक्षा-महोत्सव चौमठ इन्द्रो द्वारा साढ़म्बर सम्पन्न हुआ। अभीष्ट गिर्धि के लिए स्नानाभिषेक के पश्चात् देवदत्त वस्त्र और अलंकारों से भूषित होकर अद्वै-सिद्धा नामक पालकी पर उन्होंने आरोहण किया। सम्मुख भाग मनुष्य और पीछे का भाग देवों द्वारा वाहित शिविका से वे सहस्राभ्रवत् उच्चान में पहुंचे। पालकी से उत्तरकर अभिनन्दन स्वामी ने वस्त्रालंकारों का त्याग किया और इन्द्र प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र कंधे पर रखा। साथ मास की शुब्ल द्वादशी को सन्ध्या के समय चन्द्र जब अभिजित नक्षत्र में था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् उन्होंने पंचमुष्ठि से केश उत्पाटित किया। शक ने उन केशों को अपने उत्तरीय में धारणकर ‘उसी मुहूर्त’ में क्षीर-सागर में निक्षेप कर दिया। शक द्वारा देव अमुर और मनुष्यकृत कौलाहल शान्त करने पर उन्होंने सामायिक उच्चारण कर चारित्र ग्रहण कर लिया। उसी मुहूर्त में उन्हें मनः पर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ और नारकी जीवों को भी मुहूर्त भर के लिए सुख का अनुभव हुआ। आपके साथ एक हजार राजाओं ने देह-मैल की भाँति अपने-अपने राज्यों का परित्याग कर मोह-नाशक शमण-दीक्षा ग्रहण कर ली। भगवान् को बन्दना कर प्रवासी जिस प्रकार वर्षकाल में घर लौट जाते हैं उसी प्रकार शक और अन्यान्य इन्द्र एवं उनके अनुचर अपने-अपने निवास की लौट गए। (श्लोक १०२-११३)

दूसरे दिन अयोध्या के राजा इन्द्रदत्त के घर प्रभु ने खीराश ग्रहण कर उपवास का पारणा किया। देवताओं ने आकाश से रत्न, पुष्प, वस्त्र और सुगन्धित जल की वर्षा की, दुन्दुभि बजाई। देव-

असुर, मनुष्यों ने महा आनन्द से प्रेरित होकर अहोदान-अहोदान की ध्वनि की । (श्लोक ११४-११६)

प्रभु के अन्यल विहार कर जाने पर जहाँ उन्होंने भिक्षा ग्रहण की थी वहाँ पूजा करने के लिए उन्होंने एक रत्नवेदी का निर्माण करवाया । अठारह वर्ष प्रभु ने छव्यस्थ अवस्था में व्रत पालन और उपसर्ग सहन करते हुए व्यतीत किए । (श्लोक ११७-११८)

एक दिन प्रब्रजन करते हुए वे सहस्राम्रवन उद्यान में आए और दो दिनों के उपवास के पश्चात् प्रियाल वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित हो गए । द्वितीय शुक्ल ध्यान के पश्चात् घाती कर्म क्षय हो जाने पर पौष शुक्ला चतुर्दशी को चन्द्र जब अभिजित नक्षत्र में था उन्हें निर्मल केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । उस समय एक मुहूर्त के लिए नारकी जीवों को भी आनन्द प्राप्त हुआ ।

(श्लोक ११९-१२१)

तत्पश्चात् चौसठ इन्द्र वहाँ आए और एक योजन परिमित समयसंरण की उठनी की । तेलों द्वारा संसाधित स्वर्ण-कमलों पर पैर रखते हुए प्रभु पूर्व द्वार से समीसरण में प्रविष्ट हुए । भगवान् ने दो गव्यूत और बीस धनुष परिमित चैत्य दृक्ष की परिक्रमा की । तदुपरान्त 'नमो तित्थाय' कहकर वे मञ्च के मध्य रखे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए । फिर चतुर्विध संघ, देव, असुर और मनुष्य यथायोग्य द्वार से प्रवेश कर यथायोग्य स्थान में बैठ गए ।

(श्लोक १२२-१२६)

तब शक्र प्रभु को बन्दना कर पुलकित देही बने निम्नलिखित स्तुति करने लगे :

'मन, वचन, काया को संयमित कर आपने अपने मन को जीता है । इन्द्रिय संयमित नहीं है, असंयमित भी नहीं है इसी सम्यक् ज्ञान से आपने उन पर विजय प्राप्त की है । अष्टांगिक योग तो इसी का परिणाम है । यह अन्यथा होगा भी कैसे ? कारण, शैशवावस्था में ही तो योग आपका स्वभाव था । लम्बे समय तक आप मिन्नों और इन्द्रिय विषयों से निरासक्त थे । अरुपी ध्यान भी आपमें स्वाभाविक ही था जो कि साधारण में नहीं पाया जाता । शक्र यदि किसी का उपकार भी करे तो जैसे वह आनन्दित नहीं होता उसी प्रकार भिन्न भी यदि आपका उपकार करे तब भी दुःखी

नहीं होते। आपमें सब कुछ अस्वाभाविक है। अनिष्टकारी भी लाभवान होता है, अनुगामी भी उपेक्षित। इस विपरीत व्यवहार के सम्पर्क में कौन प्रश्न कर सकता है? आपका मन तभी तो ध्यान की इस उच्चता में अवस्थित है कि मैं सुखी या सुखी नहीं हूँ, या दुःखी या दुःखी नहीं हूँ, ऐसे विचार नहीं आते। ध्याता, ध्यान और ध्येय सब एक आत्मा में मिल जाते हैं। ध्यान की ऐसी उच्च अवस्था को अन्य कैसे समझ सकते हैं?'' (श्लोक १२७-१३५)

शक्त की स्तवना के पश्चात् प्रभु ने अपनी देशना प्रारम्भ की जो कि एक योजना एक हुआई पड़ रही थी—

'यह संसार विपत्ति का आकर है। जो इसमें डूबा हुआ है उसकी माता-पिता, भाई-बच्चु या अन्य कोई रक्षा नहीं कर सकता। इन्द्र एवं उपेन्द्र भी जब मृत्यु के अधीन हैं तब मृत्यु के भय से 'भनुष्य की रक्षा कौन कर सकता है? माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-कन्या देखते ही रह जाते हैं और कर्म द्वारा प्रेरित अनाथ मनुष्य यम मंदिर चला जाता है। मोहाविष्ट मनुष्य परिवार में किसी की मृत्यु हो जाने पर दुःख करता है किन्तु भविष्य में उसका स्वयं का भी यही हाल होगा उस पर दुःख नहीं करता। दावाचिन दग्ध अरण्य में जिस प्रकार मृग-शावक को आश्रय नहीं है, उसी प्रकार दुःख वेदना से पीड़ित संसार में मनुष्य को भी कहीं आश्रय नहीं है। अष्टविष्ट आयुर्वेद, जीवनदायी उपकरण, मन्त्र-तन्त्र कोई भी उसे मृत्यु से नहीं बचा सकते। चतुर्विधि सैन्य द्वारा परिवृत्त और अस्त्र-शस्त्रों द्वारा रक्षित राजा को भी यम के अनुचर दीन-हीन की तरह जवर्दस्ती छीन ले जाते हैं। जिस भाँति गाएँ आदि पशु मृत्यु से बचने का उपाय नहीं जानते उसी प्रकार मनुष्य भी मृत्यु से बचने का उपाय नहीं जानता। बचने की इनकी मूर्खता ही कैसी है! जो लोग अस्त्र द्वारा अपने विरोधी को संसार से हटा देते हैं उन्हें ही यम की भृकुटि के समुख दाँतों में तृण धारण करना पड़ता है। यहाँ तक कि शुद्धाचारी मुनिगण भी जो अस्त्र की तरह ब्रत धारण करते हैं वे भी मृत्यु का प्रतिरोध नहीं कर सकते। हाय, यह संसार ही अरक्षित है—राजहीन, नायकहीन। कारण यमरूपी राक्षस इसे ग्रस लेता है। मृत्यु का प्रतिरोध तो धर्म भी नहीं कर सकता, केवल उत्तम गति प्राप्त करने में सहायक बनता है। गतिः धर्मः अर्थः कामः मोक्षः

में हमें चतुर्थ मोक्ष का ही अनुसरण करना चाहिए। मोक्ष जो कि अनन्त सुखमय है वह श्रामण्य द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

(श्लोक १३६-१४९)

यह उपदेश सुनकर अनेक नर-नारियों ने श्रामण्य ग्रहण किया। बज्रनाभ प्रभुख ११६ गणधर हुए। विधि के अनुसार उन्हें व्याख्यान और गण का आदेश देकर भगवान् ने उन्हें शासन विषयक उपदेश दिए। भगवान् ने उन्हें उत्थाद, व्यय, ध्रीव्य इस त्रिपदी के विषय में बतलाया। गणधरों ने इसी त्रिपदी के अनुसार द्वादशांगी की रचना की। एक प्रहर के पश्चात् देशना से प्रभु विरत हुए। तदुपरान्त राजा द्वारा लाई वलि को आकाश में उत्किष्ट किया गया जिसे देवता राजन्यवर्ग और साधारण मनुष्यों ने ग्रहण कर लिया। तदुपरान्त भगवान् वहीं से उठकर मध्य प्राकार के निकट यहाँ और उत्तर-पूर्व के कोण में रखे देवछन्द पर बैठ गए। तब प्रभु के पाद-पीठ पर उपवेशित होकर गणधर बज्रनाभ ने देशना दी। यथापि वे श्रुत केवली थे फिर भी लोगों ने उनकी देशना को केवली की भाँति ही सुना। वे द्वितीय प्रहर बीत जाने पर देशना से विरत हुए। तदुपरान्त अहंत् को वन्दना कर देवता आदि सभी स्व-स्व स्थान को छले गए।

(श्लोक १५०-१५६)

उस तीर्थ में भगवान् के शासनदेव यक्षेश्वर उत्पन्न हुए। उनकी देह का रंग काला था, वाहन हाथी था। उनके चार हाथ थे। दाहिने दोनों हाथों में विजोरा और अक्षमाला थी एवं बाएँ दोनों हाथों में नकुल और अंकुश थे। इसी भाँति पद्मासीन कृष्ण-वर्ण कालिका नामक शासन देवी उत्पन्न हुई। उनके दाहिने एक हाथ में पाण और अन्य हाथ वरदमुद्रा में था। बाएँ दोनों हाथों में था क्रमशः सर्प और अंकुश।

(श्लोक १५७-१६०)

तदुपरान्त प्रभु चौंतीस अतिशय सहित ग्राम, खान, नगर आदि स्थानों में विचरण करने लगे। उनके संघ में तीन सौ हजार सातु, छह सौ तीस हजार सात्त्वियाँ, अट्टानवें हजार अवधिज्ञानी, पन्द्रह सौ पूर्वज्ञानी, रथारह हजार छह सौ पचास मनःपर्यायज्ञानी, चौदह हजार केवली, उश्चीस हजार वैक्रिय शक्ति संपन्न, रथारह हजार बादी, दो सौ अट्टासी हजार श्रावक और पाँच सौ सत्ताइस हजार श्राविकाएँ थीं।

(श्लोक १६१-१६६)

केवलज्ञान के पश्चात् आठ अंग और अठारह वर्ष कम एक लाख पूर्व अवतीत हो जाने पर अपना निर्वाण समय निकट जानकर भगवान् सम्मेत शिखर पहुँचे। देवताओं सहित इन्द्र और राजन्यों द्वारा सेवित भगवान् ने एक हजार मुनियों सहित एक मास का उपवास किया। वैशाख महीने की शुक्ल अष्टमी को चन्द्रमा जब पूर्व नक्षत्र में आया तब भगवान् अभिनन्दन स्वामी और एक हजार मुनि शैलेशीकरण ध्यान से अधाती कर्म क्षयकर जहाँ से पुनः लौटना नहीं पड़े उस भोक्ष धाम को प्रवाण कर गए। भगवान् साढ़े बारह लाख पूर्व तक राजपुत्र रूप में, साढ़े छत्तीस लाख पूर्व और आठ अंग तक राजा रूप में, आठ अंग कम एक लाख पूर्व श्रमण रूप में, पचास लाख पूर्व तक पृथ्वी पर विचरण किया। उम्भव स्वामी के निर्वाण के दस लाख कोड़ सागर के पश्चात् अभिनन्दन स्वामी का निर्वाण हुआ। शक ने प्रभु और मुनियों की अन्त्येष्टि क्रियाएँ सम्पन्न की। देव और असुर उनकी दाढ़े, दांत और अस्थियाँ पूजा के लिए ले गए। नंदीश्वर द्वीप में शाश्वत जिनों की अष्टाहिंका महोत्सव कर इन्द्र और देवगण स्व-स्व विमान को और राजन्य वर्ग स्व-स्व महलों को लौट गए।

(श्लोक १६७-१७५)

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीय सर्ग

सम्यक् ज्ञान के मूल, दुस्तर संसार-सागर को अतिक्रम करने में सेतु रूप भगवान् सुमनिनाथ को मैं प्रणाम करता हूँ। उन्होंने के अनुग्रह से संसार के भव्य जीवों के आनन्द रूप वृक्ष को सिंचित करने में जो सक्षम हैं ऐसे आपके जीवन का मैं सम्यक् रूप से वर्णन करूँगा।

(श्लोक १-२)

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह को ऐश्वर्य से उज्ज्वल करने वाला पुष्कलावती नामक एक प्रदेश था। उसी प्रदेश में शङ्खपुर नामक एक नगर था जिसका आकाश मन्दिरों एवं महलों की पताकाओं से सुशोभित था। उनी नगर में विजय सेन नामक एक राजा राज्य करते थे। उनका भुजवल इतना प्रबल था कि सेना तो मात्र शोभा के लिए ही अवस्थित थी। उनके सुदर्शना नामक एक रानी थी जो

कि अनुच्छुरिकाओं में अलंकार रूप एवं चन्द्रकला की भाँति सुन्दर थी। कुसुमायुध जिस प्रकार रति के साथ कीड़ा करते हैं उसी प्रकार वे भी उसके साथ कीड़ा कर समय ब्यतीन करते थे।

(श्लोक ३-७)

एक दिन वे अनुच्छरों सहित उस उद्यान में गए जहाँ उत्सव मनाया जा रहा था अतः नगर के जभी अधिवासी समवेत हुए थे। रानी सुदर्शना भी मानो मूर्तिपत्री राज्यधी हों इस प्रकार हाथी पर चढ़कर छल-चामर सहित वहाँ गयीं? वहाँ उन्होंने दिवकन्या-सी सुन्दर बहुमूल्य अलंकारों से भूषित आठ तरणियों द्वारा सेवित एक स्त्री को देखा। अप्सराओं द्वारा जिस प्रकार शची सेवित होती है उसी प्रकार उसे सेवित होते देख रानी महान् भास्यर्थ में डूब गई।

(श्लोक ८-११)

यह कौन है और कौन है ने जो इसने भेदा कर रही हैं, जानने के लिए रानी सुदर्शना ने अपने अनुच्छरों को भेजा। अनुच्छरों ने पता लगाकर कहा—‘देवी, यह श्रेष्ठी नन्दीसेन की पत्नी सुलक्षणा हैं और वे कन्याएँ सुलक्षणा के दो पुत्रों की चार-चार पत्नियाँ हैं। वे अपनी सास की दासी की भाँति सेवा करने के लिए सदैव व्यग्र रहती हैं।’

(श्लोक १२-१४)

यह सुनकर रानी सुदर्शना सोचने लगी—पुत्रवती, यह श्रेष्ठी-पत्नी ही भास्यवती है कि उच्चकुलजात सुन्दरी ऐसी पुत्र-बधुएँ प्राप्त की हैं जो कि नाग-कन्याओं की तरह उसकी सेवा कर रही है। और मैं इसनी भास्यहीन हूँ कि न मेरे पुत्र हैं न पुत्र-बधुएँ। पति-बल्लभा होने पर भी मेरा यह जीवन व्यर्थ ही है। भास्यवती रमणियों की गोद में ही जिस प्रकार बृक्ष पर मर्कट खेलते रहते हैं उसी प्रकार लोधरेणु से लिपटे शिशु हाथ-मौव चलाते हुए खेलते रहते हैं। फलहीन द्रक्षालता की तरह, जलहीन पर्वत की। तरह पुत्रहीन रमणियाँ भी निन्दनीय हैं, दुःखों का कारण है। जिसने कभी पुत्र-जन्म, नामकरण, मुण्डन और उसका विवाहोत्सव महीं मनाया उसके अन्य उत्सवों से प्रयोजन ही क्या है? (श्लोक १५-२०)

ऐसा सोचती हुई शीत-जर्जर कमलिनी की तरह विषण्णवदना रानी सुदर्शना दुःखित हृदय लिए घर लौटी। उन्होंने परिचारिकाओं को दूर हटा दिया और निर्बल निष्ठन्द होकर बिछौते पर लेट गई।

मानो अस्वस्थ हो गई हैं। उन्होंने आहार ग्रहण नहीं किया, न बात की, न शृंगार किया। केवल अन्तःकरणहीन पुतली की तरह लेटी रही।

(श्लोक २९-२३)

परिचारिकाओं से यह खबर प्राप्त कर राजा उनके पास आए और स्नेहसिंक कण्ठ से बोले—‘देवी, जब मैं तुम्हारे बश में हूं तब तुम्हारी कौन-सी इच्छा पूरी नहीं हुई जो मरभूमि में आई हंसिनी की तरह तुम इतनी दुःखी हो? क्या तुम्हें किसी दुश्चिन्ता ने अधित किया है? या तुम अस्वस्थ हो? तुम्हारे दुःखों का क्या कारण है मुझे बताओ। तुम्हारे और मेरे मध्य गोपनीय तो कुछ भी नहीं है।’

(श्लोक २४-२७)

सुदर्शना दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई ध्वनद्व कण्ठ से बोली—स्वामिन्, जिस प्रकार कोई आपको अमान्य नहीं करता, आपके प्रताप से उसी प्रकार कोई मुझे भी अमान्य नहीं करता है। मुझे कोई दुश्चिन्ता भी नहीं है, न कोई व्याधि ही है। न मैंने कोई दुःखप्न देखा है न कोई अपशकुन हुआ है। अन्य कुछ भी ऐसा नहीं चटित हुआ है जो मुझे दुःखी करे। फिर भी एक विषय मुझे दुःखित कर रहा है कि जिसने पुत्र-मुख नहीं देखा उसका राजेश्वर्य वृथा है, सांसारिक सुख वृथा है, प्रेम भी वृथा है। धनियों का ऐश्वर्य देखकर दरिद्र जिस प्रकार लुब्ध हो जाता है उसी प्रकार पुत्रवान् रमणी को देखकर मैं भी लुब्ध हो गई हूं। संसार का समस्त सुख एक ओर रखें और दूसरी ओर पुत्र-प्राप्ति का सुख तो मेरे मन के तुलादण्ड पर जिधर पुत्र-प्राप्ति का सुख है उधर का ही पलड़ा भारी रहेगा। वन के हरिणादि जो कि शावकों द्वारा परिवृत्त हैं मुझ पुत्रहीना से बहुत अधिक सुखी हैं। उनका वह सामान्य सुख भी काम्य है।’

(श्लोक २८-३३)

तब राजा बोले—‘देवी, शान्त हो जाओ। मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ति के लिए देवों से प्रार्थना करूँगा। जो शक्ति द्वारा सम्पन्न नहीं होता, ज्ञानियों के लिए भी जो अलम्य है, जहाँ मन्त्र भी कार्य नहीं करते उसे अन्य प्रकार से तो प्राप्त ही कैसे किया जा सकता है किन्तु, मित्र भावापन्न देव उस कार्य को पूर्ण कर सकते हैं। अतः सभजो तुम्हारी इच्छा पूर्ण ही हो गई है। शोक का परित्याग करो। मैं पुत्र-प्राप्ति के लिए निराहार रहकर कुलदेवी की आराधना

कहूँगा ।

(श्लोक ३४-३१)

इस प्रकार रानी को सान्तवना देकर, पवित्र होकर पवित्र वस्त्र धारण कर वे राज-प्रामाद से कुलदेवी के मन्दिर में गए । वहाँ आकर यह संकल्प कर लिया कि जब तक मुझे पुत्र-प्राप्ति का वर नहीं मिलेगा, निराहार रहकर तब तक देवी की उपासना करता हुआ वहीं बैठा रहूँगा । छठे दिन देवी ने इससे होते राजा से कहा—‘वर माँगो ।’ राजा विजयमेन ने देवी को प्रणाम कर कहा—‘माँ, मुझे ऐसा पुत्र दो जो मनुष्यों में श्रेष्ठ हो ।’ देवी ने प्रत्युत्तर दिया—‘एक प्रधान देव स्वर्ग से च्युत हो रहा है वही तुम्हारा पुत्र होगा ।’ यह वर देवी अटप्पय हो गई । राजा ने देवी प्रदत्त इस मंगलमय बात को रानी से कहा । वज्रनाद से बलाका जिस प्रकार हर्षित होती है यह सुनकर रानी भी उसी प्रकार हर्षित हो गई ।

(श्लोक ३८-४३)

स्वर्ग से एक महाशक्तिशाली देव च्युत होकर शुचि-स्ताता रानी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ । रानी ने सुप्त अवस्था में एक केशरी सिंह को अपने मुख में प्रवेश करते देखा । इसकर रानी शाय्या पर उठ बैठी और राजा को स्वप्न की बात बताई । राजा बोले—‘कुलदेवी प्रदत्त वर रूपी वक्ष के फलस्वरूप इस स्वप्न से तुम्हारे सिंह-सा विक्रमशाली पुत्र होने का संकेत मिलता है ।’ स्वप्न की यह व्याख्या सुनकर रानी हर्षित हो गई और राजि का अवशिष्ट भाग पवित्र धर्मालोचना में व्यतीत किया । गंगाजल से जिस प्रकार स्वर्णकम्ल बढ़ित होता है वैसे ही रानी के गर्भ का अर्णुण दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा ।

(श्लोक ४४-४९)

एक दिन रानी ने अपने मन में उत्पन्न दोहृद के विषय में राजा को बताया । बोली—‘मैं समस्त प्राणियों को अभय देना चाहती हूँ । ग्राम-नगर में मैं हिंसा-निषिद्ध की घोषणा करवाना चाहती हूँ ।’ सुनकर राजा बोले—‘देवी, कुलदेवी के वर और स्वप्न से उद्भुत तुम्हारा दोहृद गर्भ की शक्ति के कारण कल्याणकारी है । गर्भ के जीव की महानुभावता के कारण ही ऐसा दोहृद उत्पन्न हुआ है । कुलदेवी के आदेश से की हुई कुल व्यवस्था कार्यकर होती है ।’ ऐसा कहकर राजा ने सभा को अभय दिया और नगर में ढोल पिटवाकर हिंसा-निषिद्ध की घोषणा करवा दी । दिव्य वाद्यों के

साथ-साथ अष्ट-प्रकारी पूजा सहित हर मन्दिर में अष्टाहिका
महोत्सव करवाया। (श्लोक ५०-५५)

दोहरे पूर्ति के आनन्द से आनन्दिता रानी का सुख पूर्ण चन्द्र
की तरह विकसित हो गया। लेता जिस प्रकार फल उत्पन्न करती
है, रानी ने भी उसी प्रकार यथासमय एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।
राजा ने चिन्तामणि रत्न की तरह हर याचक को प्राप्ति वस्तु दान
दी। चन्द्र जिस प्रकार समृद्ध को उच्छ्रवणित करता है उसी भाँति
आनन्दमना राजा ने पुत्र-जन्म का महामहोत्सव सम्पन्न किया।
तदुपरान्त पारिवारिक लोगों की तरह नगर निवासियों ने भी पुत्र-
जन्म का उत्सव किया। (श्लोक ५६-५८)

रानी के स्वप्नानुसार राजा ने पुत्र का नाम पुरुषसिंह रखा।
धातियों द्वारा पालित होकर माता-पिता और प्रजा की इच्छा के
अनुरूप नवजातक ऋभशः बड़ा होने लगा। चन्द्र जिस प्रकार कला
को प्राप्त करता है उसी प्रकार उसने भी समस्त कलाएँ अधिगत
कर लीं और कामदेव के कीड़ा उद्यान रूप यौवन को प्राप्त किया।
कुल, कला और सौन्दर्य में उसके अनुरूप आठ राज कन्याओं के
साथ उस दीर्घबाहु का विवाह कर दिया गया। देव जिस प्रकार
अप्सराओं के साहचर्य में सुख-भोग करते हैं वैसे ही पुरुषसिंह भी
आठों पत्नियों के साथ इन्द्रिय सुख भोग करने लगे।

(श्लोक ५९-६३)

इच्छानुरूप कीड़ा करने के लिए पुरुषसिंह एक दिन मानो
मृत्त बसन्त या स्वयं कामदेव हो इस प्रकार उद्यान में विहार करने
गया। वहाँ उसने प्रशान्तचित्त और रूप में अनंग को भी परास्त
करने वाले विनयनन्दन नामक एक मुनि को देखा। उन्हें देखते
समय लगा जैसे वह अमृत पान कर रहा है। अतः उसके नेत्र, हृदय
देह के अन्यान्य भाग आनन्द से उत्फुल्ल हो उठे। वह सोचने लगे।

(श्लोक ६४-६६)

गणिका के पास रहकर भी पत्नी के प्रति आनुगत्य रखना,
दस्युओं के पास रखी गई धरोहर का रक्षित रहना, स्वी राक्षसी के
समीप आत्म-प्रशान्ति को बनाए रखना उत्तम ब्रतों का हा परिणाम
है जिसके फलस्वरूप उन्होंने स्थिर यौवन और अप्रतिभ सौन्दर्य को
प्राप्त किया है जो कि हमारे भीतर आनन्द का उद्देश कर रहा है।

शीतकाल में शीत सहना पड़ता है, ग्रीष्मकाल में श्रीष्म का उत्ताप, वर्षकाल में मूसलाधार वर्षा के झोंके; किन्तु यौवन में केवल भोग ही किया जाए ऐसा नहीं। अतः भाग्यवश ही पुण्य कर्म के फलस्वरूप मैंने गुरु व माता-पिता की भाँति आनन्ददायी इनका साक्षात् दर्शन प्राप्त किया।

(श्लोक ६७-७१)

ऐसा स्वेच्छकर कुमार ने विषयन-दृढ़ मुनि के तिकट जाकर आनन्द चित्त से बन्दना की। मुनि ने भी आनन्द के अंकुर को उद्घमित करने के लिए वारितुल्य धर्मलाभ द्वारा उन्हें आनन्दित किया। कुमार उन्हें पुनः बन्दन कर बोला—‘इस अत्पवय में आपने महाव्रत ग्रहणकर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया है।’ इस उत्तर में आप विषय-सुख से विरक्त हुए हैं इसी से विषय-सुख रूपी किपाक-फल का भयावह परिणाम हम जान सकते हैं। इसके अनिरिक्त हम यह भी जान शए हैं कि संसार में किसी भी वस्तु का कोई भूल्य नहीं है। तभी आप जैसे व्यक्ति इन्हें परित्याग करने का प्रयत्न करते हैं। आप मुझे संसार को कैसे अतिक्रम किया जा सकता है इसका उपदेश दें। सार्थकाह जैसे पथिक को अपने पथपर ले जाता है आप भी हमें उसी प्रकार अपने पथ पर ले लें। परंतु पर पत्थर लाने गए हुए किसी को जिस प्रकार हीरा प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार इन्द्रिय सुख के लिए आये हुए मुझे आप जैसे महामुनि का साक्षात्कार हुआ।’

(श्लोक ७२-७६)

कुमार के द्वारा इस प्रकार अनुरुद्ध होकर कन्दपै शब्द उन महामुनि ने मेघमन्द स्वर में कुमार को उपदेश दिया : (श्लोक ७९)

‘भूत-प्रेत को बुलाने की क्षमता प्राप्त कर जिस प्रकार ओक्षागण उन्हें अपना दास बना लेते हैं उसी प्रकार मैंने तप के द्वारा मात्र के उत्स रूप यौवन-शक्ति और सौन्दर्य को शमित किया है। संसार-सागर को अबाध रूप में अतिक्रम करने में जिन-प्रवक्त यतिधर्म ही निर्भरयोग्य नौका है। संयम, सुनृत, शीच, अकिञ्चनत्व, तप, क्षान्ति, मार्दव, आर्जव और मुक्ति यही दस यतिधर्म हैं। संयम अर्थात् जीव-हिस्सा नहीं करना, सुनृत अर्थात् भूठ नहीं बोलना, शीच अर्थात् अदत्तादान ग्रहण नहीं करना, ग्रह्यचर्य अर्थात् नौ बुप्ति सहित इन्द्रिय संयम, अकिञ्चनता अर्थात् शरीर के प्रति अनादर। तप—तपस्या दो प्रकार की है—बाह्य और आध्यात्मिक। बाह्यतप

—अनशन (उपवास), ऊनोदरी (अल्पाहार), वृत्ति संक्षेप (धार्मार्थ वस्तुओं की संख्या कम करना), रसत्याग (गरिष्ठ भोजन परिहार), काय-बलेश (शारीरिक कष्ट सहन करना), संलीनता (शरीर संकुचित कर निर्जन स्थान में बैठना)। आश्चर्यन्तर तप—प्रायशिचित (कृत दुष्कामों का अनुत्ताप व दण्ड प्रहण), विनय वैयावृत्य (पीड़ितों व आत्मजनों की सेवा), स्वाध्याय (मनन), व्युत्सर्ग (शरीर के प्रति ममता त्याग), ध्यान। क्षान्ति अर्थात् कोधादि दमन या धमा, मार्दव अर्थात् मान विजय या अहंकार का त्याग, आर्जव अर्थात् माया परित्याग-जनित मन-वचन-काया की सुरक्षा, मुक्ति अर्थात् बाह्य और आश्चर्यन्तरिक परिग्रह एवं तृणा का परित्याग। इस प्रकार के दशविध यतिधर्म का जो कि संसार-सागर को अतिक्रम करने में चिन्तामणि रसन-तुल्य हैं जानी व्यक्ति अबलम्बन लेते हैं।'

(श्लोक ८०-९०)

इस देशना को सुनकर पुरुषसिंह ने विनम्र भाव से कहा—
‘दिद्रि को धन दिखाने की भाँति आपने मुझे धर्म दिखाया। गृहस्थ इस धर्म का पालन नहीं कर सकते कारण गाहूंस्थ संसार रूपी वृक्ष के दोहद तुल्य हैं। हे भगवन्, अतः आप मुझे धर्म के निवास रूप प्रासाद तुल्य श्रामण्य दीजिए। संसार रूपी दिद्रि प्रामवास से मैं बीतश्वद्ध हो गया हूं।’

(श्लोक ९१-९३)

यह सुनकर विनयनन्दन सूरि बोले—‘तुम्हारी यह अभिलाषा उत्तम और धर्मरूप सम्पदा को प्रदान करने वाली है। उत्तम स्वभाव सम्पन्न, बुद्धिमान्, विचक्षण और दृढ़त्रिज्ञ तुम ब्रत ग्रहण करने के उत्तम अधिकारी हो। हम तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगे। तुम जाओ और अपने शुभकामी माता-पिता का आदेश लेकर आओ। कारण संसार में वे ही पूजनीय होते हैं।’

(श्लोक ९४-९६)

तब पुरुषसिंह ने जाकर माता-पिता को प्रणाम किया और करबद्ध होकर विनीत भाव से बोला—‘आपलोग आज्ञा दीजिए मैं ब्रत ग्रहण करूँ।’ वे बोले—‘पुत्र, श्रामण्य तो उपयुक्त हैं; किन्तु जिन पांच महाव्रतों का तुम्हें पालन करना होगा वे बहुत कठिन हैं। शरीर के प्रति ममता त्याग, रात्रि-भोजन का परिहार, ब्रयालिस दोषों से रहित आहार का ग्रहण करना, सर्वदा उत्पाही, राग-रहित, परिग्रह-रहित, धर्म निरत होकर तुम्हें पांच समितियों और तीन

गुप्तियों का पालन करना पड़ेगा। द्रव्य, स्थान, काम, भाव की पथलिंगन। कर यथा नियम एक-एक महीने की प्रतिमा तुम्हें धारण करनी पड़ेगी। जब तक जीवित रहोगे स्नान नहीं कर सकोगे, धरती पर सोना होगा, केशोत्पाटन करना होगा, देह-यत्न रहित होना होगा और गुह के साथ रहकर समझाव से कुच्छलता और उपसर्गों को सहन कर १००० प्रकार का सम्बन्ध चारित्र पालन करना होगा। हे सुकुमार राजपुत, श्रामण्य ग्रहण कर तुम्हें इन लोहे के चाँदों को सदैव चबाना पड़ेगा। मात्र बाहुओं के सहारे दुस्तर संसार-समुद्र को अतिक्रम करना होगा। नंगे पैर तेज धार बाली तलवार की धार पर चलना होगा। अभिनिशिखा पीनी होगी। मैरु पर्वत को तुलादण्ड पर तोलना होगा और बाढ़-विक्षुब्ध गंगा को प्रतिकूल प्रवाह में पार करना होगा। तुम्हें अकेले ही दुर्धर्ष शत्रुओं को परास्त करना होगा व घूर्णमान चक्र के भीतर राधावेद्ध को बिछु करना होगा। आजीवन श्रामण्य ग्रहण करने के लिए अनुपम चारित्र, अनुपम तितिखा, अनुपम बुद्धि और अनुपम शक्ति आवश्यकीय है।'

(श्लोक १०४-१०५)

यह सुनकर कुमार विनीत भाव से बोले—'पूज्यवर, श्रामण्य वैसा ही है जैसा आप बता रहे हैं; किन्तु मेरा कहना है माहेस्य धर्म को पालन करने में जिस दुःख का अनुभव होता है उसके शतांश के एक अंश का भी क्या श्रामण्य धर्म पालन करने में होता है? जैसे नरक की यन्त्रणा जो कि कहने में भी दुष्कर है, सुनने भी दुष्कर है उसके विषय में तो नहीं कहता पर इस संसार में भी जीव को बद्ध होने की, हत्या कर दिए जाने की, प्रहार किए जाने की यन्त्रणा सहनी होती है। मनुष्य को कितने प्रकार की आधि-व्याधि से पीड़ित होना पड़ता है, उन्हें कारागार में डाल दिया जाता है, अंग-भंग कर दिया जाता है, चमड़ा उतार लिया जाता है, आग में जला दिया जाता है, शिरच्छेद कर दिया जाता है यहाँ तक कि देवों को भी मिळ-विरह, शत्रु द्वारा अपमान, च्यवन का ज्ञान आदि महाकष्टों को सहना पड़ता है।'

(श्लोक १०५-१०६)

यह सुनकर सन्तुष्ट बने माता-पिता ने उन्हें श्रामण्य ग्रहण की अनुमति दे दी और 'जय-जय' शब्द से उन्हें अभिनन्दित किया। उनके पिता ने अभिनिष्क्रमणोत्सव किया और कुमार भी जिस प्रकार

फल के लिए लोग वृक्ष के निकट जाते हैं उसी भाँति दीक्षा के लिए मुनि के निकट गए। मुनि चरणों में दीक्षा ग्रहण कर पुरुष सिंह ने संसार को उत्तीर्ण करने में नीका तुल्य शामण्य ग्रहण किया। राजा जिस प्रकार अपने राज्य की रक्षा करता है वे भी उसी प्रकार अतिथार परिहार एवं समस्त जीवों की सुरक्षा की कामना करते हुए शामण्य धर्म का पालन करने लगे। बीस स्थानकों में कई स्थानकों की आराधना कर उन्होंने तीर्थकर गोद्ध कर्म उपार्जन किया। बहुत दिनों तक प्रब्रजन करते हुए अनशन से देह त्याग कर वे वैजयन्त विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ११५-१२०)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में शक्तिमान और घनशालियों की निवास भूमि विनीता नामक एक नगरी थी। उसके प्राकार शीर्ष रीप्य-मण्डित होने के कारण ऐसे लगते मानो वे अन्य द्वीप से लाए चन्द्र द्वारा निर्मित हों। रत्न निधान वह नगरी रीप्य प्राकारों से ऐसी लगती मानो सुरक्षा के लिए शेष ताग द्वारा चक्राकार में परिवेष्टित हो गई है। रत्न-जड़ित छत पर चन्द्रप्रतिबिम्बित होने से दधि अम में गृह-भाजारि उसे चाटती यहाँ तक कि नगर के कीड़ा-शुक भी सर्वदा अहंत, देव, गुरु और साधु शब्दों का उच्चारण करते रहते कारण प्रति गृह में वे य ही शब्द सुनते रहते थे। हर घर से जो अगरु की क्षूम-शिखा निकलती थी वह आकाश में तमाल वृक्ष का अम उत्पन्न करती थी। विनीता के उद्यान धारा-यंत्रों से उत्क्षिप्त जल-कणिकाओं के धूम से इस भाँति आवृत्त रहते कि शैत्य के भय से सूर्य वहाँ प्रवेश ही नहीं कर पाते। (श्लोक १२१-१२७)

उस नगरी में इथवाकुबंश के तिलक रूप मेघ-से सबको आर्दद देने वाले मेघरथ नामक एक राजा राज्य करते थे। उनका अतुल वैभव दरिद्रों के लिए व्यय होते रहने पर भी नहर के जल की भाँति वह नियत बृद्धिगत होता रहता। राजालोग देव समझकर पंचांगों से भूमि-स्थर्ण पूर्वक उन्हें प्रणाम करते और वस्त, रत्न, अलंकारादि उपहार देते। उनके प्रताप ने मध्याह्न का सूर्य जैसे देह की छाया को संकुचित करता है उसी प्रकार शत्रुओं के प्रताप को संकुचित कर दिया था। वैभव, शान्ति और पराक्रम में वे पैसठबैं इन्द्र की भाँति सुशोभित होते। (श्लोक १२८-१३२)

समस्त मंगलों के तिथान धर्म की पताका मानो द्वितीय गृह-

लक्ष्मी हो ऐसी उनकी महारानी का नाम था सुमंगला । वे अपने पति के हृदय में निवास करती थीं, पति उनके हृदय में । अतः मानो वे एक देह में ही स्थित थे । जाहे प्रासाद हो या उद्यान, या कहीं विचरण कर रही हो वे देवता की तरह अपने पति का ही ध्यान करती रहती थीं । रूप और लावण्य में वे अप्सराओं को भी पराजित करती थीं । उन दुनिया का सुख-सौन्दर्य चन्द्र को भी अतिक्रमण करता था । उनकी अनुपम आकृति और सौन्दर्य रत्न और अंगूठी की भाँति एक दूसरे को शोभान्वित करते थे । पीलोमी के साथ जिस प्रकार महेन्द्र सुख-भोग करता है उसी प्रकार राजा उनके साथ अनेक सुख भोग करते ।

(श्लोक १३३-१३८)

पुरुष सिंह के जीव ने बैजयन्त विमान में तीनीस सागर की आयु पूर्ण की । श्रावण शुक्ला द्वितीया के दिन चन्द्र जब मध्य नक्षत्र में था उन्होंने विमान से च्वय कर सुमंगला देवी के गर्भ में प्रवेश किया । सुमंगला देवी ने हस्ती आदि १४ महास्वप्न देखे जो कि तीर्थकर के जन्म को सूचित करता था । पृथ्वी जिस भाँति रत्न को गर्भ में धारण करती है उसी प्रकार सुमंगला देवी ने त्रिलोकनाथ को गर्भ में धारण किया ।

(श्लोक १३८-१४२)

उसी समय एक धनाढ्य व्यवसायी ने अपनी दोनों पत्नियों को लेकर व्यवसाय के लिए दूर विदेश में गमन किया था । उसकी दोनों पत्नियाँ देखने में प्रायः एक सी थीं । उनमें से एक ने राह में एक पुत्र को जन्म दिया । उसका दोनों ने मिलकर लालन-पालन किया । धन-उपार्जन कर व्यवसायी जब घर लौट रहा था उसी समय हठात् वह मर गया । भाग्य ऐसा ही अनिष्टित होता है । उसकी पत्नियों ने अशुस्ति मुख लिए उसकी अन्त्येष्टि किया संपूर्ण की । तदुपरात् दूसरी पत्नी पुत्र की माँ के साथ झगड़ा करती हुई बोली—‘यह पुत्र और सम्पत्ति मेरी है ।’ पुत्र की माँ और विभाता जिनमें एक पुत्र को और दूसरी पुत्र और सम्पत्ति पाना चाह रही थी अतिशीघ्र अयोध्या लौटी । वहीं उन्होंने स्व-परिवार एवं अन्य परिवारों के सम्मुख अपना विवाद रखा; किन्तु कोई भी इसका समाधान नहीं दे सका । इस विवाद को लेकर तब वे राजा के पास गयीं । राजा ने उन्हें राज-सभा में बुलाया और विवाद का कारण बताने को कहा ।

(श्लोक १४३-१५०)

विमाता बोली—‘इस विवाद की बात नगर के सभी लोग आनते हैं किन्तु कोई इसका समाधान नहीं दे पा रहा है। भला दूसरे के दुःख से कौन दुःखी होता है? अतः अब अन्य के सुख से सुखी और अन्य के दुःख से दुःखी धर्म के प्रतिनिधि आपके सम्मुख उपस्थित हुई हैं। यह मेरी अपनी सत्तान है। देखने में भी मेरे ही जैसा है और इसका लालन-पालन भी मैंने ही किया है। अतः यह सम्पत्ति भी मेरी है कारण सम्पत्ति उसी की दृती है जिसकी सत्तान होती है।’

(श्लोक १५१-१५३)

बालक की माँ बोली—‘यह बालक मेरा है, सम्पत्ति भी मेरी है। वह पुढ़हीना मेरी सौत है। अर्थलाभ के लिए यह झगड़ रही है। मैंने अपनी सरलता के कारण पुत्र के लालन-पालन से उसे रोका नहीं। स्नेहवशातः तकिया लिए वह उसके पैरों तले सोयी रहती। अतः अब आप न्याय करिए। राजा का विचार अच्छा हो या बुरा वह अलंध्य होता है।’

(श्लोक १५४-१५६)

उसके इस प्रकार कहने पर राजा ने सोचा—ये दोनों देखने में एक-सी ही हैं मानो एक ही बृन्त पर उत्पन्न हुई हों। यदि इनके बीचे में पार्थक्य रहता तब तो बालक जिसके जैसा होता उसी का कहा जाता। किन्तु यह तो दोनों के ही अनुरूप है। बालक अभी छोटा है अतः वह बता नहीं सकता कि उसकी माँ कौन है और विमाता कौन है। जिस समय राजा इस विचार में मग्न थे तभी उन्हें कहा गया कि मध्याह्न का समय हो गया है, आहारादि नित्य कर्म करने पड़े हैं। सभासदों ने भी कहा—‘इन दोनों के विचार का निर्णय हम छह महीने में भी नहीं कर पाए हैं अतः आहारादि नित्य कर्म की अवहेलना करना उपयुक्त नहीं है। इसलिए आहारादि के पश्चात् ही विचार किया जा सकता है।’ राजा ने भी ‘ऐसा ही हो’ कहकर सभा विसर्जित कर दी।

(श्लोक १५७-१६३)

आहारादि के पश्चात् राजा अन्तःपुर गए। रानी सुमंगला ने आहारादि का समय व्यतीत हो जाने पर आने का कारण पूछा। तब राजा ने दोनों सौतों के विवाद की बात बताई। यह सुनकर गर्भ के प्रभाव से उनकी मति प्रेरित होने के कारण वे बोली—‘महाराज स्त्रियों के विवाद को स्त्रियाँ ही सहज रूप में हल कर सकती हैं अतः इस पर विचार करने का भार आप मुझ पर छोड़ दें। राजा

चकित होकर रानी को लिए राज-सभा में पहुंचे। दोनों सौतों को बुलाया गया। उन्होंने भी पूर्व की भाँति ही अपना वक्तव्य दिया। रानी वादी और प्रतिवादी का विवरण सुनकर बोली—‘मेरे गर्भ में तीन ज्ञान के धारक तीर्थकर हैं। जब वे जन्म ग्रहण करेंगे तब अशोक वृक्ष के नीचे वे ही इसका निर्णय करेंगे। तुम लोग तब तक के लिए प्रतीक्षा करो।’

(इलोक १६४-१६९)

सौतेली माँ ने यह बात गाल ली; किन्तु सरी माँ ने स्वीकार नहीं किया। बोली—‘महारानी, मैं इतने दिनों तक प्रतीक्षा नहीं कर सकती। आप अभी इसका निर्णय कीजिए। इतने दोष समय तक अपने पुत्र को मैं सौतेली माता के अधीन नहीं कर सकती।’

(इलोक १७०-१७१)

उसकी बात सुनकर महारानी ने अपना निर्णय सुनाया—‘यही पुत्र की माँ है, कारण, बिना पुत्र के वह बहुत दिनों तक नहीं रह सकती। सौतेली माँ रह सकती है क्योंकि वह उसका पुत्र नहीं है और धन तो दोनों का ही है। पुत्र निर्णय का विलम्ब माँ कैसे सह सकती है? तुम विलम्ब नहीं सह सकती हो अतः यह पुत्र तुम्हारा है, तुम पुत्र को लेकर घर चली जाओ। यह पुत्र उसका नहीं है यद्यपि वह इसको चाहती है और इसका लालन-पालन भी किया है। दिक-शावक काक द्वारा पालित होने पर भी कोयल ही होता है।’

(इलोक १७२-१७६)

गर्भ के प्रभाव से जब महारानी ने अपना निर्णय सुनाया तो चतुर्विध-सभा आश्चर्य-चकित हो गई। उस बालक की माँ और सौतेली माँ प्रभात और सन्ध्या के उन्मीलन और निमिलनकारी पद्म की तरह उत्फुल्ल और मलिन होकर दोनों घर लौट गईं।

(इलोक १७७-१७८)

शुक्लपक्ष का चन्द्र जिस प्रकार कला में बढ़ता जाता है उसी प्रकार गर्भ क्रमशः बढ़ता गया। रानी को उसमें बिल्कुल कष्ट नहीं हुआ। उसे लगा जैसे वह प्रतिदिन हास होता जा रहा है। नौ महीने साढ़े सात दिन व्यतीत हो जाने पर बैशाख शुक्ला अष्टमी को चन्द्रभा जब मघा नक्षत्र में आया तब सुमंगला देवी ने पूर्व दिशा जिस प्रकार चन्द्र को जन्म देती है उसी भाँति एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। प्रसव के समय उन्हें जरा भी कष्ट नहीं हुआ। पुत्र

का वर्ण सुवर्ण-सा था और ऋच लाञ्छन-युक्त था। मुहूर्त शर के लिए निलोक में दिव्य प्रकाश फैल गया और नारकी जीवों को भी धानन्द प्राप्त हुआ। शक का सिंहासन कम्पित हुआ।

(श्लोक १७९-१८२)

दिक्-कुमारियों ने उनका जन्म-कार्य सम्पन्न किया और शक उन्हें मेर पवर्त पर ले गया। अच्युतादि वंसठ इन्द्रों ने शक की गोद में उपधिष्ठ प्रभु को तीर्थजल से अभिषिक्त किया। तदुपरान्त ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर शक ने स्फटिक निर्मित चार वृषभों के शुद्धों से निकलते जल से प्रभु का अभिषेक किया। चन्दनादि लेपन के पश्चात् उन्हें स्नानभरणादि पहनाकर पूजा की और इस प्रकार स्तुति करने लगे :

(श्लोक १८३-१८६)

‘हे भगवन्, आपके जन्म-कल्याणक में भाग लेकर मैं धन्य हो गया हूँ। वह पृथ्वी ही वया जहाँ आपके चरण-कमल न पड़े हों! आपको देखने के आनन्द से नेत्र सार्थक हो गए हैं, आपकी पूजा कर हाथ अपने करणीय कार्य को कर सुसिद्ध हो गए हैं। बहुत दिन पश्चात् आपका स्नानाभिषेक और चन्दनादि कर मेरी कामना चरितार्थ हो गई है। हे भगवन्, अब तो मैं संसार को ही अच्छा कह सकता हूँ जहाँ आपके दर्शन ही मुक्ति के कारण हैं। स्वयंभूरमण समुद्र की तरंग की गणना की जा सकती है; किन्तु आप जैसे अलौकिक शक्तिधारी के गुणों की वर्णना मेरे द्वारा सम्भव नहीं है। हे धर्मरूप शृङ्खला के स्तम्भ, हे संसार को प्रकाशित करने वाले सूर्य, हे अनुकम्पा रूप लता को धारण करने वाले महावृक्ष, हे जगन्नाथ, इस संसार की रक्षा कीजिए। हे भगवन्, आपकी देशना निर्वाण रूप दरदाजे को खोलने में कुञ्जी की भाँति है, जिसे भव्य जन ही शब्द करते हैं। आपकी आकृति उज्ज्वल दर्पण की भाँति मेरे हृदय में प्रतिबिम्बित होकर निर्वाण का कारण बने।’

(श्लोक १८७-१९४)

इस भाँति स्तवना कर वे प्रभु को गोद में लेकर शून्य पथ से देवी सुमंगला के कक्ष में आए और प्रभु को उनके पास सुलाकर अपने आवास को लौट गए। (श्लोक १९५)

जब वे माँ के गर्भ में थे तब माँ की मति प्रखर हो गई थी अतः प्रभु के पिता ने उनका नाम रखा सुमति। इन्द्र नियुक्त

धारियों द्वारा पालित होकर प्रभु ने बालधकाल व्यतीत कर योवन प्राप्त किया। तीन सौ धनुष दीर्घ, विस्तृत स्कन्ध, जङ्गा पर्यंत लम्बित शाखा-सी बाहुओं के कारण वे साक्षात् कल्पवृक्ष-से लगते थे। प्रभु के सौन्दर्य रूपी सलिल में रमणियों के नेत्र सर्वदा मत्स्य की भाँति कीड़ा करते थे। भोग कर्म अवशेष समझकर और पिता के आग्रह से उन्होंने सुन्दर राजकुम्हाओं के साथ विवाह कर लिया। उन्होंने राजा रूप में २९ लाख पूर्व और १२ अङ्ग तक वैजयन्ति विमान की भाँति आनन्द में समय व्यतीत किया। (इलोक १९६-२०२)

स्वयं सम्बुद्ध और लोकान्निक देवों द्वारा प्रतिबुद्ध भगवान् सुमति ने एक वर्ष व्यापी दान दिया। दीक्षा ग्रहण की अभिलाषा व्यक्त की। एक वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् सिंहासन कम्पित होने से इन्द्र और राजाओं द्वारा प्रभु का महाभिनिष्कमण आयोजित हुआ। प्रभु अभ्यंकरा पालकी पर आसीन होकर देव, असुर और राजाओं द्वारा परिवृत्त सहस्राम्रवन उद्यान में गए। वैशाख शुक्ला नवमी के अपराह्न में चन्द्र जब मधा नक्षत्र में था उन्होंने अपने अनुयायी एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के साथ-साथ मानो दीक्षा का अनुज हो इस प्रकार प्रभु को मनः-पर्यंत ज्ञान उत्पन्न हुआ। विजयपुर के राजा पद्म के घर खीरान्न ग्रहण कर प्रभु ने चार दिनों के उपवास का पारणा किया। देवताओं ने रत्नादि पांच दिव्य प्रकटित किए और राजा पद्म ने पूजा के लिए रत्न-वेदिका का निर्माण किया। विविध व्रत-ग्रहण और परिषह सहन कर प्रभु ने बीस वर्षों तक प्रब्रजन किया।

(इलोक २०३-२१०)

ग्राम, खान आदि में विचरण करते हुए प्रभु सहस्राम्रवन उद्यान में पहुंचे जहाँ उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। प्रियंगु वृक्ष के नीचे एक दिन प्रभु जब ध्यान कर रहे थे तब अष्टम गुणस्थान से क्रमधः आरोहण करते हुए उन्होंने अपने धाती कर्मों को क्षम्य किया। चैत्र शुक्ला एकादशी को चन्द्र जब मधा नक्षत्र में अवस्थित था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् उन्हें उज्ज्वल केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

(इलोक २११-२१२)

इन्द्र का सिंहासन कम्पित होने से प्रभु को केवल-ज्ञान हुआ है यह अवश्य कर देव और असुर वहाँ आए और उनकी देशना के

लिए समवसरण की रचना की। प्रभु ने पूर्व द्वार से प्रवेश किया और एक कोश अर्थात् सोलह सौ धनुष दीर्घ चंत्रवृक्ष की प्रदक्षिणा दी। तदुपरान्त 'नमो तित्थाय' कहकर वे पूर्वभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ गए। देवों ने अन्य तीन और उनकी प्रतिकृति रखी। देव, अमुर और मानव यथास्थान खड़े हो गए। शक्र भगवान् की बन्दना कर इस प्रकार स्तुति करने लगे : (श्लोक २१४-२१७)

'आपके गुणों से आनन्दित अशोक वृक्ष भ्रमरों के गुञ्जन के रूप में मानो गान कर रहा है, पल्लवों के आनंदोलन से मानो नृत्य कर रहा है। आपकी समवसरण भूमि पर देव एक योजन पर्यन्त जिनके बृन्त नीचे रहे ऐसे कृलों गमी हुए हों तक वर्षी की। मानव कौशिकी आदि ग्राम और राग से पवित्र आपकी दिव्य ध्वनि को वे आनन्द से हरिण की भाँति ग्रीवा ऊँची कर सुनते हैं। चन्द्र कीमुदी-सी श्वेत चैवर श्रेणियां आपके मुख-कमल के चारों ओर उड़ीयमान हँस पंक्ति-सी लगती हैं। आप जब सिंहासन पर बैठकर देशना देते हैं तब मानो यिह की सेवा करने आए हैं ऐसे हरिण उसे सुनने आते हैं। चन्द्र जिस प्रकार प्रभा-मण्डल से परिवृत्त रहता है उसी प्रकार आप भा-मण्डल से परिवृत्त चकोर रूपी नेत्रों को आनन्दित करते हैं। हे त्रिभुवनपति, आकाश में देव-दुन्दुभि निनादित होकर पृथ्वी के राजाओं पर आपके एकछत्र आधिपत्य को व्यक्त करती है। त्रिजगत पर आपके आधिपत्यसूचक एक के ऊपर एक त्रिष्ठल धर्म के सोपान रूप हैं। आपका दिव्य अतिशय रूप देखकर हे भगवन् कौन आश्चर्यचकित नहीं होता ? वहाँ तक कि मिथ्यात्मी तक भी !' (श्लोक २१८-२२६)

इस प्रकार स्तुति कर शक्र के नीरब होने पर भगवान् सुमतिनाथ ने सर्वभाषा बोधगम्य देशना देनी प्रारम्भ की :

'जो व्यक्ति हिताहित और कार्यकार्य समझने की क्षमता प्राप्त कर चुके हैं उनका कर्तव्य-पालन में उपेक्षा करना उचित नहीं है। स्व शरीर सम्बन्धी या पुत्र मित्र स्त्री आदि से सम्बन्धित जो कार्य किया जाता है वह सबका सब परक्रिया है निज की क्रिया नहीं है। जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अकेला ही पूर्व संचित कर्मों का फल भोग करता है। जिस विपुल वित्त को वह संग्रह करता है, उसे समस्त परिजन भोगते

हैं; किन्तु उसके संग्रह में जो कर्मबन्धन उसने किया है उसका फल वह अकेला ही भोगता है। दुःख रूपी दावानल से भयंकर इस विशाल संसार रूपी अटवी में कर्म के वशीभूत होकर वह अकेला ही विचरण करता है। यदि कोई कहता है आत्मीय परिजन उसके संगी नहीं होने पर भी शरीर उसका साथी है कारण उसी से वह सुख-दुःख का अनुभव करता है तो वह कथन भी ठीक नहीं है कारण शरीर भी पूर्व जन्म से नहीं आता या परजन्म में साथ नहीं जाता, तब इस सहसा प्राप्त शरीर का साथी कैसे कहा जा सकता है।

(श्लोक २२७ २३४)

'यदि कहा जाए धर्म-अधर्म इसका साथी है तो वह भी ठीक नहीं है कारण मोक्ष के लिए धर्म-अधर्म भी कोई सहायता नहीं देते। अतः जीव संसार में शुभ और अशुभ कर्म कर अकेला ही परिभ्रमण करता है और शुभ और अशुभ कर्म का फल भोगता रहता है। तभी तो मोक्ष रूपी महाकल जीव अकेला ही प्राप्त करता है परंसंयोग का तो एकदम ही वहाँ अभाव है अतः संगी का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार संसार का जो दुःख वह अकेला ही भोगता है उसी प्रकार मोक्ष जनित सुख भी वह अकेला ही प्राप्त करता है। इसमें कोई संघी नहीं है। बिना कुछ लिए व्यक्ति जिस प्रकार एक मुहूर्त में नदी पार कर दूसरे किनारे पर चला जाता है उसी प्रकार परिग्रह, धून, देहादि में आसक्ति हीन जीव मुहूर्त माल में संसार समुद्र को अतिक्रम कर जाता है। अतः समस्त सांसारिक सम्बन्ध परित्याग कर शाश्वत सुखमय मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को एकाकी प्रयत्न करना उचित है।'

(श्लोक २३५-२४१)

भगवान् की देशना सुनकर बहुत-से नर-नारियों ने आसक्ति रहित होकर व्रत प्रहण किए। उनके चमरादि एक सौ गणधर हुए। भगवान् से उन्होंने त्रिपदी प्राप्ति कर द्वादशांगी की रचना की। प्रथम प्रहर बीत जाने पर प्रभु ने देशना देनी बन्द की। तब आपके मुख्य गणधर आपके पाद पीठ पर बैठकर देशना देने लगे। द्वितीय प्रहर बीत जाने पर वे भी देशना से विरत हुए। भगवान् को बंदना कर सभी अपने-अपने निवास को लौट गए। (श्लोक २४२-२४५)

भगवान् के तीर्थ में श्रवेतवर्ण गरुड़-वाहन तुम्बुरु नामक शासनदेव उत्पन्न हुए। उनके दाहिने दोनों हाथों में एक हाथ में

बरछी और अन्य हाथ वरद मुद्रा में था। बाएँ दोनों में एक हाथ में गदा और दूसरे में पाश था। इसी प्रकार पदम-वाहना स्वर्णवर्णी महाकाली नामक शासनदेवी उत्पन्न हुई। उनके दाहिने हाथ के एक हाथ में पाश और दूसरा वरदमुद्रा में था। बाएँ हाथ के एक हाथ में विजोरा नींवी और दूसरे में गदा थी। (श्लोक २४६-२४९)

भगवान् की वाणी पैतीस अतिशयों से मुक्त थी। इस प्रकार भव्य जीवों को प्रमुदित करते हुए वे पृथ्वी पर विचरण करने लगे। प्रभु के संघ में ३,२०,००० साधु, ५,३०,००० साधिवर्याँ, २,४०० चतुर्दश पूर्वी, ११,००० अदधिज्ञानी, १०,४५० मनःपर्यवज्ञानी, १३,००० केवली, १८,४०० वैकिय लब्धिधारी, १०,४५० वादी, २,८१,००० श्रावक और ५,१६,००० श्राविकाएँ थीं। प्रभु चौतीस अतिशयों सहित पृथ्वी पर विचरण करते रहे। (श्लोक २५०-२५६)

केवल ज्ञान होने के पश्चात् भगवान् सुमतिनाथ १२ अंग २० वर्ष कम एक पूर्व तक पृथ्वी पर विचरण किया। अपना निर्वाण समय निकट जानकर एक हजार मुनियों सहित सम्मेद शिखर पर जाकर अनशन ग्रहण कर लिया। एक मास के उपवास के पश्चात् त्रिलोकनाथ आयुष्य समाप्त और चार अनन्त प्राप्त होने के पश्चात् शैलेशी ध्यान में निरत हो गए। चैत्र शुक्ला नवमी को चन्द्र जद्य पुनर्बुद्धि नक्षत्र में था तब भगवान् वहाँ से जहाँ जाकर प्रत्यावर्त्तन न करना पड़े उस लोक को प्राप्त किया। (श्लोक २५७-२६०)

भगवान् दस लाख पूर्व कुमारावस्था में रहे, २९ लाख पूर्व और १२ अंग तक राजा रूप में, १२ अंग कम एक लाख पूर्व तक वर्ती रूप में विचरे। अतः अपका पूण्यि था ४० लाख पूर्व। अभिनन्दन स्वामी के निर्वाण के बाद नौ लाख कोड़ सागर व्यतीत होने पर सुमतिनाथ प्रभु का निर्वाण हुआ। (श्लोक २६१-२६३)

भगवान् और एक हजार मुनियों की अन्त्येष्टि किया देवों ने यथाविधि सम्पन्न की। नन्दीश्वर द्वीप में निर्वाण-उत्सव मनाकर वे अपने-अपने घर को लौट गए। (श्लोक २६४)

कृतीय सर्ग समाप्त



चतुर्थ सर्ग

ॐ । भगवान् पश्यप्रभ जिनकी देह का रंग लाल पद्म-सा है और जो पद्मा के कमलतुल्य निवास-स्थल हैं, मैं उनकी बन्दना करता हूँ । मन्द बुद्धि होते हुए भी उनकी अलौकिक शक्ति से पाप-नाशक उन्होंने जिनेन्द्र प्रभु के जीवन-चरित्र का वर्णन करता हूँ ।

(इलोक १-२)

धातकी खण्ड द्वीप में पूर्व विदेह के अलङ्कारतुल्य वत्स नामक विषय में सुसीमा नामक एक सुन्दर नगरी थी । वहाँ अपराजित नामक राजा राज्य करते थे जो कि शत्रुओं के लिए अपराजेय और इन्द्रियों को जय करने से मूर्त्तिमान धर्म स्वरूप थे । न्याय उनका मिल था, धर्म आत्मीय और ऐश्वर्य । बन्धु-बान्धव, आत्मीय, स्वजन और ऐश्वर्य तो सब बाह्य हैं । वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं की तरह शालीनता, चारित्र, सत्य आदि प्रभुख गुण एक दूसरे को शोभित करते थे । ऋषिहीन होकर वे राजा शत्रु पर शासन करते, राणहीन होकर विषय भोग और लोभहीन होकर विवेकियों में अग्रगण्य वे अर्थ भार बहन करते थे ।

(इलोक ३-७)

एक दिन देव तुल्य उन्होंने जब अहंत वाणी रूप अमृत का पान किया तब तत्त्व-चिन्तन करते हुए उन्होंने सोचा—ऐश्वर्य, योवन, सौन्दर्य, शरीर, मृगनयनी नारी, पुत्र, मित्र, प्रासाद आदि का परित्याग करना कठिन है । फिर भी जिस व्यक्ति ने जीवन में दुःख प्राप्त किया है या मर गया है उसे परिजन जिस प्रकार पक्षी नष्ट अण्डे का परित्याग कर देता है उसी प्रकार उसका परित्याग कर देते हैं । वह व्यक्ति मूर्ख है जो एक पांच से फलांगने की तरह केवल अपनी और से ही उनके प्रति आसक्त है । उस परिग्रह से विच्छिन्न तो होता ही पड़ता है । अतः पुण्य क्षय होने पर वे मेरा परित्याग करें उसके पूर्व ही क्यों नहीं मैं साहस के साथ उनका परित्याग कर दूँ ?

(इलोक ८-१२)

अनेक दिनों तक इसी प्रकार चिन्तन करते हुए विवेकियों में रोहण पर्वत तुल्य राजा को जब संसार से चरम विरक्ति हो गई तब स्व-राज्य पुत्र को दान कर वे पिहिताश्व सूरि के पास जाकर मोक्ष प्राप्ति के लिए रथ तुल्य श्रामण्य अङ्गीकार कर लिया । उन्होंने तीन गुप्तियाँ और पांच समितियों को धारण कर राणहीन और

परिग्रहहीन होकर बहुत दिनों तक तलवार की धार जैसे व्रतों की रक्षा की। बीस स्थानकों में कई स्थानकों की आराधना कर उन निर्मलमना राजा ने तीर्थस्नूर गोप्त कर्म उपार्जन किया। वे महामना शुक्ल ध्यान में इस जीवन को व्यतीत कर मृत्यु के पश्चात् नवमे ग्रंवेयक विमान में महाशक्तिशाली देवरूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक १३-१७)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में वत्स देश के अलङ्कार तुल्य कौशाम्बी नामक एक नगरी थी। ऊँचे मन्दिर के शिखर स्थित सिंहलांछन के समीप विचरण करने के कारण मृग लांछन के भीत हो जाने से चन्द्र यहां कलङ्क से रहित हो गया था। ऊँचे-ऊँचे महलों से निकलती अग्रधूप वस्त्र की तरह उन मिथुनों को आवृत्त कर देती जो विलास के लिए वस्त्रों का परित्याग कर देते थे। इस नगरी के प्रतिशृङ्ख में मुक्ता रचित स्वस्तिक को अनार का बीज समझकर शुक चञ्चु द्वारा उन पर आधात करता। यहां सभी समान धनी थे। फलतः कोई किसी से ईर्ष्या नहीं करता। केवल पवन ही उद्यान पुष्पों के सौरभ से ईर्ष्यान्वित था। (श्लोक १८-२२)

कौशाम्बी के राजा धर मेघ और पर्वत की तरह पृथ्वी का ताप हरते थे और उसे धारण करते थे। पृथ्वी के राजागण उनकी आङ्गी का उल्लङ्घन नहीं करते बल्कि अविच्छिन्न माल्य की तरह मस्तक पर धारण करते थे। यद्यपि दण्ड की तरह हाथ में धनुष धारण करते थे फिर भी दण्ड देने के समय वे निष्ठुरता नहीं दिखाते थे बल्कि भद्रजातीय हस्ती की तरह शान्त भाव का अवलम्बन लेते, आधा चन्दन और आधी केशर की तरह यश और करुणा के मिश्रित पङ्क से उन्होंने बहुत दिनों तक आकाश को अभिषिक्त किया था। कुलदेव की तरह सभी गुणों ने उनका आश्रय लिया था। वे लक्ष्मी के निवास स्थल रूप थे। (श्लोक २३-२७)

साध्वी पत्नियों में अग्रणी देवीतुल्या मुसीमा नामक उनकी रानी थी। किसलयतुल्य करतल, पैर और झोण्ठ, पुष्पतुल्य दांत और शाखा-सी बाहुओं से वे कल्पवृक्ष-सी लगतीं। अवगुण्ठन किए वे धीरे-धीरे चलतीं, धरती पर दृष्टि रखकर चलतीं मानो वे ईर्ष्यसिमिति का पालन कर रही हों। उनकी देह सौन्दर्य-मण्डित थी, चारित्र विनय, मन संलीनता और वाक्य सत्य-मण्डित था।

जब वे बोलतीं तब उनकी दन्त पंक्तियों से निकलती झ्योत्सना से चन्द्रकौमुदीं स्नात राति-सो लगतीं । (श्लोक २८-३२)

राजा अपराजित का जीव ग्रैवेयक विमान में इकतीस सागर की आयु व्यतीत कर माघ कृष्ण षष्ठी को चन्द्र जब चिन्ना नक्षत्र में था वहाँ से च्यवकर देवी सुसीमा के गर्भ में प्रविष्ट । हुआ तीर्थकर के जन्म सूचक चौदह महास्वप्नों को उन्होंने अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा । गर्भ बद्धित होने पर उन्हें पश्च-शथ्या पर सोने का दोहर उत्पन्न हुआ जिसे देवियों ने मुहूर्त भर में पूर्ण कर दिया । नी मास साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर कातिक कृष्ण द्वादशी को चन्द्र जब चिन्ना नक्षत्र में था और सभी ग्रह उच्च स्थान में थे तब रानी सुसीमा ने एक पुत्र को जन्म दिया । लाल कमल उसका लालचन था और देह का रंग भी लाल कमल-सा ही था । (श्लोक ३३-३८)

तीर्थकर का जन्म होते ही छण्डन दिक् कुमारियाँ आयीं और जन्मकालीन क्रियाओं को सम्पन्न किया । फिर इन्द्र आए और प्रभु को सुवर्णादि के शिखर पर ले गए । वहाँ अच्युत और अन्यान्य इन्द्रों ने शक की गोद में बैठे भगवान् के सहोदर को तरह यथाक्रम स्नान-भिषेक किया । ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर शक ने भी प्रभु का स्नान-भिषेक पूजा आदि कर निम्नलिखित स्तुति पाठ किया :

(श्लोक ३९-४१)

‘इस असार संसार में दीर्घकाल तक मरुभूमि में विचरण करने वाले व्यक्ति की भाँति आपका दर्शन हे भगवन् अमृत-सरोवर तुल्य है । आपकी अनुपम रूप-सुधा अक्लान्त भाव से पान कर देवों के अनिमेष नेत्र सार्थकता प्राप्त हुए हैं । चिर अन्धकार में भी जो आलोक रेखा प्रकाशित हुई है, नारकी जीवों को भी जिसने आनन्द दिया है वह आपकी तीर्थकृत देह के कारण ही हुआ है । हे भगवन्, दीर्घ दिनों के पश्चात् मनुष्यों के भाग्य से धर्मरूपी वृक्ष को कहणा रूपी वापी के जल से पुष्पित करने के लिए ही आपने जन्म लिया है । जल में जिस प्रकार शीतलता सहजात होती है उसी प्रकार त्रिजगत का स्वाभित्व और विविष्ठ ज्ञान आपको जन्म से ही प्राप्त है । हे कमलवर्ण कमललालन, आपका निःश्वास भी कमल गन्धी है । आपका मुख कमल-सा है जो कि पथा (श्री) का निवास-स्थल है । आपकी जय हो । हे भगवन् जिस अवार संसार-साधर को

अतिक्रम करना अत्यन्त दुष्कर है वह अब आपका कृपा से गोष्ठद जल की तरह सहज हो गया है। मैं अन्य किसी स्वर्ग का आधिपत्य नहीं चाहता न ही अनुत्तर विमान में निवास— मैं तो आपके चरण-कमलों की सेवा करना चाहता हूँ। (श्लोक ४२-४९)

इस प्रकार स्तुति कर शक्त भगवान् को लेकर द्रुतगति से कौशाम्बी को लौट गए और उन्हें देवी सुसीमा के पार्श्व में सुलाकर स्वर्ग को चले गए। (श्लोक ५०)

भगवान् जब गर्भ में थे तब आपकी माँ को पद्मशैया पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ। उनकी देह का रंग भी पश्चवर्ण था अतः पिता ने आपका नाम पश्चप्रभ रखा। स्वर्ग की धावियों द्वारा लालित होकर और देवों के साथ कीड़ा कर भगवान् क्रमशः बड़े होने लगे और जीवन का द्वितीय भाग अर्थात् योवन को प्राप्त किया। (श्लोक ५१-५२)

दो सौ पचास ब्रह्म दीर्घ, विस्तृत वथ भगवान् श्री का प्रदाल निमित्त कीड़ा-पर्वत से लगते। संसार-त्याग की इच्छा होने पर भी पिता-माता की भावना और जन-साधारण को आनन्दित करने के लिए प्रभु ने विवाह किया। जब उनकी उम्र साढ़े सात लाख पूर्व हुई तब पिता के आग्रह से आपने राज्यभार ग्रहण किया। जगत्पति ने साढ़े इकीस पूर्व और सोलह पूर्वाङ्ग राज्य-शासन में व्यतीत किए। शुभ मुहूर्त में जिस प्रकार सार्थवाह यात्रा के लिए उन्मुख हो जाता है उसी प्रकार संसार-सागर को पार करने के इच्छुक प्रभु लोकान्तिक देवों द्वारा दीक्षा ग्रहण के लिए उद्बुद्ध किए गए। उन्होंने एक वर्ष तक दान दिया। जूम्भक देव कुबेर द्वारा प्रेरित होकर भगवान् के सम्मुख ब्रह्म-रत्न उपस्थित करने लगे। देवों और राजन्यों द्वारा अभिनिष्करण उत्सव आयोजित होने पर निवृत्तिकरा नामक शिविका में बैठकर सहस्राम्रवन उद्यान में गए। कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के अपराह्न में चन्द्र जब चिन्ना नक्षत्र में आया प्रभु ने दो दिनों के उपवास के पश्चात् एक हजार राजाओं के साथ श्रमण दीक्षा ग्रहण की। (श्लोक ५३-६१)

दूसरे दिन सुबह प्रभु ने ब्रह्मस्थल नगर के राजा सोमदेव के धर खीराश से पारणा किया। देवों ने वहां पांच दिव्य प्रकट किए। जहां प्रभु पारने के लिए खड़े हुए थे वहां सोमदेव राजा ने मणिमय

वेदी का निर्माण करवाया ।

(श्लोक ६२-६३)

छह महीने तक उन्होंने छब्बस्थ रूप में विचरण किया । पुनः अपनी दीक्षा के साक्षी रूप सहस्राम्रवन में लौट आए । दो दिनों के उपवास के पश्चात् बटवृक्ष तले जब वे प्रतिमा धारण कर खड़े थे तब हवा जिस प्रकार मेघ को उढ़ाकर ले जाती है उसी भाँति उनके धाती कर्म अय हो गए । चैत्र मास की पूर्णिमा को चन्द्र ने जब चित्रा नक्षत्र में प्रवेश किया तब भगवान् पद्मप्रभ ने निर्मल केवलज्ञान प्राप्त किया ।

(श्लोक ६४-६५)

देवेन्द्रों और अमुरेन्द्रों ने उनके लिए समवसरण की रचना की । प्रभु उस समवसरण में पूर्व द्वार से प्रविष्ट हुए । प्रवेश कर उन्होंने जिस प्रकार इन्द्र ने उन्हें प्रदक्षिणा दी थी उसी प्रकार डेढ़ कोश ऊँचे चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा दी और तीर्थ को नमस्कार कर उसकी वन्दना की । फिर प्रभु पूर्वाभिमुख होकर मिहासन पर बैठे । प्रभु की शक्ति से देवों ने उन्हीं के अनुरूप मूर्तियों निर्माण कर अन्य तीन दिशाओं में रखी । चतुर्विध संघ भी समवसरण में यथायोग्य स्थानों में जाकर बैठ गए । मेघ को देखने के लिए जिस प्रकार मयूर मस्तक ऊँचा करता है उसी भाँति प्रभु को देखने के लिए वे मस्तक ऊँचा किए बैठे । तदुपरान्त सौधर्मोन्द्र प्रभु को वन्दना कर भक्ति सहित निम्नलिखित स्तुति करने लगे जो कि निःसन्देह सत्य ही थी ।

(श्लोक ६६-७१)

‘उपसर्गों को महन कर, विविध आकरणों को व्यर्थ कर आपने प्रशान्ति के आनन्द को प्राप्त किया है । महान् व्यक्तियों का आचरण ऐसा ही होता है । आप लोभ-शून्य होकर राग-शून्य हो गए हैं । द्वेष-शून्य होकर क्रोध को जय किया है । आप में जो शक्ति है उसे साधारण मनुष्यों के लिए प्राप्त करना कठिन है । आपने सर्वदा आसक्तिहीन और पाप-भय से भीत होकर त्रिलोक को जय किया है । महान् व्यक्तियों की कुशलता ऐसी ही होती है । आप न कुछ ग्रहण करते हैं और न कुछ देते हैं । फिर भी आपने यह क्षमता प्राप्त की है । महान् व्यक्तियों के कार्य ऐसे ही होते हैं । हे भगवन्, जो ऐश्वर्य प्राणपात परिश्रम से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता वही ऐश्वर्य आपके पद-प्रान्त पर पड़ा हुआ है । कारण आप राग के प्रति निष्ठुर और जीवों के प्रति करुणा-सम्पन्न हैं अतः भयंकर भी

हैं, परम सुन्दर भी हैं, आप महान् लोगों में भी महान् हैं, पूजनीयों में भी पूजनीय हैं। इसलिए मैं आपका गुणगान करता हूँ। सारे दोष सब में समाए हैं केवल गुण आप में है। मेरी यह स्तुति यदि अतिशयोक्ति लगे तो इसकी साक्षी यह परिषद् है। मैं अन्य कोई निधान नहीं चाहता, हे भगवन्, मैं बार-बार आपका दर्शन करना चाहता हूँ।' (श्लोक ७२-००)

शक्त के इस भाँति स्तव कर निरस्त हो जाने पर भगवान् ने पेंतीम दिव्य गृह सम्पन्न कण्ठ-स्वर से यह देशना दी—

'महासागर की तरह यह संसार भी अपार है। इस संसार रूपी महासमुद्र में जीव चौरासी लाख जीवयोनि में नित्य अभ्रण करता है और नाटक के पात्र की तरह विविध प्रकार के रूप धारण करता है। कभी वह थोड़ीय लालूणकुल में जन्म अहण करता है तो कभी अस्यज चण्डाल के घर। कभी स्वामी बनता है कभी सेवक, कभी देव तो कभी अद्विकीट। जिस प्रकार भाड़े के मकान में रहने वाले जीव विविध प्रकार के गृहों में वास करते हैं, कभी भव्य प्रासाद तो कभी जीर्ण कुटीर उसी भाँति जीव भी स्व शुभाशुभ कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनि में जन्म व मृत्यु प्राप्त होते हैं। ऐसी कौन योनि है जिसमें जीव उत्तम नहीं हुआ? लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जिसमें जीव ने कर्मों से प्रेरित होकर अनेक रूप धारण कर स्पर्श नहीं किया और इस पृथ्वी पर एक केश-सा अंश भी अवशेष नहीं जहाँ जीव ने जन्म-मृत्यु प्राप्त नहीं किया हो।' (श्लोक ८१-५५)

'संसार में मुख्यतः चार प्रकार के जीव हैं। यथा—(१) नारक, (२) तिर्यङ्क, (३) मनुष्य और (४) देवता। ये सभी कर्म द्वारा ब्राह्मण होकर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हैं। प्रथम तीन नरकों में ऊष्ण वेदना है और शेष के तीन नरकों में शीत वेदना है। चतुर्थ नरक में ऊष्ण और शीत दोनों ही प्रकार की वेदना है। प्रत्येक नरक में क्षेत्रानुसार वेदना होती है। उन नारक शेषों में ऊष्णता और शीतलता इतनी अधिक होती है कि वहाँ यदि लोहे के पर्वत को ले जाना हो तो वह क्षेत्र के स्पर्श करने के पूर्व ही गल जाएगा या टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाएगा। इसके अतिरिक्त नारक जीवों के एक के द्वारा अन्य को और परमाधामी देवों द्वारा

दिए हुँख भी असहा एवं भयङ्कर होते हैं। इस भाँति नारक जीवों को क्षेत्र सम्बन्धी, परस्पर सम्बन्धी, परमाधामी देव सम्बन्धी विदित महादुःखकारी वेदना सहन करनी पड़ती है। (श्लोक ८६-८९)

'नारक जीव संकीर्ण मुख की कुम्भी में उन्पत्र होते हैं। जिस प्रकार शीशा आदि धातु की मोटी शलाका को शंक्रां के मध्य से खींच-खींचकर पतला किया जाता है उसी प्रकार संकीर्ण मुख की कुम्भी से परमाधामी देवना नारक जीवों को खींचकर बाहर निकालते हैं। श्रोबी जिस प्रकार शिलापट पर कपड़े पछाड़ता है उसी प्रकार परमाधामी देव नारक जीवों के हाथ या पांव पकड़कर पत्थरी पर पछाड़ते हैं। बहुई जिस प्रकार आरे से काष्ठ चीरता है उसी प्रकार परमाधामी देव उन्हें चीरकर या कोल्हू में फेंककर तेल निकालने के लिए जिस प्रकार तिलों को पीसा जाता है उसी प्रकार उन्हें पीसते हैं। तृष्णातुर होने पर उन्हें बैतरणी नदी में फेंक दिया जाता है जिसका जल तप्त लौह और शीशे के रस जैसा होता है। वही जल उन्हें पीना पड़ता है। छाया के लिए व्याकुल होने पर परमाधामी देव उन्हें अग्नि-पत्र बन में ले जाते हैं जिसके पत्र तलवार की धार-से तीक्ष्ण होते हैं। वे पत्र उनकी देह पर गिरते हैं और उनकी देह को भी छिप-भिन्न कर देते हैं। वज्र शूल-सा तीक्ष्ण कंटकयुक्त शाल्मली चृक्ष को या अत्यन्त तप्त वज्राङ्गना को आलिङ्गन करने को वाद्य कर परमाधामी देव उन्हें पर-स्त्री आलिङ्गन की पाणवृत्ति को स्मरण करवाते हैं। मांसभक्षण लोलुपता की बाल याद करवा कर उन्हीं के अङ्ग से मांस काट-काटकर उन्हें भक्षण करवाते हैं। मदिरापान स्मरण करवाकर तप्त लौह रस पान करवाते हैं। अत्यन्त पाप के उदय से भी उस बैक्रिय शरीर में भी कुछ रोग, चर्म रोग, महाशूल, कुम्भीपाक आदि की भयंकर यातना निरन्तर अनुभव करते हैं। मांस की तरह ही उन्हें कड़ाह में भूना जाता है। उनके नेत्रों को कौए, बगुले आदि पक्षियों द्वारा उखाड़ा जाता है। इतने कष्टों को सहकर शरीर के दुकड़े-दुकड़े हो जाने पर भी वे मरते नहीं हैं। उनके छिप-भिन्न अङ्ग पारे की भाँति पुनः मिल जाते हैं। इस प्रकार हुँख भोगकर नारक जीव निज आयु के अनुसार कम से कम दस हजार वर्ष तक एवं अधिक से अधिक तीनों सालरोपम काल व्यतीत करते हैं।

(श्लोक ९०-९१)

‘तिर्यङ्क गति प्राप्त होने पर एकेन्द्रिय जीव रूप में उत्पन्न होकर वे पृथ्वीकायिक होकर हल आदि अस्त्रों द्वारा खोदित और विदारित होते हैं, हस्ती-अश्वादि द्वारा पीसे जाते हैं, जल प्रवाह में प्लावित होते हैं। और दावाग्नि द्वारा दग्ध होते हैं। कटु तीक्ष्णादि रस और सूखादि द्वारा व्यथित होते हैं। यदि लवणत्व प्राप्त हो तो ऊष्ण जल में लिढ़ किए जाते हैं। कुम्हारादि द्वारा वे खोदित व पेषित होकर ईंट आदि में रूपान्तरित होते हैं। फिर उन्हें पकाने के लिए अग्नि को जलाया जाता है। कीचड़ में मिलाकर दीवारों पर चिपकाया जाता है। पत्थर की छेनी आदि अस्त्रों से तोड़ा जाता है। पहाड़ी नदियां भी पृथ्वीकायिक जीव का छेदन-भेदन करती हैं।’ (श्लोक १००-१०४)

‘यदि वे अपकायिक जीव में परिणत होते हैं तो सूर्य के प्रचण्ड ताप में उन्हें जलना पड़ता है, वरक के रूप में घनीभूत बनना पड़ता है, रज द्वारा शोषित होना होता है। क्षारादि रस के सम्पर्क से मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है। पाव में रखकर उन्हें दग्ध किया जाता है, मिपासु उन्हें पान करते हैं।’ (श्लोक १०५-१०६)

‘तेजकायिक रूप में उत्पन्न होने पर उन्हें जल में निर्वापित किया जाता है, हथौड़ी आदि से पीसा जाता है, इधनादि से दग्ध किया जाता है।’ (श्लोक १०७)

‘वायुकायिक रूप में उत्पन्न होने पर फँखादि से आहत होना पड़ता है। ऊष्ण शीतल द्रव्यादि के सम्पर्क से मृत्यु को प्राप्त करना होता है और पूर्ववर्ती वायुकायिक जीवों द्वारा परवर्ती वायुकायिक जीवों को परस्पर के सम्पर्क से बिनष्ट होना होता है। मुखादि द्वारा निर्गत वायु से बाधित होना पड़ता है और सर्पादि उसे पी जाते हैं।’ (श्लोक १०८-१०९)

‘कन्द आदि दस प्रकार के वनस्पतिकायिक जीवों के रूप में जब उत्पन्न होता है तब उन्हें तोड़ा, काटा और अग्नि में दग्ध किया जाता है। उन्हें सुखाया जाता है, कूटा जाता है, घिसा जाता है। लवणादि लगाकर उन्हें जलाया जाता है—हर अवस्था में ही उन्हें खाया जाता है। अन्धड़ से छिन्न होकर वे नष्ट हो जाते हैं, अग्नि में दग्ध होकर भज्म में परिणत हो जाते हैं, जल के प्रवाह में छिन्न-मूल होकर गिर जाते हैं। इसी प्रकार समस्त प्रकार की वनस्पतियां,

सभी जीवों का भक्ष्य होने के कारण हर प्रकार के शस्त्रों से छिन्न-
भिन्न होकर दुःख प्राप्त करते हैं।' (श्लोक ११०-११३)

'बेहन्द्रिय जीवों को जल के साथ उबाला जाता है और पान
किया जाता है, पांव तले कुचला जाता है, पक्षी उन्हें खा डालते हैं।
शाङ्ख-सीपादि को तोड़ा जाता है, जल से बाहर निकाला जाता है।
कुमि आदि के रूप में पेट में उतार्न होने पर अौषधि की सहायता से
बाहर निकाला जाता है।' (श्लोक ११४-११५)

'तेहन्द्रिय जीव जैसे जूँ, खटमल आदि को देह पर ही ढबा
कर पीस दिया जाता है। गर्म जल में डालकर मार दिया जाता
है। चीटियां पैरों के नीचे दबकर पिस जाती हैं, शाङ्ख-पौछ में भी
वे मर जाती हैं। कुंथु आदि सूक्ष्म जीव आसनादि द्वारा पिस जाते
हैं।' (श्लोक ११६-११७)

'नतुरेन्द्रिय जीव मधुमक्खी, भैंवरे आदि मधुलोभियों द्वारा
विनष्ट कर दिए जाते हैं। दंश मसकादि पंसे द्वारा या धुएँ के
प्रयोग से विनष्ट कर दिए जाते हैं। मक्खी, मच्छरों को छिपकली
आदि खा जाती है।' (श्लोक ११८-११९)

'पञ्चेन्द्रिय जलचर जीवों में एक जीव अन्य जीवों को खा
जाते हैं, धीवर द्वारा जल में पकड़ लिए जाते हैं, सारस उन्हें
निभल जाता है, उनके अंग उतारकर उन्हें आग में भूना जाता है,
मत्स्यभोजी उन्हें पकाते हैं। चर्बी प्राप्त करने के लिए भी उनकी
हत्या की जाती है।' (श्लोक १२०-१२१)

'पञ्चेन्द्रिय स्थलचर जीवों में मृगादि दुर्बल जीव सिहादि
बलिष्ठ जीवों द्वारा मार दिए जाते हैं, भक्षण कर लिए जाते हैं।
शिकारी लोग व्यसन और मांस के लिए निरपराध जीवों की नाना
प्रकार से हत्या कर देते हैं। बहुत से जीव क्षुधा, तृष्णा, शीत,
ऊष्णता और अतिभारवहन के दुःखों को भोगते हैं, चायुक से उन्हें
शासित किया जाता है, अंकुश और शूल से प्रताड़ित किया जाता
है।' (श्लोक १२२-१२४)

'पञ्चेन्द्रिय खेचर जीवों में कपोत आदि पक्षी मांस-लोलुप
बाज, गिढ़ों द्वारा भक्षित होते हैं। मांसभक्षी मनुष्य विभिन्न किस्म
के जालों में उन्हें आवद्ध कर शस्त्रादि से विनष्ट करते हैं। अग्नि,

जल और अस्त्र से उत्पन्न उनके भव का वर्णन करना दुःसाध्य है।'
(श्लोक १२५-१२७)

'मनुष्य जन्म में भी जो अनार्य देश में उत्पन्न होते हैं वे इतना पाप करते हैं कि कहा नहीं जा सकता। आर्य देश में जन्म लेने पर भी चण्डालादि जाति अनार्यों की तरह ही पाप वाह भीषण कष्ट पाते हैं। आर्य देश में जन्म लेकर कुछ व्यक्ति अनार्यों की तरह आचरण करते हैं और परिणामस्वरूप दारिद्र और दुर्भाग्यादि द्वारा पीड़ित होकर निरन्तर दुःख-भोग करते हैं। कितने ही मनुष्य अन्य को वैभवशाली और स्वयं को दरिद्र देखकर दुःख और सन्नापणूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। कितने ही मनुष्य रोग, जरा व मरणासन्ध होकर अशाता-वेदनीय कर्म के उदय से इस प्रकार विडम्बना भोगते हैं कि उन्हें देखकर भी दया आती है।' (श्लोक १२८-१३२)

'मनुष्य गर्भावास में जो दुःख अनुभव करता है वह और नरक के दुःख के अनुरूप है। गर्भावास में इस प्रकार कष्ट होता है जैसा रोग, वृद्धावस्था, दासत्व या मृत्यु से भी नहीं होता। अग्नि में तप्त सूहयों को यदि मनुष्य शरीर के प्रत्येक रोम में एक साथ बीध दिया जाए उससे जो दुःख होता है गर्भावास का दुःख उससे भी अनन्त गुना अधिक है।' (श्लोक १३३-१३५)

'बाल्यावस्था मल-मूल में, यौवन रति-विलास में और वृद्धावस्था में श्वास-खांसी आदि व्याधि से पीड़ित होकर व्यतीत होता है, फिर भी वे लज्जाहीन-सा व्यवहार करते हैं। अशुचित्व के कारण बाल्यकाल सूअर के जीवन-सा, काम-भोग के कारण यौवन गर्दभ के जीवन-सा और असमर्थ हो जाने से वृद्धावस्था तूँड़े वलद के जीवन-सा दापत करते हैं; किन्तु कभी मानव बनने की चेष्टा नहीं करते। शिशुकाल में वह मातृ-मुखी, यौवन में पत्नी-मुखी और वृद्धावस्था में पुत्र-मुखी हो जाता है; किन्तु कभी भी यह अर्थात् आत्म-मुखी नहीं होता। धनार्जन की इच्छा से विह्वल होकर मनुष्य नीकरी, कृषि, व्यवसाय, पशुपालन आदि कायों में रत होकर अपने जीवन को निष्कल व्यतीत करता है। कभी चोरी करता है, कभी जुआ खेलता है, कभी हीन कर्म कर वह संसार परिभ्रमण को बढ़ाता ही जाता है।' (श्लोक १३६-१४०)

मुखी मनुष्य भोहान्ध होकर काम-विलास में और दुःखी

मनुष्य क्रन्दन करने में मनुष्य-जन्म को नष्ट करता है; किन्तु धर्म-कार्य नहीं करता। जिस मनुष्य-जीवन द्वारा अनन्त कर्म-समूहों को नष्ट किया जा सकता है उस मनुष्य-जन्म में भी पापी मनुष्य पाप ही करता है। मनुष्य-जन्म ज्ञान, दर्शन और चरित्र इन तीन रत्नों का पाल है, आधार है। ऐसे सर्वोत्तम जीवन में पाप कर्म करना तो स्वर्ण-पाद में भद्रिया-पान करने जैसा है। मनुष्य-जन्म की प्राप्ति जब कि शमिलायुग की तरह दुर्लभ है तब भी मूर्ख मनुष्य चित्तामणि रत्न के समान इस मनुष्य जीवन को पाप-कर्म में बृथा नष्ट कर देते हैं। मनुष्य-जन्म स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति का कारण रूप है; किन्तु आश्चर्य है इसी मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी वह पाप कर्म करके नरक प्राप्ति तो साक्षन् बना देता है। अनुत्तर विमान के देव भी मनुष्य जन्म पाने की कामना करते हैं; किन्तु पापी मनुष्य उसी दुर्लभ मानव-जीवन को प्राप्त करके भी पाप कर्म में आसक्त रहते हैं। नरक का दुःख तो परोक्ष है; किन्तु मनुष्य-जन्म का दुःख तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। अतः इसका विस्तृत विवरण देना अनावश्यक है।

(प्रलोक १४१-१४७)

'देवगति' में भी दुःख कम नहीं है। शोक अमर्द, लेद, ईर्ष्या और हीनता से देवों की बुद्धि भी विकृत है। अन्य का विशेष वैभव और स्वर्ण की हीन दशा देखकर वे अपने पूर्व जन्म में शुभ कर्म उपाजीन नहीं करने पर लेद करते हैं। अन्य बलवान् और क्रहिदि सम्पन्न देवों द्वारा अपमानित और उनका प्रतिकार करने में असमर्थ होने के कारण अल्प क्रहिदि सम्पन्न देव भी चिन्ता करते हैं, शोकग्रस्त होते हैं। वे मन ही मन पश्चात्ताप करते हैं कि हमने पूर्व जन्म में कुछ भी सुकृत्य नहीं किया इसीलिए देवभव प्राप्त करके भी दास रूप में उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार चिन्ता करते हुए अधिक वैभव-शाली देवों के विमान, देवियाँ, रत्न और उपवनादि वैभव देखकर जीवन पर्यन्त ईर्ष्या की अग्नि में दग्ध होते रहते हैं। अधिक सत्त्व-सम्पन्न देव, क्रम-सत्त्व सम्पन्न देवताओं की क्रहिदि एवं देवांगनाओं का हरण कर लेते हैं। इससे निराश्रित होकर वे देव निरन्तर शोक करते रहते हैं। पुण्यकर्म से देवगति प्राप्त करके भी वे काम, क्रोध और भय से आतुर रहते हैं। फलतः वे स्वर्ग के आनन्द का पूर्ण अनुभव नहीं कर पाते।

(प्रलोक १४८-१५४)

‘जब देवों का आगुष्य छह महीने का रहता है तब अपनी देह में मृत्यु-चिह्न देखकर भयभीत हुए वे सोचते हैं उनका च्यवन कहाँ होगा ? जैसे-जैसे उनकी अम्लान पारिजात माला मलिन होती जाती है वैसे-वैसे उनका मुख-कमल भी मलिन होने लगता है । जिस कल्पवृक्ष को प्रबल झड़ावात भी कम्पित नहीं कर सकता वही कल्पवृक्ष च्यवन समय जितना ही निकट होता है उतना ही शिथिल होता जाता है । उत्तरि के समय प्राप्त प्रियलक्ष्मी व लज्जा उनका परित्याग कर देती है मानो वे अपराधी हैं । निरन्तर निर्भल और सुशोभित रहने वाले उनके वस्त्र भी मलिन और अशोभनीय हो जाते हैं । मृत्यु-समय निकट आने पर चीटियों के जैसे पंख निकल आते हैं उसी भाँति देव अदीन होने पर भी दीन और बीतनिद्र होने पर भी निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं । दुःखों से आकुल होकर जैसे मनुष्य मृत्यु की कामना करता है वैसे ही वे त्याय और धर्म परित्याग कर विषय के प्रति अनुरागी होते हैं । यद्यपि देवों को कोई रोग नहीं होता, फिर भी मृत्यु निकट आने पर उनका शरीर शिथिल हो जाता है और सन्धि स्थलों में वेदना अनुभूत होती है । उनके नेत्रों की हृष्टि सहसा ध्रुँधली हो जाती है जैसे दूसरों के ऐष्वर्य को देखकर हृष्टि मन्दीभूत होती है । भविष्य में गभविति में रहना होगा यह सोचकर और उस धृणित दुःखमय स्थिति का अनुभव कर उनकी देह इस प्रकार काँपने लगती है कि दूसरे भी भयभीत हो जाते हैं । इस भाँति च्यवन चिह्न देखकर और अपना प्रयाणकाल निकट जानकर वे इस प्रकार व्याकुल हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि में दम्ध होकर मनुष्य व्याकुल हो जाता है । उस समय न विमान, न वायिका और न नन्दनवन ही उनको आनन्द दे पाता है । उस समय वे इस भाँति चिलाप करते हैं—हे मेरी प्राण प्रिय देवांगना, हे मेरे विमान, हे मेरे कल्पवृक्ष और वायिका, मैं तुम सबसे कितना दूर चला जाऊँगा ? फिर कब तुम सबको देख पाऊँगा ? हे प्राण प्रिय तुम्हारी अमृत-सी हँसी, अमृत-से तुम्हारे रक्ताधर, असृत-सी तुम्हारी वाणी, तुम्हारा सौन्दर्य अब किसका होगा ? यह रत्न-जड़ित स्तम्भ-युक्त देव विमान, मणिमय भूमि और रत्नमय वेदिका को अब न जाने कौन अवहार करेगा ? हे रत्नमय सोपानयुक्त व रक्त और नील उत्पल शोभित वायिका, अब न जाने कौन तुम्हारा उपभोग

करेगा ? हे पारिजात, हे सन्तान, हे मन्दार, हे हरिचन्दन और कल्पबृक्ष, क्या तुम सब अपने स्वामी का परित्याग करोगे ? हमें क्या नरक तुल्य नारी के गर्भ में वास करना होगा और अशुचि रसों का आस्वादन कर देह का निर्माण करना होगा ? हाय ! कर्म द्वारा बाध्य होकर जठराभ्नि रूप चूहे में पकने का दुःख फिर सहन करना होगा ? कहाँ रति-सुखों की आकर ये देवांगनाएँ और कहाँ अशुचि मानवी के साथ संभोग ?' इस भाँति स्वर्गीय सुखों का स्मरण कर विलाप करते-करते जैसे दीप निर्वापित हो जाता है उसी प्रकार वे स्वर्ग से अच्युत हो जाते हैं। अतः इस संसार को असार समझकर बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य है कि वह शामण्य ग्रहण कर संगार का अन्त करने वाली मुक्ति को प्राप्त करे। (प्लोक १५५-१७५)

भगवान् ही दहु देहादा सुरकर एक हजार लोग शामण्य और अन्यों ने सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया। भगवान् के सुब्रत आदि १०७ गणधर हुए। उन्होंने भगवान् से विपदी धारण कर द्वादश अंगों की रक्षा की। भगवान् की देशना समाप्त होने पर गणधर सुब्रत ने देशना दी। कुएँ का कार्य जैसे जल नाली करती है वैसे ही मुरु का कार्य शिष्य करता है: जब उन्होंने देशना शेष की तद विलोक्यति को प्रणाम कर देव स्व-स्व विमान को लौट गए। (प्लोक १७६-१७९)

भगवान् के तीर्थ में कृष्णवर्ण, हरिणवाहन कुसुम नामक यक्ष उत्पन्न हुआ जिसके दाहिनी और के एक हाथ में नींबू विजोरा था एवं अन्य हाथ अभय मुद्रा में था। बायीं ओर के एक हाथ में नकुल और अन्य में अक्षमाला थी। वे शासन देव बनकर भगवान् के निकट अवस्थित हुए। इसी प्रकार कृष्णवर्ण, मानववाहना अच्युता देवी यक्षिणी रूप में उल्लङ्घ हुई। उनके दाहिने हाथ के एक हाथ में पाश और अन्य हाथ वरद-मुद्रा में था। बायीं ओर के एक हाथ में धनुष था और अन्य हाथ अभय-मुद्रा में था। वे भगवान् पद्मप्रभ की शासन देवी बनीं। (प्लोक १८०-१८३)

भगवान् के तीर्थ में ३ लाख ३६ हजार साढ़ु, ४ लाख २० हजार साड़िवर्धी, २ हजार ३ सौ पूर्वधर, १० हजार अवधिज्ञानी, १० हजार ३ सौ मन: पर्यवज्ञानी, १२ हजार केवली, १६ हजार १ सौ ८ वैक्रिय लज्जिधारी, ९ हजार ६ सौ बादी, २ लाख ७६ हजार श्रावक और ५ लाख ५ हजार श्राविकाएँ थीं। भगवान् ने

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् १६ पूर्वाङ्ग ६ मास कम एक लाख पूर्व तक संयम का पालन किया। (श्लोक १८४-१९१)

निर्वाण समय निकट जानकर भगवान् सम्मेत-शिखर पर्वत पर गए और एक मास का उपवास किया। अग्रहण कृष्णा एकादशी को चन्द्र जब चित्रा नक्षत्र में था तब अपने चार अधाती कर्मों को क्षयकर तिछों के चार अन्तर आरह लिए। चतुर्थ इवाच में मनुष्य की चतुर्थ स्थिति अथर्ति मोक्ष को प्राप्त किया। उनके शाश्वत अनशन लेने वाले ८०३ साधु भी मोक्ष को प्राप्त हुए। (श्लोक १९२-१९३)

साढ़े सात लाख पूर्व और सोलह पूर्वाङ्ग राजकुमार रूप में साढ़े इक्कीस लाख पूर्व राज्य की रक्षा करते हुए और एक लक्ष पूर्व कम सोलह पूर्वाङ्ग व्रत ग्रहण कर इस पृथ्वी पर उन्होंने विचरण किया। इस प्रकार भगवान् पश्चप्रभ की सर्वायु ३० लाख पूर्व की थी। सुमतिनाथ के निर्वाण के ९ हजार कोटि सागर के पश्चात् भगवान् पश्चप्रभ का निर्वाण हुआ। (श्लोक १९४-१९६)

भगवान् के निर्वाण के पश्चात् ६४ इन्द्र वहाँ आए और भगवान् एवं मुनियों की देह का भक्ति भाव से संस्कार कर निर्वाण काल्याणक उत्सव किया। (श्लोक १९७)

चतुर्थ तर्गं समाप्त

पंचम तर्ग

तट को प्लावित करने वाली केवल-समुद्र की तरंगों की तरह श्री सुपार्श्व जिन की वाणी तुम्हारी रक्षा करे। जीवों के मिथ्यात्व-रूप अनधिकार के लिए सूर्य-किरणों की तरह उज्ज्वल सप्तम तीर्थेश्वर श्री सुपार्श्वनाथ जिन के जीवनवृत्त का मैं अब वर्णन करूँगा। (श्लोक १-२)

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह में रमणीय नामक विजयमें दोमपुरी नामक एक नगरी थी। वहाँ पृथ्वी को आनन्दप्रदानकारी सूर्य की भाँति भास्वर समृद्धि के निवासरूप नन्दीसेन नामक एक राजा राज्य करते थे। धर्म ही मानो उनका भन्नी और दाहिना हाथ था, ऐसे वे राज्य कार्य में सदैव जागरूक रहते थे। प्रजा के सुख में कंटक रूप व्यक्तियों का जब वे विनाश करते तो उनका वह

कोध भी धर्म के लिए ही होता था। और उनका कार्य? उनकी यह विशेषता थी कि अर्हन् और मित्र दो उनके मस्तिष्क में रहते हैं वे मानो उनके हृदय में विराजते थे। वे दुख से पीड़ितों के आश्रय-रूप थे; किन्तु विरह-पीड़ितों के लिए कभी भी किसी भी प्रकार से नहीं। जैसे-जैसे दिन व्यतीत होते गए वैसे-वैसे वे संसार से विरक्त होते हुए अन्ततः आचार्य अरिदमन से दीक्षित हो गए। निष्ठा सहित ब्रतों का पालन करते हुए कई एक स्थानकों की उपासना कर उन महामुनि ने तीर्थद्वार गोद्र कर्म उपार्जन किया। योग्य समय में अनशन प्रहण कर उन्होंने देह का त्याग किया और षष्ठ ग्रन्थेष्वर में ऋद्धि सम्पन्न देव के रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक ३-११)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में काशी देश की अलाङ्कार तुल्य वाराणसी नामक एक नगरी थी। वहाँ के गृहों की प्राचीरें मणि-जड़ित थीं इसलिए वहाँ प्रदीप केवल भगवान् की पूजा के समय ही जलता था। वहाँ के मन्दिरों के उच्च सुवर्ण-दण्डों में संलग्न चन्द्र मात्र धर्म-छत्र के रूप में ही शोभित होता था। जम्बूद्वीप के चारों ओर की जगती के वातायनों को भूलकर विद्याधरियाँ नगरी के प्राकारों के सुरक्षा-स्तम्भों पर बैठकर विश्राम-मुख उपभोग करती थीं। इस नगरी के प्रत्येक गृह में रति-पति को कल्याण-मार्ग की शिक्षा देने के लिए ही जैसे रात में कपोत-कपोती कूजन करते थे।

(श्लोक १२-१६)

वहाँ के राजा का नाम था प्रतिष्ठ। वे धर्मनिरागी थे, भव्य-जनों के लिए ख्याति की कल्पवृक्ष तुल्य और इन्द्र की तरह ख्याति सम्पन्न थे। समस्त पृथ्वी उनके चरणाश्रित थी। कारण, वे मेह की तरह सामर्थ्य में अनन्त थे। वे जब दिग्बिजय के लिए निकलते थे तब आकाश श्वेतछत्र में सारस-मय और मयूर पुच्छ के छत्र में मेघमय हो जाता था। युद्ध क्षेत्र में वीरवत से अलंकृत होकर शत्रुओं से अपना मुँह कभी नहीं फिराते थे मानो वे उनके याचक हों। जन्म से ही किसी सहायता के बिना उन दीर्घबाहु ने कमल कीड़नक की तरह पृथ्वी को धारण कर रखा था। (श्लोक १७-२१)

पृथ्वी की भाँति ही कमा, धृति आदि गुणों से सम्पन्न पृथ्वी नामक उनकी एक रानी थी। उनके सहज गुण और सौन्दर्य अलंकार

तुल्य थे अतः उनके बाहरी अलंकार तो मात्र अलंकृत ही होते थे । तांत्रपर्णी नदी में जिस प्रकार मुक्ता शोभा पाते हैं निष्कलंक उनमें उसी प्रकार विभिन्न गुण शोभा पाते थे । पद्म-मुख, पद्म-लोचन, पद्म-हस्त, पद्म-चरण युक्त उनकी देह मानो श्री देवी का लावण्य तरंग युक्त अन्य पद्म-सरोवर था । वे तीर्थङ्कर की माँ बनेंगी इस भावना से और उनके रूप के कारण देवियां आकर उनकी सेवा करतीं ।

(श्लोक २२-२६)

षष्ठि ग्रन्थेयक विमान से नन्दीसेन के जीव ने अपनी अट्टाइस सागरोपम की आयुष्य पूर्ण की । भाद्र कृष्णा अष्टमी को चन्द्र जब रात्रा नक्षत्र में था तब नन्दीसेन के जीव ने च्युत होकर पृथ्वी देवी के गर्भ में प्रवेश किया । सुख-शत्र्या पर सोई पृथ्वी देवी ने रात्रि के शेष भाग में तीर्थङ्कर के जन्म-सूचक चौदह महास्वप्न देखे । गर्भ के बढ़ने के समय उन्होंने स्वर्ण को एक, पांच और नी फणों से युक्त सर्प की शत्र्या पर सोते हुए देखा । ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को चन्द्र जब विशाखा नक्षत्र में था तब उन्होंने बिना किसी कष्ट के स्वर्ण-वर्ण, स्वस्तिक त्रिहूमुक एक गुत्र को जन्म दिया ।

(श्लोक २७-३१)

छप्पन दिक्कुमारियां अवधिज्ञान से तीर्थकर का जन्म अवगत कर तीव्रगति से वहां आईं और जन्म समय की क्रियाएँ सम्पन्न कीं ।

इस भाँति शक्र भी वहां आए और जगत्पति को मेरु-शिखर स्थित अतिपाण्डुकबला नामक शिला पर ले गए । धात्री की भाँति जगन्नाथ को गोद में लेकर वे रत्नजडित सिंहासन पर बैठे । व्वेतु इन्द्रों ने पर्याय-क्रम से तट-स्थित पहाड़ को समुद्र तरंग जैसे अभिषिक्त करती है उसी प्रकार तीर्थजल से तीर्थपति को अभिषिक्त किया । भगवान् को ईशानेन्द्र की गोद में देकर शक्र ने फुहारें निकलते जल की तरह स्फटिक वृष्टों के सींगों से निकलते जल से उनको अभिषिक्त किया । भगवान् की देह पर गो-शीर्ण चन्दनादि विलेपन कर वस्त्राभूषणों से उनकी उपासना कर गौधर्मेन्द्र ने इस प्रकार स्तुति की :

(श्लोक ३२-३७)

'अगम्य स्वभाव सम्पन्न आपकी स्तुति करने का प्रयास मेरे लिए बन्दर का छलांग लगाकर मूर्य को पकड़ने जैसा है । फिर भी भगवान्, आपकी शक्ति से मैं आपकी स्तुति करूँगा । कारण,

चन्द्र-किरणों हे ही चन्द्रकाण्डा मणि उताह होली है ; अपने समस्त कल्याणकों में आप जब नारक जीवों को भी आनन्दित करते हैं तब तिर्यच, मनुष्य और देवों को क्यों आनन्दित नहीं करेंगे ? आपके जन्म-कल्याणक के समय जो आलोक लिलोक में व्याप्त हुआ था आपके केवल ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश में वह रक्तवर्ण धारण करेगा । हे प्रभो, आपकी अनुकूलता से ही मातो समस्त दिशाएँ अनुकूल हुई हैं । यह सुखप्रद बायु कल्याण के लिए ही प्रवाहित हो । हे भगवन्, आप जब जगत को आनन्द दान करते हैं तब उसे निरानन्द कीन कर सकता है ? मुझ अविवेकी को धिक्कार है ! हे प्रभो, हमारे आसन ही धन्य हैं जो कम्पित होकर आपके जन्म को तुरन्त धोषित कर देते हैं । यद्यपि निदान करता निषिद्ध है फिर भी मैं यह निदान करता हूँ कि हे प्रभो, आपके दर्शनों के फलस्वरूप आपमें मेरी भक्ति अविचल रहे ।

(श्लोक ३८-४५)

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र भगवान् को लेकर त्वरित गति से लौट गए और नहीं जान सके इस प्रकार रानी पृथ्वी देवी के पाश्व में शिशु को सुला दिया । वन्दियों की सुक्ति थादि महत् कार्यों द्वारा राजा ने प्रजा को आनन्दित कर आनन्द वृथ की तरह पुद्म-जन्म का महा-महोत्सव किया । जब प्रभु गर्भ में थे उनकी माँ का पाश्व अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ता था । इसीलिए राजा प्रतिष्ठ ने पुत्र का नाम सुधाश्वर रखा । शक द्वारा रक्षित अंगुष्ठ का अमृत-पान कर वे कमशः बड़े होने लगे । मातृ-स्तन पान नहीं करने के कारण अहंत् देवों के लिए भी पूज्य होते हैं । बाल-चञ्चलता के कारण वे बार-बार धात्रियों की गोद से उत्तरकर यहां-वहां खेलने लगे । जो देव मनुष्य-रूप धारण कर बाजी लगाकर उनके साथ खेलते उन्हें वे सहज ही पराजित कर देते थे । कीड़ा में भी अहंतों के तुल्य कीन हो सकता है ? कामी जिस प्रकार कीड़ा कर रात्रि व्यतीत करता है उसी प्रकार नानाविधि कीड़ा कर उन्होंने बाल्यकाल विताया ।

(श्लोक ४६-५२)

दो सौ धनुष दीर्घ और सर्व मुलक्षण युक्त प्रभु ने सौम्दर्य के अलंकार तुल्य यौवन को प्राप्त किया । पिता-माता के प्रति आदर रखने के कारण उन्होंने बिबाह किया । पिता-माता की आज्ञा तो विजगत्पति के लिए भी पालनीय है । फिर अपने भोग-कर्मों को भी

तो क्षय करना था । कारण वे तो कर्म-क्षय में ही निरत रहते थे । युवराज रूप में पाँच लाख पूर्व व्यतीत होने पर पिता की आज्ञा से पिता द्वारा प्रदत्त पृथ्वी का भार उन्होंने ग्रहण किया । पृथ्वी का शासन करते हुए प्रभु ने चौदह लाख पूर्व और बीस पूर्वांग व्यतीत किए । (श्लोक ५३-५७)

संसार से उनकी विरक्ति को देखकर ब्रह्मलोक से लोकान्तिक देव आए और उन्हें उद्बुद्ध करते हुए बोले - 'जो स्वयंसंबुद्ध होते हैं वे हमारे द्वारा प्रतिबोधित नहीं होते, हम तो उन्हें स्मरण करवाते हैं । प्रभो आप तीर्थ की प्रतिष्ठा करिए ।' ऐसा कहकर वे स्वर्ग लौट गए । (श्लोक ५८-५९)

दीक्षा समारोह के लिए सुपार्श्व स्वामी ने दक्षिणा के कल्परत्न हीं इस प्रकार एक वर्ष तक दान दिया । एक वर्ष पश्चात् आसन कम्पायमान होने से इन्द्र ने आकर उसका दीक्षा समारोह सम्पन्न किया । मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने के अभिलाषी जगत्पति ने रत्न-जड़ित मनोहरा नामक शिविका में आरोहण किया । देव, असुर और राजन्यकों द्वारा परिवृत्त होकर वे सहस्राङ्गवन नामक सुन्दर उद्यान में थे । तीनों जगत् के अलंकार रूप प्रभु ने अपने अलंकारों को खोल दिया और शक्ति प्रदत्त देवदूष्य स्कन्ध पर रखा । ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी के दिन चन्द्र जब राधा नक्षत्र में था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् प्रभु ने सहस्र राजाओं सहित दीक्षा ग्रहण की । उन्हें तभी चतुर्थ मनःपर्यंव ज्ञान उत्पन्न हुआ । मुहूर्त भर के लिए नारकी जीवों को भी सुखानुभव हुआ । (श्लोक ६०-६६)

दूसरे दिन पाटलीखण्ड नगरी में राजा महेन्द्र के प्रासाद में खीरान्न ग्रहण कर प्रभु ने दो दिनों के उपवास का पारणा किया । देवताओं ने रत्न वर्षा आदि पाँच दिव्य प्रकटित किए । राजा महेन्द्र ने जहाँ प्रभु खड़े थे वहाँ रत्न-मणित पाद-पीठ का निर्माण करवाया । (श्लोक ६७-६८)

जिस प्रकार पर्वत उत्ताप को विनष्ट करता है उसी प्रकार लिजगत्पति उपसर्ग रूप वाहिनी को पराजित कर देह की कामता से भी शून्य स्वर्ण और कुश में सम्भाव सम्पन्न हुए । लिजगत्पति ने छद्मस्थ रूप में एकाकी, मौतावलम्बी, नासाग्रहणि सम्पन्न, विविध संकल्पों में संलीन, नियत थमशील, निर्भय, दृढ़, विविध प्रतिमाओं

को धारण कर ध्यान में लीन रहते हुए नौ मास पर्यंत समस्त पृथ्वी पर विचरण किया । (श्लोक ६९-७१)

विचरण करते हुए वे पुनः सहस्रा प्रथम उधान में लौट आए एवं शिरीष वृक्ष तले दो दिनों के उपवासी प्रतिमा धारण कर अवस्थित हो गए । प्रभु ने शुबल ध्यान के द्वितीय पाद के अन्त में संसार-वृद्धि के कारण रूप घाती कर्मों को विनष्ट किया । फालगुण कृष्ण अष्टमी को जबकि चन्द्र विशाखा नक्षत्र में था भगवान् सुपाश्वनाथ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । (श्लोक ७२-७४)

भूत्य की भाँति देवेन्द्र और अमुरेन्द्र मुहूर्तमात्र में वहाँ उपस्थित हुए और प्रभु की देशना के लिए समवसरण का निर्माण करवाया । तब विजगत्यति मानो मोक्ष के द्वार में प्रवेश कर रहे हैं इस प्रकार पूर्व द्वार से उसमें प्रविष्ट हुए । पृथ्वी के कल्पवृक्ष रूप भगवान् ने चैत्य वृक्ष को तीन प्रदक्षिणा दी । वह चैत्यवृक्ष एक कोस और ४०० धनुष दीर्घ था । तदुपरान्त 'ममो तित्थाय' कहकर दिव्य अतिशयों से युक्त भगवान् शेष सिंहासन पर उपवेशित हुए । मौ पृथ्वी ने स्वप्न में जैसा सर्प देखा था इन्द्र ने वैसा ही एक सर्प प्रभु के मस्तक पर निर्मित किया । यह द्वितीय छत्र-सा लगता था । उसी समय से प्रभु के अन्य समवसरणों में एक फण, पाँच फण और नौ फणों से युक्त सर्प स्थापित होने लगे । उन्हीं की शक्ति से देवों ने उनके अनुरूप तीन प्रतिबिम्बों का निर्माण कर उन्हें अन्य तीनों और रखा । इस प्रकार यथास्थान समवसरण नियोजित हुआ । साधारण मनुष्य भी भीड़ न कर यथास्थान अवस्थित हो गए । (श्लोक ७५-८२)

तदुपरान्त सौधर्म कल्प के इन्द्र ने दोनों हाथ ललाट पर लगाकर अनन्दना कर निम्नलिखित स्तुति की :

'हे सप्तम तीर्थंकर, पृथ्वी रूप कमल के लिए सूर्य रूप भगवान् आपको नमस्कार है । हे भगवन्, सभी के दुःखों का अवसान हो गया और आनन्द लौट आया है । संघ की प्रतिष्ठा में मानो सब कुछ प्रतिष्ठित हो गया है । हे धर्मचक्रवर्ती, आपकी वाणी के दिव्य दण्ड रत्न से आज वैताह्य पर्वत के द्वार की भाँति मोक्ष द्वार खुल जाएगा । मैं श्रोदय जैसे उत्ताप को विनष्ट कर आनन्द का संचार करता है । उसी प्रकार आपका अम्बुद्य वेदना को नाश कर समस्त जीव-जगत् में आनन्द का संचार करता है । दरिद्र को धन

प्राप्ति की भाँति दीर्घि काल के पश्चात् है भगवन् आपकी अनन्त ज्ञान सम्पद वाणी को हम सुनेंगे। आपका दर्शन कर और विशेष रूप से आपको मोक्ष द्वारा उन्मुक्तकारी देशना सुनकर आज हम चरितार्थ होंगे। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख युक्त जिनकी आत्मा है ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न और आत्मलीन हैं। इन्द्र पद प्राप्ति का तो मूल्य ही क्या है जबकि हे लोकनाथ, आपकी सेवा कर ही शोक आप जैसा हो सकता है।

(श्लोक ८३-९१)

इन्द्र के इस प्रकार स्तुति कर चुकने के पश्चात् भगवान् ने अपनी देशना प्रारम्भ की :

‘यहाँ जो कुछ भी है सब कुछ आत्मा से भिन्न है। फिर भी मूर्ख मनुष्य सांसारिक वस्तुओं के लिए कर्म द्वारा शब्द साकर में लूटते रहते हैं। जबकि देह जीव से भिन्न है। तब एकदम भिन्न वर्थ परिजन बन्धु-बान्धुओं की भिन्नता के विषय में तो कहना ही क्या है? जो स्व-आत्मा से देह, धर्म, बन्धु-बान्धुओं को भिन्न देखता है उन्हें दुःख रूपी शूल की वेदना क्यों होगी? जब आत्मा से ही पार्थक्य है तब देहादि जो कि स्वभाव से ही भिन्न है उनकी भिन्नता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

(श्लोक ९२-९७)

‘देह को इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है; किन्तु आत्मा को अनुभव द्वारा जाना जाता है। यदि ऐसा ही है तो उनकी अभिन्नता का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? (प्रश्न) यदि कहा जाए शरीर और आत्मा भिन्न हैं तब शरीर पर हुए आधात से आत्मा क्यों दुःखी है? (उत्तर) जो आत्मा को देह से भिन्न अनुभव नहीं करते उन्हें देह पर हुए आधात का सचमुच ही अनुभव होगा; किन्तु जिन्हें देह और आत्मा भिन्न हैं यह ज्ञान हो गया है वे पितृ वियोग जैसे दुःख का भी अनुभव नहीं करते। जिन्हें इस भिन्नता का ज्ञान नहीं है उन्हें भूत्यादि सामान्य व्यक्ति के लिए भी दुःख होता है। अनात्मीय भावना से पुनः भी पराया हो जाता है, जो भूत्य है वह भी आत्मीय भावना से अपना हो जाता है। संयोग सम्बन्ध को जो जितना आत्मीय समझकर स्नेह करता है वह अपने लिए उतना ही शोक रूपी शूल का सर्जन करता है। एतदर्थं जो ज्ञानी है वह समस्त वस्तुओं को आत्मा से भिन्न समझता है। इस भाँति जिसकी अन्यत्व

बुद्धि ही जाती है वह किसी वस्तु के विषयों होने पर मोह को प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार लौकी की खोल पर लगी मिट्टी भुल जाने पर वह जल पर तैरने लग जाती है उसी प्रकार अन्यत्व रूप भेद ज्ञान से जिसका मोह-मल विगलित हो गया है वह श्रामण्य ग्रहण कर अल्प समय में ही संसार-सागर को पार कर जाता है।

(श्लोक १०८-१०९)

इस देशना की सुनकर बहुत-से व्यक्तियों को सम्प्रवत्त्व की प्राप्ति हुई, कोई श्रमण बने, कोई शावक। विदर्भ आदि ९५ गणधर हुए और उन्होंने प्रभु की देशना से बारह अंगों की रक्तना की। प्रभु की देशना शेष होने पर गणधर-प्रमुख विदर्भ ने प्रभु के पाद-पीठ पर बैठकर देशना दी। जब गणधर-प्रवचन समाप्त हुआ तब देव और अन्यान्य जन भगवान् को बन्दना कर स्व-स्व स्थल को लौट गए।

(श्लोक १०८-१०९)

मुषाश्वर्णनाथ के तीर्थ में कृष्णवर्ण हस्तीवाहन मातंग नामक यक्ष उत्पन्न हुए जिनके दाहिनी ओर के दोनों हाथों में विलव और पाश थे और बायीं ओर के दोनों हाथों में नकुल और मदा थी। ये मुषाश्वर्ण स्वामी के शासन देव हुए। इसी प्रकार उनके तीर्थ में कनकवर्ण हस्ती-वाहना शान्ता नामक देवी उत्पन्न हुई जिनके दाहिनी ओर के दोनों हाथों में एक हाथ वरद मुद्रा में था और अन्य हाथ में अक्षमाला थी। बायीं ओर के दोनों हाथों में से एक अभय-मुद्रा में था दूसरे में त्रिशूल था। (श्लोक ११०-११३)

तदुपरान्त प्रभु सूर्य जैसे कमल को प्रस्फुटित करता है उसी प्रकार भव्य जीवों को प्रमुदित कर ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में विचरने लगे। प्रभु के तीर्थ में तीन लाख साढ़ु, चार लाख तीस हजार साढ़ियाँ, दो हजार तीस चौदह पूर्वधर, नौ हजार अवधिज्ञानी, नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्यव ज्ञानी, स्यारह हजार केवली, पन्द्रह हजार तीन सौ कैन्त्रियलघ्डिधारी, चौरासी सौ बादी, दो लाख सत्तावन हजार श्रावक एवं चार लाख तिरानवे हजार श्राविकाएँ थीं। (श्लोक ११४-११७)

भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् बीस पुर्वगि और नौ महीने कम एक लाख पूर्व व्यतीत होने के पश्चात् वे सम्मेद शिखर पर्वत पर गए। वहाँ देवों एवं असुरों द्वारा सेवित होकर

पाँच सौ मुनियों सहित प्रभु ने सिद्ध गति प्राप्त की ।

(श्लोक ११८-१२२)

सुपार्ष्व प्रभु ने पाँच लाख पूर्व तक युवराज रूप में, चाँदह लाख पूर्व और बीस पूर्वाङ्ग तक राजा रूप में, बीस पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व तक व्रती रूप में व्यतीत किए । धापकी समूर्ण आयु बीम लाख पूर्व की थी । सुपार्ष्व स्वामी का निवाण पद्म-पद्म स्वामी के निवाण के नी हजार कोड़ सागरोपम के पश्चात् हुआ ।

(श्लोक १२३-१२५)

अच्युतेन्द्रादि ने प्रभु और मुनियों की दाह-क्रिया सम्पन्न कर निर्वाणिकल्याणक उत्सव मनाया । (श्लोक १२६)

पंचम सर्ग समाप्त

षष्ठ सर्ग

ॐ । भगवान् चन्द्रप्रभ की चन्द्रिका-सी वाणी जयवत हो जो कि तमः का नाश कर आनन्द देती है । मैं भगवान् चन्द्रप्रभ स्वामी का जीवन जो सूर्यतिप की तरह अद्य जनों के अज्ञान अन्धकार को गलाने में समर्थ है उसका बर्णन करता हूँ । (श्लोक १-२)

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह के अलंकार-तुल्य मणिलावती विजय में रत्न-संचय नामक एक नगरी थी । उस नगरी के राजा का नाम था पद्म । वे पद्मा के पद्म-निकेतन तुल्य और सामर्थ्य में भोगवती के नागराज की तरह अत्यन्त शक्तिशाली थे । सदा दिव्य गीत परिवेशनकारी गन्धर्वों द्वारा सेवित वे अप्सराओं-सी गणिकाओं द्वारा परिवृत्त रहते थे । दिव्य गन्ध वस्त्र और अलंकारादि द्वारा उनका सुन्दर शरीर चर्चित और घोषित होता था । उनका आदेश राजाओं द्वारा दिन-रात पाला जाता था व कोशागार कभी शून्य नहीं होता । उनकी प्रजा सर्वतः समृद्धिशाली थी । उसे किसी प्रकार का अणु-मात्र भी दुःख नहीं था । (श्लोक ३-५)

उनके प्रमुख वे राजा तत्त्वज्ञात कर संसार से विरक्त हो गए । (श्लोक ८)

इन्द्र जिस प्रकार पर्वत विनष्ट करने को वज्र ग्रहण करते हैं उसी प्रकार उन्होंने संसार विनष्ट करने को गुरु युगन्धर की दीक्षा

प्रहण कर ली । बहुत प्रकार के संकल्प ग्रहण और इन्द्रिय दमन कर स्वदेह से भी विगत मोह उन राजा ने दीर्घ काल तक अतों का पालन किया । जिस तीर्थङ्कर गोप्त कर्म का उपार्जन करना कठिन है उसी तीर्थङ्कर गोप्त कर्म को उन्होंने बहुत से अर्थ व्यय से क्रय किए रत्नों की भाँति बहुत से स्थानकों की उपासना ढारा अर्जन किया । कालक्रम से आगुण्ड्य शेष होने पर वे महामुनि व्रत रूपी वृक्ष के फलस्वरूप वैजयन्ति विमान में उत्पन्न हुए । (श्लोक १-१२)

जम्बूद्वीप के भरत थोव में पृथ्वी के आनन्द-तुल्य चन्द्रानन नामक एक नगर था । उस नगर में रत्नाकर में जैसे जहाज शोभित होता है उसी प्रकार बहुत प्रकार के रत्नों से विपणि थेणियां शोभित होती थीं । वहाँ कई आकारों के कई प्रकार के विविध वर्णों के गृह थे । देखकर लगता जैसे सान्ध्य-मेघ पृथ्वी पर उतर आए हैं । इसके उद्यान में प्रतिमाधारी निष्पन्द चारण मुनियों को देखकर अम होता है कि मनुष्य के रूप में मानो पर्वत ही स्थित हो गए हैं । यहाँ की नारियाँ रत्न-प्राचीरों में अपने प्रतिबिम्बों को देखकर उसे अन्य नारियों समझा अपने प्रेमियों पर कुछ ही जातीं ।

(श्लोक १३-१७)

महासेन जिनके सैन्यदल से पृथ्वी आच्छादित हो जाती और जो अपराजेय मुकुटमणि से समुद्रतुल्य थे, उस नगरी के राजा थे । भूत्य की भाँति वैभव उनकी शक्ति से युक्त थे मानो उन्होंने पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त कर लिया हो । जिनका आदेश कभी अमान्य नहीं होता ऐसे वे राजा जब राज्य कर रहे थे तब स्वतः ही एक-दूसरे के द्वय जन्म से ही ग्रहण नहीं करते थे । वे सर्वेष्वर थे, समुद्र-से बगाध, चन्द्र-से सुन्दर, कल्पतरु सम और दान में इन्द्र । द्वार-से विस्तृत उनके वक्ष पर रमा उनके प्रति अनन्य भक्ति परायणा होकर गंगा के संकर पर हैंसिनी जिस प्रकार कीड़ा करती है उसी प्रकार कीड़ा करती ।

(श्लोक १८-२२)

उनकी लक्षणा नामक सर्व-सुलक्षणा और मुख-सीन्दर्य से चन्द्र को भी परास्त करने वाली एक रानी थी । यद्यपि वह अतुल-नीय लावण्ययुक्त (लवण्ययुक्त) थीं फिर भी उनकी दृष्टि और वाणी केवल अमृत ही बरसाती । प्रति कदम पर मानो कमल विकसित करती हुई वह धीर गति से चलती । उनकी भीहे और भंगिमा वक्त

थीं; किन्तु मन वक्त नहीं था। उनकी कटि धीण थी; किन्तु दुष्टि धीण नहीं थी। संन्यवाहिनी जिस प्रकार सेनापति से सुशोभित होती है उसी प्रकार उनके समस्त गुण सद्ब्यवहार से शोभित होते थे।

(श्लोक २३-२५)

राजा पद्म के जीव ने वैजयन्ति विमान की तीर्तीस सागरोपम की आयु व्यतीत की। चैत्र मास की कृष्णा पंचमी को चन्द्र जब अनुराधा नक्षत्र में था तब पद्म का जीव विमान से अच्छुत होकर रानी लक्ष्मणा के गर्भ में अवतरित हुआ। उसी समय सुख-शश्या में सोई रानी लक्ष्मणा ने तीर्थकर जन्म को सूचित करने वाले चौदह महा-स्वर्ण देखे। पृथ्वी जिस भाँति अलक्षित रूप से रत्नभार वहन करती है उसी प्रकार उन्होंने स्वच्छन्दतापूर्वक अलक्षित रूप से गर्भ-भार वहन किया। पौष कृष्णा द्वादशी को जब चन्द्र अनुराधा नक्षत्र में अवस्थित था उन्होंने चन्द्र-से वर्ण और चन्द्रलाल्लनयुक्त एक पुत्र-रत्न को प्रसव किया।

(श्लोक २६-३२)

सिंहासन के कम्पित होने पर अष्टम तीर्थकर का जन्म अवगत कर छप्पन दिवकुमारियाँ उनके जन्म-कुत्य सम्पादन करने को आयीं। सौधर्म देवलोक के इन्द्र ने यानन्द प्रभु का जन्म-स्नान महोत्सव अनुष्ठित किया। देवों द्वारा परिवृत्त होकर वे प्रभु को मेरु पर्वत पर ले गए। इन्द्र अति पाण्डुकवला शिखर स्थित रत्न-जड़ित सिंहासन पर प्रभु को गोद में लेकर बैठ गए। अच्छुतादि लेसठ इन्द्रों ने आनन्दमना होकर उन्हें स्नान करवाया—फिर दिव्य गन्ध अलंकार और वस्त्रों से उनकी वन्दना, उपासना कर भगवान् की इस प्रकार स्तुति की :

(श्लोक ३३-३८)

‘अनन्तगुण सम्पन्न आपकी जो स्तुति करने को मैं प्रवृत्त हुआ हूं यह बैसा ही हास्यास्पद है जैसे आकाश को धारण करने के लिए चातक अपने पाँवों को ऊपर कर सोता है। फिर भी मैं आपकी शक्ति से ही आपकी स्तुति करता हूं। सामान्य-सा येघ भी पूर्वी हवा से क्या आकाश को आच्छादित नहीं कर देता? मनुष्यों द्वारा आप दृष्ट और श्रुत हैं इसीलिए आप कर्म पूर्ण का विनाश करने के लिए एक अद्वितीय अस्त्र हैं। आज पृथ्वी पर शुभ कर्म का उदय हुआ है। जिस प्रकार सूर्य कमल के अन्धकार को दूर करने के लिए उदित होता है उसी प्रकार सबके अज्ञानान्धकार को दूर करने के

१४८

निए आपका उदय हुआ है। अपविवता फल प्रसव न कर चन्द्रकिरण द्वारा आहत शेषालिका की तरह मुझसे शीघ्र ही ज्ञार जाएगी। आपका इस देह को धारण करना ही समस्त जीवों का दुःख भार हर लेता है, आपके श्रमण शरीर की तो बात ही क्या जो कि सबको निर्भय कर देता है। मदचारी हस्ती जैसे अग्ण्य दृक्षा को उत्पादित करता है वैसे ही आपने भी संसार के मूल कर्म को उखाड़ने के लिए जन्म ग्रहण किया है। जैसे अलंकार मुक्ताहार मेरे हृदय के बाहर शोभा पाता है उसी प्रकार आप हे विलोकणति, मेरे हृदय के भीतर अवस्थान करे।

(श्लोक ३९-४६)

यह स्तुति कर शीघ्रमेन्द्र ने ईशानेन्द्र की गोद से प्रभु को लेकर यथाविधि रानी लक्ष्मणा के पास ले जाकर सुला दिया। राजा महासेन ने पुत्र-जन्मोत्सव मनाया। अर्हत् का जन्म जब अन्यत्र उत्सव का कारणभूत होता है तो जहाँ अर्हत् जन्म लेते हैं उस गृह का तो कहना ही क्या? जब जातक गर्भ में था तब माँ को चन्द्रपान करने का दोहर उत्पन्न हुआ था और जातक का वर्ण भी चन्द्र-सा उज्ज्वल था थतः पिता ने नाम रखा चन्द्रप्रभ। (श्लोक ४७-४९)

शैशव में प्रभु का शरीर इस प्रकार दीप्तिमान था कि वे चन्द्र-किरण-से एक सुन्दर आलोक से शोभित होकर मानो तब भी वैज्ञानिक में ही हैं ऐसा प्रतीत होता। हस्ति-शावक जिस प्रकार लता-बृन्त को पकड़कर बड़ा होता है वे भी उसी प्रकार धाक्कियों का हाथ पकड़कर बड़े होने लगे। भगवान् जन्म से ही तीन शान सम्पन्न थे फिर भी उन्होंने अपना बाल्यकाल एक अबोध बालक की तरह ही व्यतीत किया। पर्याप्त जिस प्रकार मनोहर कहानी की सहायता से दीर्घपथ का अतिक्रम करता है उसी प्रकार उन्होंने नानाविधि कीड़ाएँ कर बाल्यकाल व्यतीत किया। (श्लोक ५०-५३)

एक सौ पचास धनुप ऊंचे प्रभु ने शैशव रूप नदी के दूसरे छोर और नारियों को वशीभूत करने के लिए इन्द्रजाल रूप यौवन को प्राप्त किया। अपने भोग कर्मों को अवशेष समझकर पिता की आङ्गा से उन्होंने योग्य राजकन्याओं का पाणि-ग्रहण किया। अपने जन्म के ढाई लाख पूर्व के पञ्चान्त स्वाध्याय समाज दीक्षा ग्रहण को उत्सुक प्रभु ने पिता द्वारा आदेश पाकर साढ़े छह लाख पूर्व और

चौबीस पूर्वी आनन्द से राज्य-शासन कर व्यतीत किए ।

(श्लोक ५४-५५)

यथोपि प्रभु अपने दीक्षा ग्रहण का योग्य समय जानते थे फिर भी नियोजित ज्योतिषियों की तरह लोकान्तिक देवों द्वारा उद्बुद्ध हुए विदेश भूमि के पूर्व वर्षी अक्षिं गिरि द्रक्षार दान देते हैं उसी प्रकार दीक्षा ग्रहण के अभिलाषी होकर उन्होंने एक वर्ष तक दान दिया । एक वर्ष के पश्चात् सिहासन कम्पित होने पर इन्द्र भूत्य की तरह वहाँ आए और प्रभु का दीक्षा महोत्सव मनाया । तदुपरांत प्रभु देवेन्द्र, असुरेन्द्र और राजाओं से परिवृत्त होकर सौन्दर्य से मनोमुग्धकारी मनोरमा नामक शिविका में खड़े । सबके द्वारा प्रशंसित, स्तुत और हृष्ट होते हुए भगवान् सहस्राम्रवन नामक उद्यान में पहुँचे । वहाँ शिविका से उत्तरकर प्रभु ने विरत्न प्राप्त करने के लिए समस्त रत्नादि और अलंकारों को शरीर से उतार दिया । पौष कृष्णा लघोदर्शी को चन्द्र जब मैत्रेय नक्षत्र में था प्रभु ने तब अपराह्न समय दो दिनों के उपवास के बाद एक हजार राजाओं सहित धमण दीक्षा ग्रहण की । प्रभु को तभी मनःपर्यंक नामक चौथा ज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे लोक के समस्त जीवों के हृदयगत भावों को जाना जाता है । दूसरे दिन सुबह् पद्मखण्डपुर के राजा सोमदत्त के घर खीराम ग्रहण कर प्रभु ने पारणा किया । देवों ने रत्नवर्णादि पाँच दिव्य प्रकट किए और राजा सोमदत्त ने जहाँ प्रभु खड़े थे एक रत्न-वेदिका निमित्त करवाई ।

(श्लोक ५६-५७)

जो तुषारपात् सूर्यताप को परास्त कर देता है उस तुषारपात् से भी अपराजित शीलवृष्टि सह प्रबल तूफान व कठोर आबहवा में भी अचंचल शीत की रात्रि में, जबकि नदियों का जल जमकर बरफ हो जाता है, वे अविचलित होकर ध्यान करते । सिंह, व्याघ्रादि हिंसु वन्य-पशुओं से अछयुषित अरण्य में वे जिस प्रकार जाते थे वैसे ही जनपूर्ण नगर में भी अवस्थान करते । निःसंग, मुक्त, राग-रहित, मौन और अपरिग्रही होकर भगवान् ने इस पृथ्वी पर छद्मस्थ अवस्था में अधिकांश समय ध्यान निमग्न होकर व्यतीत किया ।

(श्लोक ६८-७१)

प्रवर्जन करते हुए वे पुनः सहस्राम्रवन उद्यान में लौट आए ।

वहाँ पुन्नाग वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण कर अवस्थित हो गए। शीत के अन्त में जिस प्रकार तुषार विगलित होता है उसी प्रकार द्वितीय शुक्ल छ्यान के बाद प्रभु के घाती कर्म विगलित हो गए। फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को चन्द्र जब अनुराधा नक्षत्र में था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् उन्हें उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। (श्लोक ७२-७४)

भगवान् की देशना के लिए देवेन्द्र एवं अमुरेन्द्रों ने एक योजना व्यापी सम्बसरण की रचना की। देवों द्वारा संचालित नी स्वर्ण-कमलों पर पैर रखते हुए प्रभु पूर्व द्वार से सम्बसरण में प्रविष्ट हुए। रीति के अनुशार अठारह सौ धनुष ऊँचे चैत्य वृक्ष को प्रभु ने परिक्रमा दी। फिर 'नमो तित्याय' कहकर पूर्वाभिमुख होकर रत्नमय सिंहासन पर बैठ गए। देव, असुर, मनुष्य आदि चतुर्विधि दरबाजों से निर्दिष्ट स्व-स्व स्थानों पर जा बैठे। (श्लोक ७५-७९)

भगवान् को गंचांग प्रणिपात कर शक्ति ने निम्नलिखित स्तोत्र पाठ किया—हे भगवन्, त्रिभुवन चक्रवर्ती आपकी जिस वाणी को देव, असुर और मनुष्य मस्तक पर धारण करते हैं उसकी जय हो। भग्योदय से ही मनुष्य आपको पहले तीन ज्ञान के धारी, तदुपरान्त उत्तरोत्तर थैष्ठ मनःपर्यव में और अब केवलज्ञान के धारक रूप में देख रहे हैं। आपका यह उज्ज्वल, पथ पाश्वस्थ छायादानकारी वृक्ष की तरह सबके लिए शुभकारी केवलज्ञान चिरस्थायी हो। जब तक सूर्योदय नहीं होता तब तक ही अन्धकार रहता है। मद-मस्त हस्तियों का पराक्रम तभी तक है जब तक केशरी सिंह उपस्थित नहीं होता। दारिद्र्य तभी तक रहता है जब तक कल्पवृक्ष उपश्च नहीं होता। जलाभाव तभी तक है जब तक वर्षा के मेघ दिखलाई नहीं पड़ते। दिन की ऊष्णता तभी तक सताती है जब तक चन्द्र उदित नहीं होता। मिथ्यादृष्टि सम्पन्न तब तक ही रहते हैं जब तक आपका आविभव नहीं होता। यद्यपि मैं प्रमादी हूँ फिर भी जो आपको देखते हैं, आपकी रोवा करते हैं उनका जयगान करता हूँ। आपकी अनुकम्पा से, आपके दर्शनों के फल रूप जैसे अब मैं अविच्छल सम्यक् दर्शन को प्राप्त करूँ।' (श्लोक ८०-८८)

यह स्तब पाठकर शक्ति चुप हो गए तब त्रिलोकपति प्रभु ने अपने मेघ-नामभीर स्वर में देशना देनी प्रारम्भ की—

'अनन्त क्लेशरूपी तरंगों से भरा यह भव-सागर ऊर्ध्व, अध्रः
और मध्यलोक के प्राणी को सर्वदा किलष्ट करता है। विष्ठादि
अशूचि पदार्थ में जिस प्रकार कीटादि की प्रीति होती है उसी भाँति
देह-प्रीति ही इसका कारण है। रस, रक्त, मांस, चर्बी, अस्थि,
मज्जा, बीर्य, आंत और विष्ठादि अपविल द्रव्यों से ही इस देह की
रचना हुई है। इरामें पवित्रता कहाँ? नवद्वारों से निरन्तर झरती
अशूचियों में पवित्रता की कल्पना करना ही वहा मोह है। बीर्य
और रुधिर से उत्पन्न मलिन रस में वधित और जरायु आदि से
आवृत्त इस देह में पवित्रता कैसे हो सकती है? माँ के द्वारा भक्षित
अम्ब-जल से उत्पन्न रस जो नाड़ियों से प्रवाहित होकर आया है उसे
पान किए हुए शरीर में पवित्रता किस प्रकार रह सकती है? दोष,
धातु और मलपूर्ण कूमि कीटादि का आवास रूप और व्याधिरूप
रूप दक्षित रेत हो नहीं पतित नहीं कह सकता। स्वादिष्ट अन्न,
जल, खीर, इक्षु और घृतादि इस देह में जाने के पश्चात् विष्ठादि
घृण्य पदार्थों में रूपान्तरित हो जाता है ऐसे शरीर को कौन पवित्र
कहेगा? यथा-कर्दमादि सुगन्धित द्रव्य इस शरीर पर लेपन करने
से तत्क्षण ही वे मल रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे शरीर में
पवित्रता कहाँ? ताम्बूलादि सुगन्धित द्रव्य चर्बण कर सोया हुआ
मनुष्य जब सुबह उठता है तब उसे अपने ही मुख की गन्ध से घृणा
हो जाती है। ऐसी अवस्था में कौन शरीर की पवित्र कहेगा?
सुगन्धित पुष्प, पुष्पमाला और धूपादि देह-सम्पर्क में आकर दुर्गन्ध-
युक्त हो जाते हैं ऐसे शरीर को शुद्ध नहीं कहा जा सकता। जिस
प्रकार मध्य का धड़ा दुर्गन्धयुक्त रहता है उसी प्रकार शरीर पर
सुगन्धित तेल लेपन और उबटन द्वारा स्वच्छ किए व एकाधिक
घड़ों के जल से धौत करने पर भी रस की अपवित्रता नहीं जाती।
जो कहते हैं मृत्तिका जल, अग्नि, वायु और सूर्य-किरणों से स्नान
करने पर शरीर पवित्र होता है वे वास्तविकता नहीं जानते। केवल
शरीर को ऊपर से देखकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। अतः तपस्या
कर शरीर से मोक्ष रूपी फल उत्पन्न करना चाहिए। जैसे विज्ञ
लबण समुद्र से रत्न बाहर निकलते हैं उसी प्रकार देह से भी सार
निकालना उचित है।'

(श्लोक ८९-१०३)

इस देशना से प्रतिबोधित होकर हजारों लोगों ने श्रामण्य

प्रहण किया। दत्त आदि भगवान् के तिरानवे गणधर हुए। उत्पाद आदि त्रिपदी द्वारा उन्होंने द्वादशाङ्गी की रचना की। भगवान् की देशना के पश्चात् प्रधान गणधर दत्त स्वामी ने भगवान् द्वारा शक्ति सम्पन्न होकर उनके पाद-पीठ पर बैठकर जन-साधारण के सम्मुख प्रवचन दिया। तरुण नागरिक गीत वाद्यादि समाप्त होने पर जिस प्रकार घर लौट जाते हैं उसी प्रकार उनके प्रवचन समाप्त होने पर देवादि स्व-स्व निवास को लौट गए। (श्लोक १०४-१०७)

भगवान् चन्द्रप्रभ के तीर्थ में हरितवर्ण हंसवाहन विजय नामक यक्ष उत्पन्न हुए। उनके दाहिने हाथ में चक्र, बाएँ हाथ में गदा थी। इसी प्रकार पीतवर्ण मरालवाहना भृकुटि नामक यक्षी हुई। जिनकी दाहिनी और के दो हाथों में क्रमशः गदा व तलवार और बाईं ओर के दो हाथों में चड्ढा लौट तुलार थी। दो तीर्थङ्कर के शासन देव-देवी बने। वे सदैव उनके साथ-साथ रहते थे। आकाश में जैसे चन्द्र उसी तरह पृथ्वी पर महाशक्ति सम्पन्न चन्द्रप्रभ प्रब्रजन करने लगे। (श्लोक १०८-१११)

भगवान् के तीर्थ में २,५०,००० साधु, ३, ८०,००० साधिवार्यां, २,००० चौदह पूर्व धारी, ८,००० अवधिज्ञानी, ८,००० मनःपर्याय ज्ञानी, १०,००० केवली, १४,००० वैक्रिय लक्ष्मिधारी, ७,६०० चाढ़ी, २,५०,००० श्रावक और ४,२१,००० श्राविकाएँ थीं।

(श्लोक ११२-११५)

चौबीस पूर्वाङ्ग और छह मास कम एक लाख पूर्व तक प्रभु केवली रूप में विचरण कर सम्मेत शिखर पर्वत पर पधारे। एक हजार मुनियों सहित भगवान् देवता, अमुर आदि द्वारा सेवित होकर एक मास का पादोपगमन व्रत प्रहण किया। समस्त कर्म निरोध कर अविचल ध्यान में चार अचाती कर्म विनष्ट कर डाले। भाद्र कृष्णा सप्तमी को चन्द्र जब श्रवण नक्षत्र में था प्रभु ने एक हजार मुनियों सहित निर्वाण प्राप्त कर मोक्ष को गमन किया।

(श्लोक ११६-११९)

भगवान् अढाई लाख पूर्व तक राजकुमार रूप में, साढ़े छह लाख पूर्व तक राजा रूप में और चौबीस पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व तक तीर्थङ्कर रूप में रहे। भगवान् की सर्वायु दस लाख पूर्व की थी। सुपार्श्व स्वामी के नौ सौ करोड़ सागर के बाद

भगवान् चन्द्रप्रभ ने निवाण प्राप्त किया। (इलोक १२०-१२२)

इन्द्रादि देवों ने आकर भगवान् और मुनिवरों की यथावर्णित अन्त्येष्टि किया सम्पन्न की और पुनः स्वर्ग को लौट गए।

(इलोक १२२)

बछ सर्ग समाप्त

सप्तम सर्ग

अमङ्गल नाशकारी, पवित्र, क्लिंक द्वारा माला की भाँति मस्तक पर धारण करने योग्य भगवान् पुष्पदत्त की वाणी जयवन्त हो। उनकी शक्ति से शक्तिमान् होकर मैं नवम तीर्थङ्कर की जीवनी विवृत करता हूँ। (इलोक १-२)

पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलाबती विजय में पुण्डरिकिनी नामक एक नगर था। महा हिम पर्वत पर जिस प्रकार हृदय महापद्म है उसी प्रकार पुण्डरिकिनी नगर के राजा थे महापद्म। धर्म को तो उन्होंने जन्म से ही ग्रहण कर लिया था जो कि शंशव से यौवन तक शारीरिक सौन्दर्य की तरह ही बढ़ित हो रहा था। व्याज का व्यवसायी जिस प्रकार प्रतिदिन व्याज न मिलने पर दुःखी हो जाता है उसी प्रकार यदि एक मुहूर्त भी संयमहीन व्यतीत होता तो वे दुःखी हो जाते। रास्ते में नदी पार करते समय जिस प्रकार पर्याक जलयान करता है उसी प्रकार वे धर्मकृत्य सम्पन्न कर राज-कार्य परिचालन करते। विज अप्रमादी वे अपने चंश की तरह कलङ्कहीन शावक जीवन व्यतीत करते थे। यद्यपि वे सदा संतोषी थे; किन्तु धर्म में संतोषी नहीं थे। अल्प परिमाण धर्म सम्पन्न अन्य को भी वे अपने से अधिक धार्मिक समझते थे। भवसागर पार करने के लिए उन्होंने जिस प्रकार रण-समुद्र उत्तीर्ण करने के लिए दिव्य अस्त्र ग्रहण करने पड़ते हैं उसी प्रकार जगन्नाथ मुनि से श्रामण दीक्षा ग्रहण कर ली। शावक धर्म में प्रवीण सलेखना ग्रहणकारी जिस प्रकार मृत्यु पर्यन्त उपवास का संरक्षण करता है उसी प्रकार वे श्रमण ब्रतों का मिष्ठानुर्वक पालन करते थे। एकावली आदि कठिन तपश्चर्या और अहंत् भक्ति से उन्होंने तीर्थङ्कर गोत्र कर्म उपार्जन किया। इस भाँति धर्म कार्य में निरत

वे आयुष्य-काल पूर्ण होने पर वैजयन्ति विमान में महाकृतिधर देवरूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ३-१३)

जम्बू ढीप के भारत क्षेत्र के दक्षिणार्ध में वैभव के लिए प्रसिद्ध काकन्दी नामक एक नगर था। इसके प्रतिगृह में प्रलम्बित मुक्तामाला पतितताओं के लिए मदन को दमनकारी अक्षमाला के रूप में सुशोभित थीं। मन्दिर से निवालता चतुर्विध संगीत विद्याधरियों को स्तब्ध करने के लिए मन्त्र रूप था। यहाँ के सरोवर निर्मलजल और श्वेतकमल से शरदकालीन मेघमुक्त और नक्षत्र खचित आकाश के प्रतिदिम्ब की रचना करते। यहाँ के भिक्षुक भी गुरु की तरह पाद्य और अर्ध से सम्मान सहित पूजे जाते। (श्लोक १४-१६)

सौन्दर्य में पृथ्वी के कण्ठहार की तरह या ग्रीवेयक विमान के देव की तरह सुग्रीव नामक एक राजा यहाँ राज्य करते थे। मन्त्रपूत तलबार की तरह उनका आदेश क्या नगर क्या अरण्य क्या पर्वत क्या समुद्र सर्वत्र मात्य था। न्यायशासन की धारा और यश रूप तरंग पर्वत से समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली नदी की तरह उनसे उत्थित होकर प्रवाहित होती थी। राजाओं के मुकुटमणि स्वरूप उन राजा का यश रूप महासमुद्र विभिन्न राजाओं की यश-रूपी लोतस्विनियों को ग्रस लेती थी। (श्लोक १९-२२)

उनकी पत्नी का नाम था रामा। वे दीष रहित, निर्मल गुण सम्पन्न और सुन्दरियों की मुकुटमणि तुल्या थीं। प्रकृतिदत्त सौन्दर्य से विभूषित, नयनों को आळादकारी वे आकाश की चन्द्रकला की तरह ही पृथ्वी पर अनन्य थीं। कलकण्ठी श्वेतवस्त्रा (मानो श्वेत पर्खयुक्त) वे राजहंसिनी की तरह सर्वदा पति के मानस में निवास करती थीं। उनके अतुलनीय सौन्दर्य से अभिभूत होकर रति भी आनन्द और प्रीतिवान नहीं रहती अर्थात् उनके प्रति ईर्ष्यान्विता थी। राजा सुग्रीव के साथ मानो वे एक दूसरे के लिए ही निमित्त हों इस प्रकार चन्द्र और रोहिणी जैसे कीड़ा कर समय व्यतीत करते हैं उसी प्रकार समय व्यतीत करते। (श्लोक २३-२७)

महापद्म के जीव ने वैजयन्ति विमान की ३३ मागरोपम की आयु पूर्ण की। फाल्गुन कृष्णा नवमी को चन्द्र जब मूला नक्षत्र में था तब वहाँ से च्युत होकर रानी रामा के गर्भ में प्रवेश किया। तब रानी ने तीर्थझुक के जन्म-सूचक हस्ती आदि चौदह महास्वप्न

देखे । हिमाद्रिजाता गंगा जैसे कीड़ारत करि शिशु को धारण करती है उसी प्रकार रानी ने लिभुवन के आश्रय उनके भ्रूण को धारण किया । अग्रहण महीने की कृष्ण पञ्चमी को चन्द्र जब मूला नक्षत्र में था तब उन्होंने श्वेतवर्ण मकर लाल्छनयुक्त एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया ।

(इलोक २८-३२)

भोगंकरा आदि छप्पन दिक्कुमारियों ने भगवान् और उनकी माँ के जन्म कृत्य सम्पन्न किए । तब सौधर्मेन्द्र आभियोगिक देवों की तरह भक्ति सहित प्रभु को मेरु पर्वत पर ले गए और उसके दक्षिण में स्थित अतिपाण्डुकबला शिला पर प्रभु को गोद में लेकर सिहासन पर बैठ गए । अच्युतादि वेसठ इन्होंने तीर्थ से लाए जल से प्रभु का भक्तिपूर्वक स्नान करवाया । प्रहरी जिस प्रकार अपने पहरे के अन्त में रक्षित वस्तु दूसरे प्रहरी को अर्पण करता है उसी प्रकार सौधर्मेन्द्र ने प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर बृपशृङ्खों से निकलती जलधारा से उन्हें स्नान करवाया । प्रभु की देह पर नवीन और दिव्य विलेपनादि कर एवं अलङ्घार पहनाकर उन्होंने प्रभु की निम्न प्रकार की स्तुति की—

'धर्म के दृढ़ स्तम्भ स्वरूप, सम्यक् दर्शन के अमृत सरोबर तुल्य, विश्व को आनन्द दान करने में मेवरूप हे लिलोक नाथ ! आपकी जय हो । जबकि आपके गुणों और महानता के कारण लिलोक ने आपका दासत्व स्वीकार किया है तब आपकी अन्य किसी अलौकिक शक्ति के विषय में मैं क्या कहूँ ? आपकी सेवा में मैं जैसा शोभित होता हूँ स्वर्ग में भी वैसा शोभित नहीं होता । नूपुर में जिस प्रकार मणि शोभित होती है उस प्रकार पर्वत में नहीं होती । मोक्षकामी आप उस बैजयन्त से आए हैं जो कि मोक्ष ले जाता है तो निश्चित ही जो संसार में पथञ्चष्ट हो गए हैं उन्हें राह दिखाने आए हो । दीर्घकाल के पश्चात् भरत क्षेत्र रूपी गृह में आप अध्यात्म के आलोक रूप में आए हैं । अब श्रावक की भाँति धर्म भी निर्भय व आनन्दित हो जाएगा । हे जगत्पति, आपके दिव्य-दीक्षा महोत्सव में यह देव-समूह भाग ले भाग्योदय से बहुत दिनों पश्चात् चन्द्रा-लोक-सा आपके दिव्य आलोक में संलीन होकर नेत्रों ने चकोरत्व प्राप्त किया है । मैं स्व-न्यूह में रहूँ या देव-सभा में सवर्धि-सिद्धि दानकारी आपका नाम कभी विस्मृत न होऊँ ।' (इलोक ३३-४७)

स्तुति के पश्चात् जिनेश्वर को ग्रहण कर शक ने विधि अनुसार उन्हें उनकी माँ के पास सुला दिया। (श्लोक ४६)

जिस कारण उनकी माँ ने गर्भ-धारण के समय धार्मिक क्रियाओं में प्रवीणत्व लाभ किया था, जिस कारण उन्हें पुष्प-दोहद उत्तम हुआ था उसी कारण को दृष्टिगत कर भगवान् के माता-पिता ने उनका नाम सुविधि और पुष्पदन्त रखा। जन्म से ही अनन्यधर्मी प्रभु सूर्य जब मेष राशि में प्रवेश करता है तो दिनों-दिन दिन जैसे बढ़ता जाता है उसी प्रकार बढ़ने लगे। स्वभाव से ही पवित्र क्रमशः उन्होंने धीवन को प्राप्त किया। प्रभु की लम्बाई थी एक सौ धनुष और उनकी देह का रंग था क्षीर-समुद्र-सा श्वेत। यद्यपि प्रभु संसार से पूर्ण विरक्त थे फिर भी माता-पिता की इच्छा से श्री से भी अधिक सुन्दर राजकुमारियों से आपने विवाह किया। जन्म से पचास हजार पूर्व व्यतीत हो जाने के बाद पिता के प्रति श्रद्धा सम्पन्न प्रभु ने राज्य-भार ग्रहण किया। पचास हजार पूर्व और अद्वाई तक उन्होंने नीतिपूर्वक राज्य-शासन किया।

(श्लोक ४९-५५)

प्रभु के व्रत ग्रहण करने की इच्छा करने पर चाटुकारों की भाँति लौकान्तिक देवों ने आकर उन्हें व्रत ग्रहण करने को प्रेरित किया। आसक्तिहीन पृथ्वीपति दरिद्र के लिए कल्यवृक्ष सम होकर एक वर्ष तक ईप्सित दान दिया। दान देना समाप्त होने पर जन्म-महोत्सव की भाँति ही देवों ने उनका दीक्षा-महोत्सव सम्पन्न किया। तदुपरान्त प्रभु सुरप्रभा नामक पालकी पर आरोहित होकर देवता, अमुर और मनुष्यों से परिवृत्त हुए सहस्राम्रवन उद्यान में आए। अग्रहण कृष्ण अष्टमी को चन्द्र जब मूला नक्षत्र में था तब प्रभु ने दो दिनों के उपवास सह एक सहस्र राजाओं के माथ दीक्षा ग्रहण की। (श्लोक ५६-६०)

दूसरे दिन सुबह श्वेतपुर नगरी के राजा पुष्प के गृह में भगवान् ने खीरान्न से पारणा किया। देवों ने रत्नवर्षीदि पञ्च दिव्य प्रकट किए। जहाँ वे खड़े थे वहाँ राजा पुष्प ने रत्न-जड़ित वेदी बनवाई। आसक्तिहीन प्रभु ने संसार से विरक्त होकर छद्यस्थ अवस्था में चार मास तक प्रव्रज्जन किया। (श्लोक ६१-६३)

चार मास के पश्चात् वे सहस्राम्रवन उद्यान में लौट आए व

भूलाल वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण की। कार्तिक शुक्ला तृतीया को चन्द्र जब मूल नक्षत्र में था प्रभु ने अपूर्वकरण द्वारा क्षपक श्रेणी में आरोहण कर केवलज्ञान प्राप्त किया। (इलोक ६४-६५)

तदुपरात् देव और असुरों द्वारा निर्मित समवसरण में प्रभु पूर्व द्वार से प्रविष्ट हुए। सर्व अतिशय सम्पन्न प्रभ बारह सौ अनुष दीर्घ चैत्यवृक्ष की प्रदक्षिणा देकर तीर्थ को नमस्कार कर पूर्वाभिमुख होकर रत्न-सिंहासन पर विराज गए। अन्य तीन दिशाओं में देवों ने उनका विम्ब प्रतिष्ठित किया। देव एवं अन्यों के यथास्थान बैठ जाने पर शक्ति ने प्रभु की प्रशंसासूचक स्तुति की—

‘यद्यपि आप रागमुक्त हैं फिर भी आपके पद और करतल आरक्ष क्यों हैं? यदि आपने बक्रता परित्याग की है तो आपके केश बक्ष (दुःघराले) क्यों हैं? यदि आप संघ के संघपति हैं तब आपके हाथ में दण्ड क्यों नहीं हैं? यदि आप वीतराग हैं तो सबके प्रति यह अनुकम्पा क्यों? यदि आपने समस्त अलङ्कारों का परित्याग किया है तो आपका निरत्न के प्रति भुकाव क्यों? यदि आप सबके प्रति समभावी हैं तो मिथ्यात्मियों के शत्रु क्यों हैं? यदि आप स्वभाव से ही सरल हैं तो छँचस्थ क्यों? यदि आप दयावान हैं तो राग का दमन क्यों? यदि आप निर्भय हैं तो संसार-भीरु क्यों? यदि आप सबके प्रति मध्यस्थ हैं तो सबके मंगलकारी कैसे? यदि आप अदीप्त हैं तो आपके चारों ओर उज्ज्वल विभा क्यों? यदि स्वभाव से ही शान्त हैं तो दीर्घकाल तक तप क्यों किया? यदि आप क्रोध विमुख हैं तो कर्म के प्रति क्रोध क्यों? हे भगवन्, चार अनन्तगुणयुक्त महत्त्व से भी अधिक महीयान आपके स्वभाव को जानना असम्भव है। नमस्कार आपको।’ (इलोक ६६-७३)

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र के चुप हो जाने पर भगवान् सुविधि स्वामी ने अपना उपदेश दिया—

‘सचमुच ही यह संसार अनन्त दुःखों का भण्डार है। सर्व जिस प्रकार विष की उत्पत्ति का कारण है उसी प्रकार आश्रव अनंत दुःखों का कारण है। मन वचन और काया द्वारा जीव जो किया करता है जिसे योग कहा जाता है वह आत्मा में शुभाशुभ कर्म आकृष्ट कर लाता है (आश्रवसे) इसीलिए इसे आश्रव कहा गया है। मैत्री आदि शुभ भावना से शुभ कर्म का बन्ध होता है; किन्तु, विषय

कषाय से आक्रान्त होने पर अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। श्रुतज्ञान के आधार पर कहे गए सत्य वचनों से शुभ कर्म का बन्ध होता है; किन्तु इसके विपरीत वचन से अशुभ कर्म का। सुसंयमित शरीर से कृत काम से शुभ कर्म का बन्ध होता है; किन्तु आरम्भ और हिंसादि सावद्य कर्म में नियोजित शरीर से अशुभ कर्म का बन्ध होता है। विषय, कषाय, योग, प्रमाद, अविरति मिथ्यात्व और आत्म एवं रीढ़ छ्यान अशुभ कर्म के बन्ध का कारण है। (श्लोक ७५-८४)

‘जिस भी प्रकार से आश्रवित क्यों न हो आत्मा में प्रवेश-कारी कर्म ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के हैं।’ (श्लोक ८५)

‘ज्ञान और दर्शन का विषय, ज्ञानी और दर्शनकारी के प्रति व ज्ञान और दर्शन उत्पन्न करने के कारणों में विघ्न डालना, निहृत करना, गहरा करना, अशातना करना, धात करना, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म-बन्ध का कारण है।’ (श्लोक ८६)

‘सम्यक् ज्ञान हीन देवों की आराधना, गुरु की सेवा, सुपात्र दान, दया, क्षमा, सराग संयम, देश विरति, अकाम निर्जरा, शौच शाता वेदनीय कर्म-बन्ध का कारण है। स्वयं के लिए दूसरे के लिए या उभय के लिए शोक, वध, ताप और पश्चात्ताप उत्पन्न करना-कराना अशाता वेदनीय कर्म-बन्ध का कारण है।’ (श्लोक ८७-८९)

‘मुनि, शास्त्र, संघ, धर्म और समस्त देवों का अवर्णवाद करना अथवा निन्दा करना, मिथ्यात्व का तीव्र परिणाम करना, केवली और सिद्धों का निहृत करना (उनका देवत्व स्वीकार नहीं करना, विपरीत बोलना और उनके गुणों का अपलाप करना) धार्मिक मनुष्य को दोषी करना, उनकी निन्दा करना, उन्मार्ग का उपदेश देना, अनर्थ का आग्रह करना, असंयमी का आदर, सत्कार और पूजा करना, विना विचारे काम करना, गुरु आदि की अवज्ञा करना इत्यादि कार्य से दर्शन मोहनीय कर्म का आश्रव होता है।’

‘कषायों के उदय से आत्मा में तीव्र परिणाम होना चारित्र मोहनीय कर्मबन्ध का कारण होता है।’ (श्लोक ९०-९३)

‘किसी का मजाक करना, सकाम उपहास, कारण-अकारण हास्य, बाचालता व दीनता व्यक्त करने की प्रवृत्ति हास्य मोहनीय कर्मबन्ध का कारण होता है।’ (श्लोक ९४)

‘देश-विदेश में भ्रमण कर नए-नए हश्यों को देखने की इच्छा,

विभिन्न प्रकार कीड़ा-कीटुक व दूसरे के मन को अपनी और आकृष्ट और वशीभूत जाने की इच्छा रहि मोहनीय कर्मबन्ध वा कारण है।' (श्लोक ९५)

'असूया (गुण को दोष रूप में देखना), पाप करने की प्रवृत्ति, अन्य की सुख-शान्ति को नष्ट होते देख खुश होना अरति मोहनीय कर्मबन्ध का कारण है।' (श्लोक ९६)

'मन में भय को स्थान देना, दूसरों को भयभीत करना, वासित करना, निर्दय करना भय मोहनीय कर्म के बन्ध का कारण है।' (श्लोक ९७)

'मन में शोक उत्पन्न करना, अन्य को शोकान्वित करना, दूदन में अति आसक्ति शोक मोहनीय कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक ९८)

'चतुर्विध संघ की निन्दा करना, तिरस्कार करना और सदाचारी की कुत्सा प्रचार करना, जुगुप्सा मोहनीय कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक ९९)

'ईष्वा, विषय-लोलुपता, मृषावाद, वतिवक्ता और पर-स्त्री गमन में आसक्ति स्त्रीवेद कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक १००)

'स्व-स्त्री में सन्तोष, ईष्वहीनता, मृदु स्वभाव, कषायों की मन्दता, प्रकृति की सरलता और सदाचार पालन पुरुष-वेद कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक १०१)

'स्त्री और पुरुष दोनों के चुम्बनादि अनंग सेवन, उग्र कषाय, तीव्र कामेच्छा, भण्डामि और स्त्रीव्रत को भंग करना नपुंसक वेद कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक १०२)

'साधुओं की निन्दा करना, धर्म-कार्य में बाधा देना, मद्य-मांस भक्षणकारियों के सम्मुख मद्य-मांस भक्षण की प्रशंसा करना, देश-विरत श्रावकों के लिए बार-ज्वार अन्तराय उत्पन्न करना, अविरति के गुणों का व्याख्यान करना एवं विरति के दोषों का, अन्यों का कषाय और लोककथय की उदीरणा करना चारित्र मोहनीय कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक १०३-१०५)

'पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध समारम्भ और महापरिग्रह, अनुकम्पाहीनता, मांस-भक्षण, स्थायी वैरभाव, रीढ़ ध्यान, मिथ्यात्व, अनन्तानुवन्धी कषाय, कृष्णनील और कापोत लेश्या, असत्य भाषण,

पर द्रव्य हरण, बार-बार मैथुन सेधन एवं इन्द्रियों के वर्तीभूत होना। नरकगति के आयुष्य कर्म बन्ध का कारण बनता है।'

(श्लोक १०६-१०८)

'उन्मार्ग उपदेश, सन्मार्ग नाश, गुप्त भाव से धन का संरक्षण, आत्मध्यान, शत्ययुक्त हृदय, माया, आरम्भ परिग्रह, नील और कपोत लेश्या, शील एवं ज्ञत को दूषित करना, अप्रत्याख्यान, कपाय, तीर्थंच गति के आयुष्य कर्म बन्ध का कारण बनता है।'

(श्लोक १०९-११०)

'अल्प परिग्रह और अल्प आरम्भ, स्वाभाविक कोमलता और सखलता, कापोत और पीत लेश्या, धर्म ध्यान में अनुराग, प्रत्याख्यानी कपाय, मध्यम परिणाम, दान देने में रुचि, देव और गुरु की सेवा, पूर्वलाप (स्वागत संभाषण), प्रियलाप (प्रेम पूर्वक समझाना), सांसारिक कार्य में मध्यस्थता भनुष्यगति के आयुष्य कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक १११-११३)

'सराग संयम, देश संयम, अकाम निर्जरा, सुगुह से सम्बन्ध, धर्म श्रवण में रुचि, सुपात्रदान, तप, श्रद्धा, ज्ञान दर्शन व चारित्र रूप त्रिरत्न की आराधना, मृत्यु के समय तेज एवं पथ लेश्या के परिणाम, बाल तप, अग्नि जलादि साधन से मृत्यु और अव्यक्त समभाव देवगति के आयुष्य कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक ११४-११६)

'भन वचन काया की वक्ता, दूसरों को ठगना, कपट करना, मिथ्यात्व, पैशुन्य, मानसिक चंचलता, नकल, चाँदी-सोना आदि से प्रवंचित करना, मिथ्या साक्षी देना, वस्तु का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श बदलकर छल करना, किसी जीव के अंग-उपांगों को काटना-कटवाना, यन्त्रादि या पीजरा बनाना, वजन कम करना, आत्म प्रशंसा, पर निन्दा करना, हिसा, असत्य, अनृत, अवहृचर्य, महारम्भ, महापरिग्रह सेवन, कठोर और तुच्छ भाषण करना, उज्ज्वल वस्त्रादि का अभिमान करना, बाचालता, आक्रोश करना, किसी का सुख-सौभाग्य नष्ट करना, किसी का अनिष्ट करने के लिए मन्त्र-तन्त्रादि का प्रयोग करना, त्यागी होने का दम्भ कर उन्मार्ग में गमन करना, साधु बनकर दूसरों के मन में कौतुक उत्पन्न करना, वैश्वादि को अलंकार देना, वन में आग लगाना, चौरी करना, तीव्र कपाय,

जंगारादि १५ कर्मदान का कार्य करना, अशुभ नाम कर्म बन्ध का कारण है। इसके विपरीत संसार भय, प्रमाद त्याग, चारित्र धारण, शान्ति आदि गुण धार्मिक व्यक्ति का दर्शन और उनका सेवा-सत्कार शुभनाम कर्म यहाँ तक कि तीर्थकर नाम कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक ११७-१२५)

'अहंत्, सिद्ध, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत, संघ, श्रुतज्ञान, साधु भक्ति, आवश्यकादि क्रिया, चारित्र, ब्रह्मचर्य पालन में अप्रमाद, विनय, ज्ञानाभ्यास, तप, त्याग (दान), शुभ ध्यान, प्रधनन प्रभावता, चतुर्विधि संघ में शान्ति रखना, साधु सेवा, अपूर्वज्ञान ग्रहण और सम्यक् दर्शन में शुद्धता इन बीम स्थानकों को प्रथम और अन्तिम तीर्थकर स्पर्श करते हैं। अन्य तीर्थकर एक दो या तीन स्थानकों का स्पर्श करते हैं।'

(श्लोक १२६-१२९)

'परनिन्दा, अवज्ञा, उपवास, सदगुणों का लोप अथवा असद् दोषों की प्रतिष्ठा, आरोहण, आत्म-प्रशंसा, जो गुण स्वयं में हैं या नहीं उसका प्रचार, स्वयं के दोषों का वर्णन और जाति मद (अभिमान) नीच गोत्र कर्म-बन्ध का कारण है। इसके विपरीत अ-मान, मन, वचन और काया द्वारा विनय उच्च गोत्र कर्म-बन्ध का कारण है।'

(श्लोक १३०-१३१)

'दान, लाभ, वीर्य भोग और उपभोग में सकारण या अकारण विघ्न डालना, बाधक बनना अन्तराय कर्म बन्ध का कारण है।'

(श्लोक १३२)

'इस भाँति आश्रव से उत्पन्न इस अपार संसार रूपी समुद्र को बुद्धिमान व्यक्तियों की दीक्षा रूपी जहाज के द्वारा अतिक्रम करना उचित है।'

(श्लोक १३३)

'चन्द्र किरणों से जिस प्रकार रात में विकसित होने वाली बाली कुमुदिनी विकसित होती है उसी प्रकार प्रभु की देशना से अनेक प्रबुद्ध हुए और हजारों लोग दीक्षित हो गए। भगवान् के वराहादि दूसरे गणधर हुए। भगवान् की देशना के पश्चात् प्रथम गणधर ने अपनी देशना दी। गणधर की देशना के पश्चात् देव और असुर नन्दीश्वर द्वीप में अट्टाईस महोत्सव मनाकर स्व-स्व निवास को लौट गए।'

(श्लोक १३४-१३७)

भगवान् के तीर्थ में कूर्मवाहन, ईतेतवर्ण, अजित नामक यक्ष

उत्पन्न हुए। उनके दाहिनी ओर के दोनों हाथों में विजोरा और अक्षमाला थी। बाईं ओर के दोनों हाथों में नकुल और बर्द्धी थी। वे शासन देव बनकर भगवान् के निकट अवस्थित हुए। इसी प्रकार वृषभधाहना, श्वेतवर्णा सुतारा यथिणी उत्पन्न हुई। उनके दाहिने दोनों हाथों में क्रमशः एक में अक्षमाला थी, दूसरा वरयमुद्रा में था। बायीं ओर के दोनों हाथों में क्रमशः कुम्भ और अंकुश था। वे भगवान् की सेवा में सर्वदा निरत रहकर उनको शासन देवी बनी। वे सर्वदा उनके पास रहतीं। अनुकम्पा के सागर प्रभु पृथ्वी पर मनुष्यों को प्रतिबोध देते हुए श्रमण करते रहे।

(श्लोक १३८-१४२)

भगवान् के तीर्थ में वराहादि दद गणधर थे, २,००,००० साधु एवं १,२०,००० साधिवां थीं, ८,४०० अवधिज्ञानी, १,५०० चौदह पूर्वधर, ७,५०० मनःपर्यव ज्ञानी, ७,५०० केवली, १३,३०० वैकिय लब्धि सम्पन्न, ६,००० वादी, २,२९,००० श्रावक और ४,७२,००० श्राविकाएँ थीं। २८ पूर्वज्ञ और चार मास कम अर्द्धलक्ष पूर्व प्रभु केवली अवस्था में प्रवर्जन करते रहे।

(श्लोक १४३-१४७)

आयुष्य पूर्ण होने का समय जानकर प्रभु एक हजार मुनियों सहित सम्मेत-शिखर पर गए। वहां अनशन में एक मास व्यतीत किया। कातिक कृष्ण नवमी को चन्द्र जब मूल नक्षत्र में था प्रभु ने शैलेशीकरण ध्यान में एक हजार मुनियों सहित अक्षय सिद्धलोक में गमन किया। प्रभु अर्द्धलक्ष पूर्व युवराज रूप में रहे। अर्द्धलक्ष पूर्व और २८ पूर्वज्ञ राजा रूप में रहे। अर्द्धलक्ष पूर्व कम २८ पूर्वज्ञ व्रती रूप में रहे। भगवान् की सर्वायु २ लाख पूर्व की थी। श्री चन्द्रप्रभ स्वामी के निर्वाण के ती करोड़ सागरोपम के पश्चात् सुविधिनाथ स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए। (श्लोक १४८-१५२)

सुविधिनाथ स्वामी के निर्वाण के कुछ काल पश्चात् हुण्डा अवसर्पिणी काल के दोष से श्रमण धर्म का विच्छेद हो गया अर्थात् एक भी साधु नहीं रहा। धर्म व्या है जो नहीं जानते थे वे पथ-भ्रान्त पथिक जैसे अन्य पथिक को पथ पूछता है उसी प्रकार वृद्ध श्रावकों को धर्मकथा जिज्ञासा करने लगे। वृद्ध श्रावक अपने-अपने मत से उन्हें धर्म बताने लगे वे लोग उनको अर्थादि देकर पूजने

लगे। ये बृद्ध आवक अर्थं पूजा के लोभी बनकर नए-नए शास्त्रों की रचना करने लगे और दान का महत्व बढ़ा-बढ़ाकर कहने लगे। तदुपरान्त वे आचार्य होकर कन्यादान, भूमिदान, लौहदान, वस्त्रदान, गोदान, स्पर्ण-रौप्यदान, आसन, शय्या, अश्व, हस्ती एवं अन्य नगनाविधि दानों की व्याख्या की और प्रत्येक दान इहलोक और परलोक में महाफलदायी होगा, कहने लगे। मन्द बुद्धि और महालोभी बनकर वे बोले कि दान प्रहण के केवल वे ही अधिकारी हैं अन्य कोई नहीं हैं। मायावादी वे लोगों के गुह बन गए। जहाँ वृक्ष नहीं वहाँ लोग तिल के पौधे के ही चारों ओर बेदी निर्मित करते हैं।

(श्लोक १५३-१६२)

इस प्रकार भरत क्षेत्र में शीतलनाथ स्वामी के संघ स्थापन के पूर्व संघ विच्छेद हो गया। राजि में उल्लू के राजत्व की तरह उस समय ब्राह्मणों का एकछला राज्य स्थापित हो गया। इस प्रकार शान्तिनाथ भगवान् के पूर्व अन्य छह बार धर्म का विच्छेद हुआ। इससे असंयत अविरतों की पूजा होने लगी।

(श्लोक १६३-१६४)

सप्तम सर्ग समाप्त

अष्टम सर्ग

चन्द्र किरण जिस प्रकार कुमुदिनी को विकसित करती है उसी प्रकार जिन भगवान् शीतलनाथ के चरणयुग्म तुम्हें मोक्षमार्ग के लिए उद्बोधित करें। त्रिलोक के कषाय को शीतल करने वाले भगवान् शीतलनाथ स्वामी का जीवन में विवृत करूँगा।

(श्लोक १-२)

पुष्करबर छीपाढ़ के पूर्व विदेह में वत्स नामक देश की अलंकार तुल्या सुसीमा नामक एक नगरी थी। राजा का नाम था पद्मोत्तर। अनुत्तर विमान के देवों की तरह वे नृपोत्तम थे। उनका आदेश कभी अमान्य नहीं होता था। वे समस्त जीवों के प्रति करुणा-सम्पन्न थे। उनमें दो भाव विराजते थे—वीरत्व और शान्त रस। राजा जिस प्रकार क्रोध के प्रति जागरूक रहता है और नाना प्रकार से उसे बढ़ित करता रहता है उसी भाँति वे धर्म के प्रति

सदैव जागरूक रहते थे । आज नहीं तो कल इस राज्य का परित्याग करूँगा ऐसा चिन्तन करते हुए वे मानो विदेश में रह रहे हों इस प्रकार संसार में अनासत्त होकर रहने लगे । (श्लोक ३-७)

एक दिन तृणवत् उन्होंने उस राज्य का परित्याग कर त्रिस्ताध नामक आचार्य से दीक्षा ग्रहण कर ली और अतिचारहीन चारित्र पालन और शास्त्रोक्त बीस स्थानकों में कई की आराधना कर उन्होंने तीर्थकर गोत्र कर्म उपार्जन किया । आयुष्य पूर्ण होने पर विशेष व्रत पालन और कठोर तपश्चर्या के कारण वे प्राणत नामक दसवें देवलोक में उत्पन्न हुए । (श्लोक ८-१०)

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में भट्टिलपुर नामक सुन्दर और वैभवशाली नगर था । परिखा से परिवृत और स्वर्ण प्राचीरों से वेष्टित इस नगरी की लवण समुद्र परिवृत और जगती वेष्टित जम्बूद्वीप की तुलना की जाती है । सान्ध्य वला में इसकी विषणियों में प्रज्वलित आलोकमाला नगरथी के कण्ठ में रत्नमाला-सी सुशोभित होती थी । भोगवती और अमररावती के समस्त वैभव का सार यहीं रहने से यह नगरी देव और नामदेवों की कीड़ा-भूमि में परिवर्तित हो गई थी । (श्लोक ११-१४)

उत्सव में जिस प्रकार आत्मीय परिजनों को खिलाया जाता है उसी प्रकार यहां विभिन्न प्रकार के आहार प्राणियों को दानशाला में खिलाया जाता था । (श्लोक १५)

इस नगरी के राजा का नाम था दृढ़रथ । शत्रु मेखला को नष्ट करने में वे समुद्र की तरह पृथ्वी की मेखला रूप थे । किन्तु उनके गुणों की जो प्रशंसा करते उस विषय में वे इतने विनाशी थे कि उन्हें वे अगुण ही लगते । वे शत्रुओं से बरबस जो धन ग्रहण करते उसे दरिद्रों में वितरण कर देते मानो अपहरण रूप पाप का प्रायशिच्त कर रहे हों । राजन्य वर्ग भूलुण्ठित होकर उन्हें प्रणाम कर राज्य प्राप्त करते । एक बिन्दु तेल जैसे जल में फैल जाता है उसी प्रकार गुरु प्रदत्त एक पंक्ति उपदेश भी उनमें व्याप्त हो जाता । (श्लोक १६-२०)

चित को आनन्ददायिनी नदियों में जैसे मन्दाकिनी है वैसे ही साधियों में अग्रगण्या उनकी रानी का नाम नन्दा था । वे मंथर गति से चलतीं जिसे देखकर लगता मानो राजहंसनियों ने मंथर

गति से चलने की शिक्षा उन्हीं से ली थी। जब वे बोलतीं तब उनके मुख सौरभ से धाक्षण्य होकर भ्रमर आने लगते। विस्तार में जिस प्रकार आकाश अनन्य है एक शब्द में वे भी बैसी ही अनन्य थीं। अपने गुणों के कारण राजा दृढ़रत्न के हृदय में वे इस प्रकार बस गई थीं—मानो वहाँ उत्कीर्णित हो गई हों। (ब्लौक २१-२५)

उधर प्राणत नामक स्वर्ग में पद्मोत्तर के जीव ने बीस सामरोपम की आयुष्य पूर्ण की। वैशाख कृष्णा छठ को चन्द्र जब पूर्वायाहा नक्षत्र में था तब पद्मोत्तर का जीव वहाँ से च्युत होकर नन्दा देवी के गर्भ में उत्थन हुआ। सुख-शत्र्या पर सोई रानी नन्दा देवी ने तीर्थकर जन्मसूचक चौदह महास्वप्न देखे। माघ कृष्णा द्वादशी को चन्द्र जब शुर्णाहा नक्षत्र में था तब नन्दादेवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। जातक की देह का रंग था तप्त सुवर्ण सा और वह स्वस्तिक लोङ्गनयुक्त था। (ब्लौक २६-२९)

तब छप्पन दिक्कुमारियों से आठ अधोलोक से, आठ उच्चलोक से, आठ-आठ रूचक पर्वत की चारों दिशाओं से, चार मध्यवर्ती स्थान से, चार रूचक द्वीप के केन्द्र से सिंहासन कम्पित होने पर वहाँ आई और जन्म-कल्याणक उत्सव सम्पादित किया। शक भी तीव्र गति से वहाँ पहुंचे और प्रभु को गोद में लेकर देवों से परिवृत हुए सुमेह पर्वत पर गए। प्रभु को गोद में लेकर शक अति पाण्डुकवला पर रखे सिंहासन पर बैठ गए। तब अच्युतादि इन्द्रों ने समुद्र, नदी व सरोवर से लाए जल से प्रभु को स्नान करवाया। तदुपरान्त सौधर्मेन्द्र ने प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में देकर स्फटिक वृष के शृङ्ग से निकलते जल से प्रभु का अभिषेक किया। तदुपरान्त त्रिलोकेश्वर की देह में अङ्गरागादि लेपन व अलंकारादि से पूजन कर निम्नलिखित स्तव पाठ किया—

‘हे इक्ष्वाकु वंश रूप क्षीर समुद्र के लिए चन्द्र तुल्य, आपकी जय हो ! पृथ्वी की अज्ञानान्धकार रूपी निद्रा को दूर करने में सूर्य रूप, आपकी जय हो ! आपको देखने के लिए, आपका गुणगान करने के लिए, आपकी पूजा करने के लिए मेरे नेत्र, मेरी जिह्वा और हस्त को अनन्तता प्राप्त हो ! हे भगवान्, हे दशम तीर्थाधिपति, यह श्रद्धा-सुभन आपके चरण-प्रान्तों पर रखता हूं ताकि उसका फल प्राप्त होगा । दुःख-ताप-तप्त जीवन को आनन्द देने के लिए आप

नवमेघ रूप में उदित हुए हैं। वसन्त के आविभाव से वृक्ष जैसे समृद्ध हो उठता है वैसे ही आपके दर्शन से जीव नवीन समृद्धि प्राप्त करे। आपके दर्शनों से धन्य बना दिन ही मेरे निकट दिन है, अन्य दिन तो कृष्ण पक्ष की रात्रि की तरह है। मनुष्यों का मन्द कर्म सतत जीव द्वारा गुणित हीता रहता है। अयस्कान्त मणि के स्पर्श से जैसे लौहत्व विद्वरित होता है वैसे ही वह कर्म आपके दर्शन से विद्वरित हो। मैं यहाँ, स्वर्ग में या अन्य किसी भी स्थान में रहूँ, हृदय में अनन्य आपको धारण कर मानो आपका वाहन बन जाऊँ।

(श्लोक ३०-४४)

इस प्रकार दशम तीर्थकर की स्तुति कर सौधमेन्द्र ने यथारीति जातक को ग्रहण और बहन कर ले जाकर देवी नन्दा के पास सुला दिया। (श्लोक ४५)

पृथ्वी को मुक्त करने के लिए जिनका जन्म हुआ है ऐसे तीर्थकर के जन्म को विविक्त करने के लिए राजा हड्डरथ ने बन्दी आदि को मुक्त कर पुत्र जन्मोत्सव किया। जब जातक गर्भ में था तो उसके शीतल स्पर्श से नन्दा की तप्त देह शीतल हो गई थी अतः जातक का नाम रखा गया शीतल। (श्लोक ४६-५७)

बालक देवी देवों द्वारा सेवित होकर निलोकपति वेलाधारी इन्द्र द्वारा सेवित समृद्ध की तरह दिन प्रतिदिन वर्द्धित होने लगे। पथिक जैसे गौव से होता हुआ शहर पहुँचता है वैसे ही प्रभु बाल्यकाल अतिक्रम कर यौवन को प्राप्त हुए। (श्लोक ४८-४९)

नव्वे धनुष दीर्घ प्रभु जानु पर्यन्त लम्बे हस्तों के कारण लता-वेण्टि भहीरुह से लगते थे। यद्यपि वे इन्द्रियों के विषय में अनासक्त थे तब भी—हस्ती जैसे खाद्यपिण्ड को ग्रहण करता है वैसे ही प्रभु ने पिता-माता द्वारा अनुबन्धित होकर पत्नी को ग्रहण किया। पच्चीस हजार पूर्व व्यतीत होने पर शीतलनाथ स्वामी ने पिता द्वारा आदिष्ट होकर राज्यभार ग्रहण किया। अमित बाहुबल से उन्होंने पैतृक राज्य पर पचास हजार पूर्व तक शासन किया। (श्लोक ५०-५३)

जब प्रभु के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ तो लोकान्तिक देवों का सिंहासन कम्पित हुआ। अवधिज्ञान से वे जान गए कि जम्बुद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणाद्वा में दशम तीर्थकर दीक्षा ग्रहण के अभि-

लाभी हुए हैं। हम अपने कर्तव्य के रूप में उन्हें दीक्षा ग्रहण को प्रेरित करें, ऐसा सोचकर सारस्वत आदि देव ब्रह्मलोक से वहाँ आकर प्रभु को प्रणाम कर बोले—‘हे भगवन्, घाट को छोड़कर जिस प्रकार पार्वत्य नदी को पार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार दुस्तर संसार-समृद्ध को पार करने वालों के प्रति कृपा कर धर्म तीर्थ की प्रतिष्ठा करें।’ (श्लोक ५४-५८)

ऐसा कहकर लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक को छोड़ गए और शीतलनाथ स्वामी ने एक वर्ष तक वर्षीदान दिया। (श्लोक ५९)

वर्षीदान समाप्त होने पर सिंहासन कम्पित होने से इन्द्रगण वहाँ आए और शीतलनाथ स्वामी का स्नानाभिवेक किया। तदुपरांत त्रिलोक के अलंकार स्वरूप भगवान् वस्त्र और अलंकार धारण कर सौधर्मन्द्र के हाथ पर हाथ रखकर अन्य इन्द्रों द्वारा चंबर छत्र पकड़ने पर चन्द्रप्रभा नामक श्रेष्ठ शिविका में आरोहित हुए, हजारों देव, असुर और राजन्यों से परिवृत होकर वे अपनी राजधानी के निकटस्थ सहस्राम्रवन नामक उद्यान में गए। संसार-सागर को अतिक्रम कर मोक्ष लाभ के इन्द्रुक भगवान् ने वहाँ पहुंचते ही मानो बोझ हो इस प्रकार अलंकार को उतार दिया। शक द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र स्कन्ध पर रख कर उन्होंने पंच मुष्ठिक लोच किया। उन केशों को इन्द्र ने क्षीर-समृद्ध में फेंक दिया। फिर कोलाहल शान्तकर द्वारपाल की तरह खड़े हो गए। दो दिनों के उपवासी प्रभु ने एक हजार राजाओं सहित देव, असुर और मनुष्यों के सम्मुख सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भ का परित्याग किया। उस दिन माघ कृष्णा द्वादशी थी। चन्द्र पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में था। प्रभु को अतिदिव्य मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। देवादि सभी उन्हें प्रणाम कर, स्व-स्व स्थान को लौट गए। (श्लोक ६०-६९)

रिष्टपुर नगर के राजा पुनर्वसु के आवास पर खीरान्न ग्रहण कर भगवान् ने पारणा किया। देवों ने रत्न वर्षादि पंच दिव्य प्रकट किए। जहाँ खड़े होकर भगवान् ने पारणा किया था वहाँ राजा पुनर्वसु ने रत्न-जड़ित पाद-पीठ का निर्माण करवाया। विभिन्न ब्रतों का पालन करते हुए परिषह सहते हुए भगवान् शीतलनाथ ने तीन मास तक छत्रस्थ अवस्था में विचरण किया। (श्लोक ७०-७२)

तीन महीने के पश्चात् त्रिलोकनाथ पुनः सहस्राम्रवन में लौट

आए एवं वहाँ सप्तपर्ण वक्ष के नीचे प्रतिमा धारण कर ली । शोदा जिस प्रकार प्राकार पर चढ़ते हैं वैसे शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाद पर आरोहण कर जातु-से चार धाती कर्मी को विनष्ट कर दिया । पौय कृष्ण चतुर्दशी को चन्द्र जब पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में था भगवान् शीतल-नाथ स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया । (श्लोक ७३-७५)

तब देव और असुरेन्द्रों ने चार द्वार विशिष्ट रत्न, स्वर्ण और रौप्य का जार प्राकारयुक्त समवशरण की रचना की । भगवान् ने पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर एक हजार अस्सी धनुष ऊंच चंत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा देकर 'नमो तित्थाय' कहकर तीर्थ को नमस्कार किया । तत्पञ्चात् पूर्वभिमुख होकर सिहासन पर बैठ गए । देवों ने अन्य तीन और उनकी प्रतिकृति रखी । मैथ के शब्द सुनने के लिए मध्यर जिस प्रकार उद्ग्रीव होता है उसी प्रकार देव और अन्य स्व-स्व स्थान पर खड़े होकर प्रभु की वाणी सुनने के लिए उद्ग्रीव हो गए । शक ने प्रभु को नमस्कार कर करबड़ हो निम्नलिखित स्तुति की—

‘हि तिलोवानाथ आपके चरण-कमलों के नखों से निकलते आलोक रूप प्रवाह में बारम्बार मज्जन कर जो स्वयं को पवित्र करते हैं वे धन्य हैं । लाकाश जैसे सूर्य द्वारा, सरोवर हँस द्वारा, नगरी राजा द्वारा अलंकृत होती है उसी प्रकार आपके द्वारा भारत-वर्ष अलंकृत हुआ है । सूर्यस्त और चन्द्रोदय के मध्यवर्ती समय का आलोक जिस प्रकार अन्धकार द्वारा आवृत होता है । उसी प्रकार दो तीर्थकरों के मध्यवर्ती समय का धर्म मिथ्यात्व द्वारा आवृत होता है । यह पृथ्वी विवेक रूप नेत्रहीन होकर अन्धे की तरह दिशा-निर्णय न कर सकने के कारण इधर-उधर भटक कर विपथगामी हो गई है । ऐसे दिग्भान्त मनुष्यों ने कुर्वम् को धर्म, कुदेव को देव और कुगुरु को गुरु रूप में ग्रहण कर लिया है । संचित गुण रूप रत्न के कारण स्वभाव से ही है करुणा के सामर, जो पृथ्वी नरक के गङ्गार में पतित होने की उन्मुख है उसकी रक्षा के लिए आप अवतरित हुए हैं । मिथ्यात्व रूप सर्प पृथ्वी पर तब तक ही प्रबल है जब तक आपका वाणी रूपी अमृत प्रवाहित नहीं होता है । हे भगवन् ! आपने जिस प्रकार धाती कर्म को विनष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया है उसी प्रकार यह पृथ्वी मिथ्यात्व को नष्ट कर सम्यक्त्व को प्राप्त करे ।’ (श्लोक ७६-८८)

शक के स्तुति कर चुकने के पश्चात् भगवान् शतलनाथ स्वामी ते अमृत तुल्य बाणी में देशना दी—

‘इस संसार में सब कुछ क्षणिक और नानाविधि दुःखों का कारण है। अतः मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मोक्ष संवर द्वारा प्राप्त होता है। समस्त प्रकार के आश्रव का निरोध ही संवर है। संवर दो प्रकार के हैं: द्रव्य संवर और भाव संवर। कर्म पुद्गलों के आगमन निरोध द्रव्य संवर है। जिससे संसार का हेतु रूप परिणति और क्रिया का त्याग होता है, वह भाव संवर है। जिस-जिस उपाय से जो-जो आश्रव का निरोध होता है उसी आश्रव को रोकने के लिए विज्ञां को वही वही उपाय ग्रहण करना उचित है। क्षमा से कोध, नम्रता से मान, सरलता से माया और निःसृहता से लोभ रूप आश्रव को रोको। बुद्धिमान मनुष्यों का यह कर्तव्य है कि वे अखण्ड संयम द्वारा इन्द्रियों के विषय को नष्ट करें जो कि विष के समान मनुज का असंयत और उन्मादी कर देता है। मन, वचन और काय योग के लिए आश्रव को तीन गुणियों स्पष्टी अंकुश से बश में करें और प्रभाद को अप्रमत्त भाव से संवरण कर समस्त प्रकार के सावद्य योगों के त्याग द्वारा पूर्ण विरति रूप संवर की आराधना करें।’

(श्लोक ८९-९५)

‘संवर की आराधना करने वाले को सर्वप्रथम सम्यग दर्शन द्वारा मिथ्यात्म और मन की पवित्रता एवं शुभ्र ध्यान द्वारा आत्म और रोद्र ध्यान पर विजय प्राप्त करना उचित है।’ (श्लोक ९७)

‘अनेक द्वार विशिष्ट घर के लमस्त दरवाजे यदि खुले रहे और वह राह के किनारे अवस्थित हो तो राह की धूल उसमें अवश्य ही प्रविष्ट होगी एवं वह धूल तैलादि स्नेह पदार्थों के संयोग से उसमें संलग्न होकर उसे धूमिल कर देगी; किन्तु घर के समस्त दरवाजे यदि बन्द रहें तो धूल प्रवेश का और संलग्न होने का अवसर ही नहीं मिलेगा। अथवा सरोवर में जल प्रवेश की समस्त प्रणाली यदि खुली रहे तब उसमें सभी ओर से जल आकर प्रविष्ट होंगा, यदि खुली नहीं रहेंगी तो जल प्रविष्ट नहीं होगा। अथवा जहाज में यदि छिद्र रहेगा तो उस छिद्र से जल अवश्य ही प्रवेश करेगा, यदि इस छिद्र को बन्द कर दिया जाए तो प्रवेश नहीं करेगा। इसी प्रकार यदि आत्मा में कर्म पुद्गल प्रवेश के समस्त

दरबाजे, प्रणाली व छिद्रों को बन्द कर दिया जाए तो संवर द्वारा अलंकृत आत्मा में कर्म द्रव्य प्रविष्ट नहीं होगे। (श्लोक ९८-१०२)

‘आश्रव निरोध का उपाय ही संवर है। संवर के आदि क्षमा अनेक भेद हैं। गुणस्थानों पर चढ़ते हुए—जो-जो आश्रव द्वारा निरुद्ध होते हैं उसी-उसी नाम के संवर प्राप्त होते हैं। अविरत सम्यग् दृष्टि में मिथ्यात्व-निरोध से सम्यक्त्व रूप संवर और देश विरति आदि गुणस्थान में अविरति रूप संवर प्राप्त होता है। अप्रमत्तादि गुणस्थान में प्रमाद का संवरण होता है। लप्णान्त सोहः लौट शीण मोह गुणस्थान में कषायों का निवारण होता है और अयोगी के बली नामक चतुर्दश गुणस्थान में पूर्ण रूप से योग संवर होता है। जिन प्रकार समुद्रगामी वणिक छिद्र रहित जहाज से समुद्र अतिक्रम करता है उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति पूर्ण संवरखान होकर संसार-समुद्र को अतिक्रम कर सुखी होता है।’ (श्लोक १०३-१०७)

भगवान् की उपरोक्त देशना सुनकर बहुत से व्यक्तियों ने सर्व विरति रूप ध्रवण धर्म और अनेकों ने देश विरति रूप श्रावक धर्म ग्रहण कर लिया। प्रभु के आनन्द आदि ८१ गणधर हुए। भगवान् की देशना के पश्चात् आनन्द गणधर ने देशना दी। आनन्द स्वामी के प्रवचन के पश्चात् देवेन्द्र, अमुरेन्द्र व नरेन्द्र लिलोकपति को नमस्कार कर स्व-स्व निवास स्थान को चले गए।

(श्लोक १०८-११०)

भगवान् के तीर्थ में त्रिनेत्र चतुर्मुख कमलासन एवेतवर्ण ब्रह्म नामक यक्ष उत्पन्न हुए। उनके आठ हाथ थे। दाहिनी ओर के तीन हाथों में क्रमशः विजोरा, हथौड़ी, अंकुश था और चौथा अभयमुद्रा में था। बायीं ओर के चार हाथों में क्रमशः नकुल, शदा, अंकुश और अक्षमाला थी। इसी प्रकार श्यामवर्ण मेघवाहना अशोका नामक यक्षिणी उत्पन्न हुई। उनके दाहिनी ओर के एक हाथ में पाश और अन्य हाथ वरद-मुद्रा में था। बायीं ओर के एक हाथ में फल और दूसरे में अंकुश था। ये दशम तीर्थकर के शासन देव व देवी बने। इनके द्वारा सेवित प्रभु श्रीतलनाथ ने तीन मास कम पच्छीस हजार पूर्व तक प्रव्रजन किया। (श्लोक १११-११५)

भगवान् के तीर्थ में १००००० साष्ठु, १००००६ साढ़ियाँ, १४०० पूर्वधारी, ३२०० अवधिज्ञानी, ३५०० मनःपर्यवज्ञानी, ३०००

केवलज्ञानी, १२००० बैक्रियलब्धिधारी, ५८०० वादी, १८९००० आवक और ४५८००० आविकाएँ हुयीं। (इलोक ११६-१२०)

मोक्ष समय तिकट आने पर प्रभु सम्मेद शिखर गए और १००० मुनियों सहित अनशन ग्रहण कर लिया। एक मास पश्चात् बैशाख कृष्णा द्वितीय को चन्द्र जब पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में था प्रभु १००० मुनियों सहित मोक्ष को प्राप्त हुए। पच्चीस हजार पूर्व युवराज रूप में पचास हजार पूर्व राजा रूप में पच्चीस हजार पूर्व द्विती रूप में प्रभु रहे। आपका सम्पूर्ण आयु एक लाख पूर्व की थी। सुविधि स्वामी के निवाण से शीतलनाथ स्वामी के निवाण पर्यन्त नी करोड़ साठेरोड़म काल व्यतीत हुआ। प्रभु का मोक्ष गमन उत्सव यथारीति सम्पन्न कर शकादि देव स्व-स्व आवास को लौट गए।

(इलोक १२१-१२६)

अष्टदल कमल के अष्टदल पत्रों की तरह ध्यान योग्य तृतीय पर्व के आठ सगौ में सम्भव स्वामी से आरम्भ कर आठ तीर्थकरों का जीवन-चरित्र वर्णित हुआ है। इनका ध्यान करने पर मनुष्य निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करेगा। (इलोक १२७)

अष्टम सर्ग समाप्त

तृतीय पर्व समाप्त

चतुर्थ पर्व

प्रथम सर्ग

भगवान् श्रेयांसनाथ के चरण-नखों की दीप्ति मुक्ति-मार्ग को प्रकाशित करने वाले दीप की तरह है। वह दीप्ति तुम लोगों के लिए कल्याणकारी हो। त्रिलोक को पवित्र करने वाली और कर्म रूपी लता को उच्छ्रेद करने वाले हैसिए की तरह भगवान् श्रेयांसनाथ का पवित्र जीवन-दृत अब मैं विवृत करूँगा। (इलोक १-२)

युष्कराद्ध द्वीप के पूर्व विदेह में कच्छ नामक विजय में लोमा नामक एक नगरी थी। वहाँ नलिनगुलम नामक एक राजा राज्य करते थे। धार्मिक होने के कारण वे सर्वदा कलंकशून्य थे। उनके चरण-कमल राजाओं के मुकुटों द्वारा घषित होते थे। स्वर्ग के इन्द्र

की तरह पृथ्वी पर उनका एकछत्र राज्य था ताकि राज्य में कहीं कोई अपूर्णता न रहे। फलतः अमात्यों के सत्परामर्श से शत्रुओं की श्री को आकृष्ट कर उनके अधिगत कर दिया था। अतः उनका राज्य विरोधहीन स्वर्गराज की तरह प्रतीत होता था। उनका दुर्ग, प्राकार, बैताढश पर्वत स्थित विद्याधरों की आवास-श्रेणी को भी लजिज्जत करता था। उनका कोपागार कुबेर के धनागार से भी अधिक समृद्ध था। उनका सैन्यदल हस्ती, अश्व, रथ, पदातिक और मिन्न-वाहिनी से पृथ्वी को आवृत्त करता था और शत्रुओं के हृदय को शश्य क्षेत्र की तरह कषित करता था। (श्लोक ३-७)

विवेक जात बैराघ्य से वे यह अनुभव करने लगे यह शरीर, यौवन, ऐश्वर्य यहाँ तक कि जो कुछ भी प्रिय है उसका कोई मूल्य नहीं। सामान्य आहार ग्रहण कर, सामान्य शश्या पर सोकर जिस प्रकार जैसे-तैसे समय विताया जाता है उसी प्रकार उन्होंने कुछ समय राज्य-भोग में व्यतीत किया। तत्वज्ञान रूपी औषध से जब वे राज्य-भोग रूपी व्याधि से मुक्त हुए तब धर्म प्राप्ति के लिए वज्रदस्त नामक मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। मांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर वे कठोर तपश्चर्या और परिषहों को सहन कर शरीर और कर्म दोनों को शीर्ण करते हुए प्रद्वजन में निरत हो गए। शास्व वर्णित स्थानक, अर्हत् आदि की बहुविध उपासना कर उन्होंने तीर्थ-कर गोत्र कर्म उपार्जन किया। कठोर तपस्या व शुक्ल ध्यान में निरत रहकर चारों शारण ग्रहण कर यथा समय वे कालगत हुए और महाशुक्र विमान में उत्पन्न हुए। (श्लोक ८-१४)

जम्बूदीप के भरत क्षेत्र में पृथ्वी के रत्न-जडित नूपुर तुल्य सिंहपुर नामक एक नगरी थी। उस नगरी की अद्वालिकाओं की रत्नजडित छतें तारिकापुङ्ज प्रतिब्रिंश्चित कर अक्ष-सञ्जित अद्य-स्थली का अम उत्पन्न करते थे। नगर-प्राकारों के शिखर संलग्न मेघ ललाट पर लगे टीके से प्रतीत होते थे। सम्पन्न गृहों में सुन्दरियों के नूपुरों की रुचभून से लगता मानो श्रीदेवी के सम्मानार्थ पहाँ संगीतानुष्ठान का अयोजन किया गया है। वर्षा के जल के साथ प्रवाहित छत की रत्न-कणिकाएँ सबके लिए सुलभ होकर साम्य-समृद्ध में मिल जातीं। दिष्णु-से प्रतापी बाहुबल सम्पन्न और कीर्तिमान विष्णु नामक एक राजा वहाँ राज्य करते थे। माटी में

बीज वपन करने पर जिस प्रकार उससे प्रचुर शब्द उत्पन्न होता है उसी भाँति उनमें इन्द्रिय-संयम के कारण अनेकानेक गुण उत्पन्न हो गए थे। 'श्री' और 'भी' उनमें एक साथ रहती थी जो कि स्वयंवर माल्य की तरह जो शरणापन्न थे उनके लिए आनन्दकारी व जो शक्ति थे उनके लिए भीषण थी। दक्षिण्य के साथ जैसे पावता, वाक्य के साथ जैसे सत्यता उसी प्रकार उनकी शक्ति के साथ कीर्ति मिली हुई थी। साहस, गरिमा, हङ्कार आदि गुणों के बे प्रेक्षागृह या कीड़ा-स्थल थे। इन्द्र की शक्ति जैसी उनकी रानी थी विष्णु देवी। सौन्दर्य में तो मानो वे एक अन्य पृथ्वी थीं। तलवार की धार-सा था उनका सतीत्व। उनकी शिरीष कोमल देह का वही अलज्जार था। शक्ति में जिस प्रकार कोई राजा के सज्जकर्ण नहीं था उसी प्रकार सौन्दर्य और श्री में कोई उनके समतुल्य नहीं थीं। गति में वे मन्त्ररथ थीं; किन्तु धर्म-कार्य में नहीं। उनकी कटि क्षीण थी; किन्तु हृदय नहीं। उनका और राजा का दोनों का हृदय एक सूख में ग्रथित था। अतः एक दूसरे को आनन्दित करते हुए वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे।

(श्लोक १५-२९)

महाशुक्र विभान से नलिनीगुल्म का जीव अपनी आयुष्य पूर्ण कर ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी को चन्द्र जब अवणा नक्षत्र में था वहाँ से व्यव कर विष्णुदेवी के गर्भ में अवतरित हुआ। मुहूर्त भर के लिए नारकी जीवों को भी सुख का अनुभव हुआ। एक आलोक त्रिलोक में व्याप्त हो गया। क्योंकि अहंतों के कल्याणकों के समय ऐसा होता है।

(श्लोक ३०-३३)

बैताढ़घ पर्वत का मानो छोटा संस्करण हो ऐसा एक श्वेत हस्ती, उच्च शृङ्ख-विशिष्ट शरदकालीन मेघ-सा एक श्वेत वृष, छन्द-सी आकाश में उत्तिष्ठत पूँछ वाला एक बलवान सिंह, मानो रानी का ही प्रतिरूप हो ऐसी अभिषिक्तमना महालक्ष्मी, मानो उनका यश-सौरभ हो ऐसी सुरभित पुष्प-माल्य, मानो अमृत रूप ज्योत्सना-सागर में स्नान कर उठा हो ऐसा पूर्ण चन्द्र, आकाश की चूडामणि-सा दीप्तिमान सूर्य, शाखा सहित वृक्ष-सा हवा में आनंदोलित मणिमय छवज-दण्ड, सौभाग्य का आधार रूप रत्न-जड़ित पूर्ण कलश, पश्चहृद का मानो दूसरा प्रतिरूप हो ऐसा पद्म-सरोवर, आकाश को मानो छूना चाह रहा हो ऐसा उत्ताल

तरङ्गपुत्र समुद्र, पालक का ही मानो अनुज हो ऐसा एक दिव्य देव-विमान, समुद्र से मानो समस्त रत्नों को आहरित कर लिया हो ऐसा रत्न-पुञ्ज, शुक्र-सी उज्ज्वल धूमहीन अग्नि तीर्थङ्कर जन्म की सूचना देने वाले ये चौदह महास्वर्ण विष्णुदेवी ने अपने मुख में प्रविष्ट होते देखे ।

(श्लोक ४०-४१)

भाद्रपद कृष्णा छादशी के दिन चन्द्र जब अवणा नक्षत्र में था विष्णुदेवी ने गेहे के लक्षण से युक्त स्वर्ण-वर्ण एक पुत्र को जन्म दिया ।

(श्लोक ४१)

सिहासन कांपने से तीर्थङ्कर जन्म अवगत कर अधोलोक से भोगङ्करा आदि आठ दिक्कुमारियाँ आईं । उन्होंने तीर्थङ्कर माता को नमस्कार कर अपना परिचय दिया और 'डरें नहीं' कहकर वायु सृष्टि की एवं सूतिका-मृह के चारों ओर एक योजन तक का स्थान परिष्कृत कर उससे कुछ दूर खड़ी होकर गीत गाने लगीं ।

(श्लोक ४२-४४)

तदुपरान्त ऊर्ध्वलोक से नन्दनवन के शुंग पर अवस्थित मेघंकरा आदि आठ दिक्कुमारियाँ थायीं । उन्होंने तीर्थकर माता को नमस्कार कर अपना परिचय दिया एवं मेघ-सृष्टि कर सूतिका धर के चारों ओर एक योजन परिमित स्थान पर सुगन्धित जल बरसाया । फिर पुष्पवर्षणकर शूप जलाया और विष्णुदेवी से थोड़ी दूर खड़ी होकर अहंत् का गुणगान करने लगीं ।

(श्लोक ४५-४७)

रुचक पर्वत की पूर्व दिशा से नन्दोत्तरा आदि, दक्षिण दिशा से समाहारा आदि, पश्चिम दिशा से इला आदि, उत्तर दिशा से अलम्बूष्ठा आदि आठ-आठ दिक्कुमारियाँ आयीं और अहंत् माता को नमस्कार कर यथाविधि स्वयं का परिचय देकर पूर्वादि दिशा में अंद्रस्थित होकर दर्पण, कलश, पंख और चौंबर आरण कर प्रभु का गुणगान करने लगीं । नार विदिशाओं से चिनादि दिक्कुमारियाँ आकर हसी प्रकार चारों विदिशाओं में हाथ में प्रदीप लेकर गत गाने लगीं ।

(श्लोक ४८-५१)

रुचक पर्वत के आध्यंतर से रूपादि चार दिक्कुमारियों ने आकर अहंत् माता को नमस्कार कर अपना परिचय दिया । तदुपरान्त चार अगुल परिमाण प्रभु का नाभिनाल रखकर शेष अंश काट डाला । फिर जमीन में गड्ढा खोदकर उसे गाड़ दिया । उस

गर्त को हीरों से पूर्णकर उस पर पूर्वादि की एक अपरुप वेदी का निर्माण किया। सूतिका गृह के तीन और उन्होंने चार कक्ष युक्त बदली गृह का निर्माण किया और वहाँ एक-एक रत्न-सिंहासन रखा। अर्हत् को गोद में लेकर अर्हत् माता का हाथ पकड़ कर उन्हें दक्षिण दिशा के कदली गृह के सिंहासन पर बैठाया। तदुपरान्त लक्षपाक तेल से उनकी देह को संवाहित कर सुगन्धित उबटन लगाया। फिर पूर्व दिशा के कदली गृह में ले जाकर सिंहासन पर बैठाकर सुगन्धित जल, पुष्प-जल और निर्मल जल से स्नान कराया। फिर उन्हें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर उत्तर दिशा के कदली गृह के रत्न-सिंहासन पर बैठाया। वहाँ अरणि से अचिन प्रज्जवलित कर गो-शीर्ष चन्दन-काष्ठ जलाया और भूम को ताबीज की तरह दोनों के हाथों में बांध दिया। आप पर्वत तुल्य हो कहकर रत्न-जड़ित प्रस्तर गोलक ठोका। तदुपरान्त वे अर्हत् और अर्हत्-माता को सूतिका गृह में लाकर उनसे कुछ दूर खड़े होकर मांगलिक गीत गाने लगीं।

(स्लोक ४२-६२)

तत्पश्चात् शक प्रभु के सूतिका गृह तक आए और पालक विमान में बैठे हुए उस गृह की प्रदक्षिणा दी। इशान कोण में उस विमान को रखकर उन्होंने सूतिका गृह में प्रवेश किया और अर्हत् एवं अर्हत माता की बन्दना की। रानी को अवस्वापिनी निद्रा में निद्रित कर और उनके पास अर्हत् का विम्ब रखकर इन्द्र ने पाँच रूप धारण किए। उन पाँच रूपों में एक रूप में प्रभु को गोद में लिया, दूसरे रूप में प्रभु के मस्तक पर छब्ब धारण किया, तीसरे-चौथे रूप में चौंकर लिया और पाँचवें रूप में एक हाथ में वज्र लेकर प्रभु के अग्रवर्ती होकर चलने लगे। मुहुर्स मात्र में शक अतिपाण्डु-कवला शिला पर उपस्थित हो गए और प्रभु को गोद से लिए वहाँ बैठ गए।

(स्लोक ६३-६८)

तदुपरान्त स्वर्ग के अन्युतादि नौ इन्द्र, भवनपतियों के चमरादि बीस इन्द्र और व्यन्तर देवों के काल आदि बत्तीस इन्द्र, ज्योतिष्कों के सूर्य-चन्द्र दो इन्द्र भगवान् के अभिषेक के लिए वहाँ आए। शक के आदेश से आभियोगिक देवों ने कुम्भादि निर्मित किए। तदुपरान्त अन्युत से प्रारम्भ कर समस्त इन्द्रों ने तीर्थ से लाए पवित्र जल से प्रभु को स्नान कराया। अन्त में शक ने प्रभु को

ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर स्फटिक के वृष निर्मित किए। उन वृषों के शुगों से निःसृत जल जो ऊपर जाकर मिल जाता था प्रभु के मस्तक पर शिरने लगा—इस प्रकार शक्ति ने प्रभु को स्नान कराया। स्नान हो जाने पर वृषों को नष्ट कर प्रभु की देह पर अंगराग लगाया। तदुपरान्त शक्ति निम्नलिखित स्तुति करने लगा—
(श्लोक ६८-७४)

‘समस्त कल्याणकों में उत्कृष्ट आपका जन्म-फल्याणक मेरे हिए शुभकर हो है। ऐ प्रभु, मैं इन्द्रिय आपको स्नान कराता हुं, अंगराग करता हुं, पूजा करता हुं, स्तव-पाठ करता हुं क्योंकि आपकी भक्ति से मैं कभी लृप्त नहीं होता। धर्म रूपी वृष मिष्या धर्मश्चियी व्याघ्र द्वारा आकान्त हो गया है, आपके संरक्षण में अब वह वृष भरत क्षेत्र में जहाँ इच्छा हो वहीं विचरण करे। आज आपने मेरे हृदय में अपना मन्दिर निर्माणिकर हे देवाधिदेव, मुझे शरण दी है। इन मुकुटादि को मैं अलंकार नहीं मानता। आपके चरणनखों की दीप्ति जो मेरे मस्तक को स्पर्श करती है वहीं मेरा अलंकार है। चारणादि जो मेरी स्तुति फरते हैं उससे मुझे आनन्द नहीं मिलता। हे त्रिलोकपति, आपका गुणभान करने में ही मुझे आनन्द है। देवसभा में सिहासन पर बैठने में मुझे वह आनन्द नहीं मिलता जो आनन्द आपके सम्मुख धरती पर बैठकर मैं प्राप्त करता हुं। मैं अपने स्वराज्य के स्वातंत्र्य की कामना नहीं करता। हे भगवन्, मैं चाहता हुं मैं चिरकाल तक आपके अधीन रहकर ही वास करूँ।’

(श्लोक ७५-८२)

इस प्रकार स्तुति कर शक्ति प्रभु को लेकर अहंत् माता के निकट उपस्थित हुए और अवस्वापिनी निद्रा और अहंत् प्रतिष्ठिय को हटाकर प्रभु को माता के पास सुला दिया। शक्ति प्रभु के सूतिकागृह से और अन्य इन्द्र मेह पर्वत से तीर्थ स्थल पर उपस्थित याक्रियों की तरह यात्रा के अन्त में स्व-स्व गृह लौट गए। (श्लोक ८३-८४)

दूसरे दिन सुबह राजा विष्णु ने पुत्र-जन्मोत्सव मनाया। पृथ्वी पर आनन्द का एकछत्र आधिपत्य स्थापित हो गया। शुभदिन पर उत्सव सहित प्रभु के माता-पिता ने उनका नाम रखा श्रेयांस कुमार। शक्ति द्वारा नियुक्त पाँच धाक्रियों द्वारा पालित होकर एवं शक्ति प्रदत्त अंगूष्ठ का अमृत-पान कर प्रभु बद्धित होने लगे। यद्यपि

वे तीन ज्ञान के धारक थे फिर भी उन्होंने शिशु सुलभ सरलता धारण कर रखी थी कारण उषाकाल में सूर्य भी ताप-विकीर्ण नहीं करता। बालक रूपी देव, अमुर और मनुष्यों के साथ कीड़ा कर रथ से हस्तीपृष्ठ पर आरोहण करने की भाँति योवन को प्राप्त किया।

(श्लोक ८५-८९)

अस्सी धनुष दीर्घ प्रभु पद्मिष्ठ वैरागी थे फिर भी पिता की हच्छा से विवाह किया। जन्म से इक्कीस लाख वर्ष अतिकाल होने पर उन्होंने पिता के अनुरोध से राज्य-भार प्रहण किया। मंगल-निधान श्रेयांसनाथ ने धद्युण प्रताप से बयालोंस लाख वर्ष तक पृथ्वी पर शासन किया।

(श्लोक ९०-९१)

संसार-विरक्त होकर जब उन्होंने दीक्षा लेने का विचार किया तो लौकान्तिक देव शुभ-शकुन की तरह प्रभु को दीक्षा के लिए उत्साहित करने आए। प्रभु ने एक वर्ष तक शक के आदेश से कुबेर द्वारा प्रेरित और जूम्भक देवों द्वारा लाए धन को दान किया। वर्ष के अन्त में इन्द्र आए और प्रभु को दीक्षा पूर्व का अभिषेक स्नान करवाया मानो वे कर्म रूपी शत्रु को जय करने के लिए यात्रा कर रहे हों। देवों ने उनकी देह पर दिव्य-मुग्धित द्रव्य का विलेपन कर उन्हें रत्नालंकारों से भूषित किया। मंगल ही ने मानो रूप धारण किया है ऐसा शुभ देवदूष्य वस्त्र धारण कर वे भूत्यरूपी शक के कन्धों पर हाथ रखकर और छत्र-चामरधारी अन्यान्य इन्द्रों द्वारा परिवृत होकर रत्नखचित विमल-प्रभा शिविका में चढ़े। फिर देव और मनुष्यों से धिरे सहस्राम्रवन उद्यान पहुंचे। वहाँ शिविका से उत्तर कर समस्त अलंकारों को खोल डाला और स्कन्ध पर इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र रखकर फालगुन कृष्णा त्रयोदशी को चन्द्र के साथ श्रवणा नक्षत्र का योग आने पर दो दिनों के उपवास के पश्चात् प्रभु केश उत्पाटित कर दीक्षित हुए। शक उन्हीं केशों को अपने उत्तरीय के प्रान्त पर धारण कर हवा की भाँति तीव्र गति से मुहर्त्त मात्र में क्षीर समुद्र में ढालकर लौट आए। हस्त संचालन द्वारा इन्द्र ने जब कोलाहल शान्त कर दिया तब प्रभु ने जो सबको अभय दान करता है ऐसा सम्यक् नरित्र प्रहण कर लिया। त्रिलोक-पति के साथ एक सहस्र राजा लोग स्व-राज्य का तृणवत् परित्याग कर दीक्षित हो गए। देवेन्द्र और असुरेन्द्र संदीप्तवर द्वीप में शाश्वत्-

अहेतों का अष्टाहिंका महोत्सव कर अपने-अपने आदास को लौट गए। (श्लोक ९२-१०४)

दूसरे दिन सुबह सिद्धार्थ नगर के राजा नन्द के घर खीरान्न ग्रहण कर प्रभु ने पारणा किया। देवों ने रत्नादि पंच-दिव्य प्रकट किए और राजा नन्द ने प्रभु ने जहाँ खड़े होकर पारणा किया था वहाँ रत्नमय बेदी का निर्माण करवाया। वहाँ से प्रभु वायु की तरह ग्राम, खान, नगर आदि में प्रदर्शन करने लगे।

(श्लोक १०५-१०७)

पूर्व विदेह की मुद्रुटमणि स्वरूप पुण्डरीकिनी नामक एक नगरी थी। उसका सुवल नामक राजा था। बहुत दिनों तक राज्य करने के पश्चात् यथा समय उन्होंने मुनि वृषभ से दीक्षा ग्रहण कर ली। अप्रमत्त भाव से दीर्घकाल तक संयम और तप की आराधना कर काल प्राप्त होने पर अनुत्तर विमान में वे देव-रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक १०८-१०९)

भरत क्षेत्र के राजगृह में विश्वनन्दी नामक एक राजा था। उसके प्रियंगु नामक रानी और विशाखनन्दी नामक पुत्र था। राजा विश्वनन्दी के विशाखभूति नामक एक छोटा भाई था। वह युवराज पद पर अधिकृत था। वह बुद्धिमान्, बलवा, विनीत और न्याय परायण था। विशाखभूति की रानी धारिणी के गर्भ से पूर्व जन्म के पुण्योदय से मरीचि का जीव पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने उसका नाम रखा विश्वभूति। धात्रियों द्वारा पालित होकर विश्वभूति क्रमशः बड़ा होने लगा। वह समस्त कलाओं में पारंगत और समस्त गुणों से गुणान्वित था। क्रम से देह के अलंकार तुल्य यौवन को उसने प्राप्त किया। (श्लोक ११०-११४)

पृथ्वी पर मानो नन्दनवन अवनरित हुआ है ऐसे पुष्पकरण्डक नामक नगरी के सर्वोत्तम और रमणीय उद्यान में अन्तःपुरिकाओं के साथ वे विहार करते थे। उसी उद्यान में एक दिन राजपुत विशाख-नन्दी को भी अन्तःपुरिकाओं के साथ विहार करने की इच्छा हुई। किन्तु विश्वभूति वहाँ पहले से ही था अतः उसकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। रानी प्रियंगु की दासियाँ उस उद्यान में फूल लेने जाती थीं। वहाँ उन्होंने विश्वभूति को अन्तःपुरिकाओं के साथ विहार करते और विशाखनन्दी को बाहर खड़े देखा। वे ईर्ष्यविश रानी प्रियंगु से

बोली—‘महारानी ! युवराज-पुत्र विश्वभूति ही यहाँ राजकुमार है और कोई वहाँ है जिससे धरा तो अन्तःपुरिकाओं के साथ पुष्पकरण्डक उद्यान में आनन्द उपभोग कर रहा है और आपके पुत्र वहाँ प्रवेश के अधिकार से बनित बने बाहर खड़े हैं । यह सुनकर रानी झोड़ान्वित होकर कोप भदन में जा लेटी । राजा को जब यह ज्ञात हुआ तब वे रानी के पास आए और कारण पूछा । रानी बोली, ‘आपके रहते हुए विश्वभूति पुष्पकरण्डक उद्यान का राजा की तरह उपभोग कर रहा है और मेरा पुत्र भिञ्जु की तरह बाहर खड़ा है ।’ तब राजा ने रानी को समझाकर कहा—‘यह हमारा कुलदर्षण है कि यदि एक राजपुत्र वहाँ अवस्थान करे तब दूसरा राजपुत्र उसमें प्रवेश नहीं कर सकता ।’ किन्तु रानी राजा की इस बात से संतुष्ट नहीं हुई ।

(श्लोक ११५-१२५)

तब राजा ने एक छलना का आश्रय लिया और युद्ध यात्रा की भेरी बजाई । राजा ने घोषणा करवाई सामन्त पुरुषसिंह मेरा आदेश मान्य नहीं कर रहा है अतः हमें उससे युद्ध करना होगा । यह संवाद जब विश्वभूति के कानों में पहुंचा वह शीघ्र राजा के पास आया और बोला—‘मेरे रहते आप क्यों युद्ध में जाएंगे ?’ इस प्रकार राजा को रोककर विश्वभूति संन्यवाहिनी लेकर युद्ध यात्रा पर निकला । राजपुत्र आ रहे हैं जानकर सामन्त पुरुषसिंह भूत्य की तरह उनके सम्मुख उपस्थित हुआ और सम्मान सहित अपने प्रासाद में ले गया । हस्ती-अश्वादि उपहार देकर वह करबद्ध बना उनके सम्मुख उपस्थित होकर बोला—‘कुमार, मैं आपकी और क्या सेवा करूँ ?’ विश्वभूति असमंजस में पड़ गया । अतः जिस राह से आया था उसी राह से लौट गया । भला निर्दोष पर कौन कुद्ध हो सकता है ?

(श्लोक १२३-१२८)

इस बीच विशाखनन्दी अन्तःपुरिकाओं को लेकर उद्यान में चला गया ।

विश्वभूति लौट आने पर पुष्पकरण्डक उद्यान में प्रवेश करने लगा । द्वाररक्षक ने उसे रोका । बोला—‘भीतर विशाखनन्दी हैं ।’ मर्यादा रूपी तट द्वारा रोका जाने पर शीर्य के समुद्र-सा विश्वभूति सोचने लगा अरण्य से हस्ती को बाहर करने के लिए जिस प्रकार छल का आश्रय लेना होता है उसी प्रकार भुझे भी उद्यान से बाहर

करने के लिए छलना का आश्रय लिया गया है। अब मैं क्या करूँ? कोध से अभिभूत कुमार ने हस्ती जैसे दन्त ढारा आघात करता है उसी प्रकार निकटवर्ती फलभार से नत कपित्थ वृक्ष पर मुष्टि ढारा आघात किया। आघात से गिरे कपित्थ वृक्ष के फलों से आवृत भूमि की ओर देखकर वे द्वार-रक्षक से बोले - 'यदि मेरे पिता के अथ्रज के प्रति मेरे मन में सम्मान भावना नहीं रहती तो इन फलों की तरह तुम्हारे मुण्डों से पृथ्वी को आवृत कर देता। सर्प-बेष्टन जैसी इस भोग-वासना को विष्कार है जिसके लिए ऐसी छलना का आश्रय लिया गया है।' (श्लोक १३०-१३६)

ऐसा कहकर विश्वभूति ने तुण की भाँति प्रताद परित्याग कर मुनि सम्भूत से दीक्षा प्रहण कर ली। (श्लोक १३७)

विश्वनन्दी को जब वह इत्याद्युता और मुलताज परिवार और अन्तःपुरिकाओं को लेकर वहाँ उपस्थित हुआ और मुनि सम्भूत को बन्दना कर विश्वभूति के पास गए और दुखात्त स्वर में अश्रु विसर्जन करते हुए बोले 'पुत्र, तुम जब भी कुछ करते हो मुझसे पूछकर ही करते हो। मेरे दुर्भाग्य के कारण ही क्या तुम इस कार्य को सहसा कर बैठे? हे पुत्र, मुझे तुम पर ही आशा थी, भरोसा था। हे दुर्दिन के रक्षक, तुमने क्यों सहसा हमारी आशाओं को भंग कर छाला? पुत्र, तुम व्रत का परित्याग कर आनन्द उपभोग करो। पुष्पकरण्डक उद्यान पूर्व की भाँति ही सर्वदा तुम्हारे लिए खुला रहेगा।' (श्लोक १३८-१४२)

विश्वभूति ने उत्तर दिया—'सांसारिक उपभोग में अब मेरी हचि नहीं रही। इन्द्रिय-सुख वास्तव में दुःख का कारण है। स्वजनों के प्रति स्नेह संसार-रूप कारागार की शृङ्खला जैसा है। मकड़े जिस प्रकार अपने ही जाल में आचढ़ हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी मोहपाश में आचढ़ रहता है। मुझपर कोई शासन न करे इसलिए अब मैं उत्तम तप और संयम की आराधना करूँगा। मेरे लिए परलोक में यही कल्याणकारी होगा।' (श्लोक १४३-१४५)

यह सुनकर राजा दुःखित अन्तःकरण से प्राप्ताद को लौट आए। विश्वभूति गुरु सहित प्रव्रजन करने लगे। (श्लोक १४६)

एक बार मुनि विश्वभूति विविध प्रकार की तप-साधना करते हुए मथुरा नगरी के निकट आए। उस समय विशाखानन्दी

अपनी बुधा की कन्या मथुरा की राजकुन्त्या से विवाह करने के लिए अनुचरों सहित वहाँ अवस्थित था। विश्वभूति एक मास के उपवास के पश्चात् भिक्षा लेने के लिए विशाखनन्दी की छावनी के पास से गुजर रहे थे। विशाखनन्दी के अनुचर उन्हें देखकर पहचान गए। अतः कुमार विश्वभूति, कुमार विश्वभूति पुकारने लगे। उन्हें देखते ही विशाखनन्दी का क्रोध उद्दीप्त हो गया। ठीक उसी समय मुनि विश्वभूति एक गाय के ध्वनि से जमीन पर गिर गए। यह देखकर विशाखनन्दी अट्टहास कर उठा। बोला—‘कपित्थ बृक्ष के फलों को झार देने की तुम्हारी वह शक्ति कहाँ गई?’ विशाखनन्दी की बात सुनकर विश्वभूति भी क्रोधित हो उठे। उन्होंने उसी गाय को शूंग ढारा उठाकर तृण की तरह चारों ओर घुमाकर अपनी शक्ति को प्रदर्शित किया। फिर शाध को नीचे उतारकर अपने भन्तव्यस्थल को जाते हुए सोचते ही—यद्यपि मैंदे संसार छोड़ दिया हूँ तिन भी यह दुष्ट मेरे प्रति अब भी बंसा ही ईर्ष्यपिण्डायण है। अतः उन्होंने मन ही मन यह निदान किया—अपनी तपस्या लब्ध पुण्य से मैं अगले जन्म में महाशक्तिशाली होकर जन्म प्राप्त करूँ। इस निदान की आलोचना किए बिना अपनी एक करोड़ वर्ष की आयु पूर्णकर वे महाशुक्र विमान में परिपूर्ण आयु वाले देव रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक १४७-१५८)

दक्षिण भारतार्द्ध में पृथ्वी के मुकुट तुल्य उच्च प्राकार समन्वित पोतनपुर नामक एक नगर था। वहाँ सहस्रकिरण सूर्य-से सर्वगुण-सम्पन्न रिपुप्रतिशत्रु नामक राजा राज्य करते थे। भरतक्षेत्र के छह भाग की तरह वे व्याय, नीति, बल, पराक्रम, रूप और ऐश्वर्ययुक्त थे और साम, दाम, दण्ड, भेद नीति से इन्द्र के चार दन्त वृक्त ऐरावत की तरह प्रतिभासित होते थे। वे सिंह की भाँति शौर्य सम्पन्न, हस्ती की तरह बलशाली, कामदेव की तरह रूपवान और बृहस्पति की तरह बुद्धिसम्पन्न थे। पृथ्वी को अधिगत करने में उनका शौर्य, उनकी तीक्ष्ण बुद्धि, भुजाओं की तरह एक दूसरे को अलंकृत करते थे।

(श्लोक १५९-१६३)

उनकी प्रधान महिषी का नाम भद्रा था। वह सीभाग्य की आगार और पृथ्वी ने ही मानो रूप धारण कर लिया है, ऐसी थी। पति के प्रति भक्ति रूप अस्त्रधारिणी, नारी प्रहरी की तरह सर्वदा

जागरूक, संचित रत्न की तरह अपने चारित्र की रक्षा करती थी। नयन-कमल की तरह वह सदैव सुन्दर प्रतीत होती थी मानो राज्य की श्री ने रूप ग्रहण किया है, मानो परिवार के प्रति एकान्तिक निष्ठा ही मूलिमान हो उठी है। (श्लोक १६४-१६५)

एक दिन सुबल का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ। रात्रि के शेष भाग में सुख-शय्याशायीन उन्होंने बलदेव के जन्म की सूचना देने वाले चार महास्वप्न देखे। आनन्द के आधिक्य से नींद टूट जाने पर वे उसी समय उठकर राजा के पास जाकर बोलीं - 'रजत-पर्वत-से चार दीति विशिष्ट हस्ती को मेघ में चन्द्रमा-प्रवेश की तरह मैंने मुख में प्रवेश करते देखा है। एक उच्च कुम्भ, विशिष्ट नादकारी खड़ी पूँछ युक्त निर्दोष मानो शरद-मेघ से रचित हुआ है ऐसा दृष्ट देखा। पूर्णचन्द्र देखा जिसकी किरणें वहुध दूर तक विस्तृत होकर मानो दिक्समूह के कणभिरण प्रस्तुत कर रही हैं। गुञ्जरित अभ्यर जिस पर बैठे हैं ऐसे प्रस्फुटित कमल सह एक पश्चहृद देखा जो मानो शतमुख होकर गा रहा है। प्रभु इस स्वप्न-दर्शन का कल मुझे बताएँ। कारण, मंगलकारी स्वप्नों के विषय में अनजान को पूछने से लाभ नहीं होता।'

(श्लोक १६६-१७४)

राजा बोले, 'धिये ! इस स्वप्न-दर्शन के फलस्वरूप तुम्हारा पुत्र महाबलशाली और सौन्दर्य में देवोपम होगा।' (श्लोक १७५)

यथा समय रानी ने श्वेतवर्ण, दीर्घबाहु, अस्सी धनुष दीर्घ एक पुत्र को उसी प्रकार प्रसव किया जैसे पूर्व दिशा चन्द्र को प्रसव करती है। चक्रवर्ती जैसे चक्र उत्पन्न होने पर उत्सव करते हैं राजा ने भी उसी प्रकार पुत्र-रत्न के जन्म का महोत्सव किया। एक शुभ दिन शुभ नक्षत्र में उन्होंने साडम्बर गुच का नाम रखा अचल। नहर के जल से जैसे वृक्ष वर्द्धित होता है वैसे ही धात्रियों द्वारा लालित होकर देह-सौन्दर्य सम्पन्न वे दिन-दिन वर्द्धित होने लगे।

(श्लोक १७६-१७९)

अचल के जन्म के कुछ समय पश्चात् रानी भद्रा ने केतकी जैसे पुष्पभार धारण करती है उसी प्रकार पुनः गर्भ धारण किया। समय पूर्ण होने पर जाह्नवी जैसे कमल उत्पन्न करती है वैसे ही सर्व सुलक्षणा एक कन्या को उन्होंने जन्म दिया। उसका मुख चन्द्र-सा,

नेत्र हरिण-शिशु-से होने के कारण राजा ने उसका नाम रखा मृगावती। बाश्रम-पालित मृग जैसे निर्बाध बढ़ता है उसी प्रकार एक गोद से दूसरी शोद में जाते हुए वह मृगनयना बड़ी होने लगी। उसे कन्धे पर लेकर जब धारियाँ थांगन में चूमने निकलतीं तो वे रत्न-पुत्तलिका युक्त स्तम्भ-सी लगतीं। क्रमशः शैशव अतिक्रम कर वह यौवन को प्राप्त हुई। उसने ऐसा शारीरिक सौन्दर्य पाया मानो संजीवनी-सुधा पान कर मदन पुनर्जीवित हो गया हो। वक्त भू-रेखाओं के नीचे उसका मुख चन्द्र के कणभिरण-सा और काली मणियों से युक्त नेत्र भ्रमर बैठे श्वेत पद्म-से प्रतीत होते। उसकी सुन्दर श्रीवा ने पद्ममुख के नाल की शोभा धारण की। सीधी अङ्गुलियाँ युक्त हस्त की काम के तृणीर के साथ तुलना होती। उसका वक्ष देहरूपी लावण्य नदी के तट पर बैठे मानो दो चक्रवाक हों। उसकी कटि क्षीण थी मानो वक्ष देह का गुरु भार वहन कर वह क्षीण हो गई हो। उसकी नाभि मदन की क्रीड़ा वापी-सी गंभीर थी। उसके नितम्ब रत्नाचल पर्वत के गात्र की तरह विपुल और मदृग थे। उसकी जांघें श्रावण नैवाहृति होने से कदली स्तम्भ-सी शोभित होतीं। उसकी पगतलियाँ घुटनों के नीचे की पिढ़लियों सहित नालयुक्त कमल-सी दिखती थीं। यौवन के नवीन सौन्दर्य से सुशोभित ऐसे अंगों वाली वह विधाधर कन्या-सी प्रतीत होती थी।

(श्लोक १६०-१९१)

मृगावती का देह-सौन्दर्य जैसे-जैसे बढ़ने लगा वैसे-वैसे भद्रा के मन में उसके योग्य पति की चिन्ता बढ़ने लगी। जिस प्रकार मैं चिन्ता करती हूं उसी प्रकार राजा भी चिन्ता करें, सोचकर रानी भद्रा ने मृगावती को राजा के पास भेजा। यह उनकी लड़की है भूलकर रिपुत्रितात् न मन ही मन सोचने लगे - देह सौन्दर्य की पराकाष्ठा कंदर्प के शरतुल्य त्रिलोक सुन्दरी को परास्त करनेवाली यह कौन है? स्वर्ग और मृत्यु का आधिपत्य प्राप्त करना सहज है; किन्तु ऐसी कन्या जिसने मेरे हृदय को जीत लिया है पाना कठिन है। मेरे पूर्व जन्म के सुकृत के फलस्वरूप देव, अमृत और मानवेन्द्र की सुकृति से भी अधिक ऐसी कन्या मुझे मिली है।

(श्लोक १९२-१९९)

ऐसा सोचकर राजा ने प्राणों से भी प्रिय उसे अपनी शोद में

बैठाकर स्पर्श, प्रिय सम्भाषण, आलिगन, चुम्बनादि कर बृद्ध कंचुकी के साथ उसे पुनः अन्तःपुर में भेज दिया ।

लोकोपवाद दूर करने के लिए उन्होंने मन्त्री परिवद और नागरिकों की एक सभा बुलवाई । उस सभा में राजा ने यही प्रश्न रखा — 'मेरे राज्य में, नगर में या ग्राम में या अन्य किसी स्थान में कोई रत्न उत्पन्न हो तो उस पर किसका अधिकार होगा आप लोग बताएँ ?' (श्लोक २००-२०१)

प्रत्युत्तर में वे सभी बोले — 'महाराज आपके राज्य में यदि कोई रत्न उत्पन्न होता है तब उस पर आपका एकमात्र अधिकार है दूसरे किसी का नहीं ।' (श्लोक २०२)

इस प्रकार तीन बार उनकी स्वीकृति प्राप्त कर राजा ने अपनी कन्या मृगावती उन्हें दिखाई । तदुपरान्त वे बोले — 'यह कन्यारत्न मेरे घर में उत्पन्न हुआ है । आप सबकी सम्मति से मैं इसके साथ विवाह करता हूँ ।' नागरिक राजा की इस युक्ति से लज्जित होकर घर लौट गए । राजा ने उससे गान्धर्व विवाह किया । जिस कारण वे उनकी प्रजा—सन्तान के पति बने इसलिए उनका प्रजापति नाम संसार में प्रसिद्ध हुआ । (श्लोक २०३-२०५)

भद्रा ने जब राज-परिवार की यह कलङ्क-कथा सुनी जिसने उसके पति को लोक निन्दा का पात्र बना दिया था वहुत दुःखी हुई और पुत्र अचल को लेकर दक्षिण देश चली गई जहाँ वह लोकोपवाद नहीं पहुँच सकता था । नए विश्वकर्मा की तरह अचल ने वहाँ माँ के लिए माहेश्वरी नामक एक नगरी स्थापित की । कुबेर ने जैसे अयोध्या को स्वर्ण पूर्ण किया था वैसे ही अचल ने सब खानों से स्वर्ण संग्रह कर उस नगरी को स्वर्ण-पूरित किया । उसने वहाँ उच्चकुल जात मन्त्री, रक्षी और सेवक सहित माता को नगर-लक्ष्मी की तरह प्रतिष्ठित कर उस स्थान का परित्याग किया । स्त्रियों में चृडामणि स्वरूप साध्वी, सच्चरित्र की अलङ्कार-रूपा, देवोपासना आदि षड्वित्र आवश्यक कर्म में निरत भद्रा उस नगरी में रहने लगी और पितृ-भक्त अचल पुनः पोतनपुर लौट गया । पिता चाहे कैसा भी क्यों न हो आर्य के लिए सम्माननीय होता है । अचल पूर्व की भाँति ही पिता की आज्ञा का पालन करने लगा । जो सम्मान के योग्य हैं जानी उनकी आलोचना नहीं करते । चन्द्र ने जैसे

रोहिणी को प्रधान महिषी का पद प्रदान किया था उसी प्रकार प्रजापति ने मृगावती को प्रधान महिषी का पद दिया ।

(श्लोक २०७-२१५)

कुछ समय ब्यतीत होने पर मुनि विश्वभूति का जीव महाशुक विमान से च्युत होकर मृगावती के गर्भ में प्रविष्ट हुआ । सुख-शाया शायीन मृगावती ने रात्रि के शेष भाग में वासुदेव के जन्म-सूचक सात स्वप्न देखे—विथस्त केशरयुक्त सिंह जिसके नाखून चन्द्रकला-से और पुच्छ चंचर-सी थी । पद्मासीना श्री देवी जिसके दोनों ओर खड़े दो हाथों सूँड में क्षोर समुद्र के जल से भरे दो कुम्भ धारण कर उनका अभिषेक कर रहे थे । अन्धकार नाशकारी प्रचण्ड दीप्तिमान सूर्य जो रात्रि को भी दिवस-सा प्रकाशित कर रहा था । मधुर स्वच्छ जलपूर्ण कलश जिसका मुख पश्च द्वारा ढका था और श्रीवा स्वर्ण घुंघरु युक्त माल्य से शोभित थी । बहुविव जलजन्तु पूर्ण समुद्र जो विविव रत्न-राशि से झलमलाता था व जिसकी तरणे आकाश को स्पर्श कर रही थीं । रत्नस्तूप, पञ्चवर्णीय जिन रत्नों से विच्छुरित इन्द्र-धनुषी शोभा आकाश में विखर गई थी । निर्षम अग्नि-शिखा—नेत्रों को आनन्दमयी वह अग्निशिखा आकाश को प्रदीप्त कर रही थी । स्वप्न-दर्शन के पश्चात जागृत मृगावती ने राजा से स्वप्न-फल बताने को कहने पर राजा बोले—‘देवी, तुम्हारा पुत्र भरतार्द्ध का अधीश्वर होगा ।’ नैमित्तिकों को पूछने पर उन्होंने भी स्वप्न का यही अर्थ बताया । कारण, ज्ञानियों में मतभेद नहीं होता । तदुपरान्त समय पूर्ण होने पर रानी ने सर्व लक्षणयुक्त असीधनुष परिमित कृष्णवर्ण एक पुत्र को जन्म दिया । राजा के हृदय की तरह उस समय दिक् चक्रवाल प्रजात्म हो गए, पृथ्वी प्रसारित और लोकचित्त आनन्दपूरित हो गया । रिपुत्रिशब्दु ने आनन्दित होकर मौशाला से गायों को जैसे मुक्त किया जाता है वैसे ही कारागार से शत्रु पर्यन्त को मुक्त कर दिया । अर्द्धचक्री की भविष्यत् श्री को स्थान देने के लिए उन्होंने कामधेनु की तरह प्रार्थियों को धन दान दिया । पुत्र-जन्म या विवाह के समय जैसे उत्सव होता है उसी प्रकार निरवच्छिन्न उत्सव नगरवासियों ने किया । मङ्गल द्रश्यवहनकारी स्त्रियों को प्रासाद में धारण ही नहीं किया जा सका, न ही प्रासाद के सम्मुख भाग में । कारण, ग्राम-नगर से नदागतों

के साथ वे भी मिल गयीं। प्रत्येक स्थानों में तारण बने। प्रतिपद पर संगीत घर, नगर एवं प्रासाद में सर्वत्र आयोजित हुए।

(श्लोक २१६-२३३)

बालक की पीठ पर तीन हाड़ होने के कारण राजा ने उसका नाम रखा त्रिपृष्ठ। धात्रियों द्वारा लालित और अचल के साथ खेलकर त्रिपृष्ठ क्रमशः बड़े होने लगे। पांवों में तूपुर पहनकर बलभद्र अचल के साथ खेलते हुए वे उनके आगे चलते। लगता महावत सहित जैसे हस्ती चल रहा हो। प्रखर बुद्धि सम्पन्न होने के कारण उन्होंने समस्त विद्याओं को, दर्पण जैसे सहज ही प्रतिक्रिम्ब धारण करता है, उसी प्रकार धारण कर लिया। उनके शिक्षक उनके साक्षी रहते। कालक्रम से सामरिक शिक्षा प्राप्त करने लायक उनकी उम्र हो गई। दीर्घबाहु विस्तृत वक्ष के कारण अनुज होने पर भी वे बलभद्र के समवयस्क ही लगते थे। दोनों भाई जब निरवच्छिन्न रूप से एक साथ क्रीड़ा करते तब उन्हें देखकर लगता जैसे वे शुक्ल और कृष्ण दो पक्ष हैं। गाढ़ा नीला और पीत वस्त्र में ताल और गृहुदध्वज वे सुवर्णशैल और अंजनशैल-से लगते। अचल और वासुदेव जब दोनों मिलकर खेलते तो उनके पदक्षेप से पृथ्वी कांपने लगती और वज्र-सा शब्द निकलता। शक्तिशाली हस्ती भी कुम्भ पर खेल-खेल में किया उनका मुष्ट्याघात सहन नहीं कर पाते थे। पर्वतशिखर को भी वे दीर्घबाहु बात ही बात में बलमीक की तरह ढहा देते। अन्य की तो बात ही क्या राक्षसों का भी भय न कर वे शरणागत को शरण देते थे। त्रिपृष्ठ कभी भी अचल के बिना नहीं रह सकते थे। वे दो देह एक मन की तरह एक गाथ ही काम करते।

(श्लोक २३४-२४५)

रत्नपुर नगर में प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव नामक एक राजा थे। वे दीर्घबाहु अस्सी धनुष परिमित देही, नवोदित मेघ वर्ण और चौरासी लाख पूर्व की आयुष्य युक्त थे। हस्तीकुम्भ को विदीर्ण करने में सिह को जैसे निवृत्ति नहीं होती कैसे ही शत्रुओं को निजित किए बिना उनके हाथों की खाज शान्त नहीं होती। महाशक्तिशाली दीर्घबाहु वे सर्वदा युद्ध के लिए व्यग्र रहते। वे विनीत शत्रु या युद्धरत शत्रु के द्वारा कभी तृप्त नहीं होते। उनका शीर्ष शत्रु-रमणियों के कमल-नयनों में सदा अश्रु प्रवाहित कराते। उनके लिए

वे करुण देव के अम्बूर रूप में परिणित होते। चक्र जिससे उन्होंने दिक् चक्रवाल को अवदमित किया था वह उनके हाथ में शबू संन्य के लिए द्वितीय मार्तण्ड-सा प्रतिभासित होता। हमारे हृदय में अवस्थान करने के कारण हमें विरोधी समझकर वे हत्या नहीं करेंगे इसलिए वे राजा लोग उनके प्रति भक्तिमान रहते। योगी जिस प्रकार परमात्मा को हृदय में धारण करते हैं उसी प्रकार वे उनको हृदय में धारण करते थे। (श्लोक २४६-२५३)

बाहुबल से उन्होंने भारतवर्ष के तीन खण्डों पर आधिपत्य विस्तार कर बैताढघ पर्वत को सीमा निर्देशक प्रस्तर खण्ड में परिणित कर दिया था। बाहु और विद्या बल से बैताढघ पर्वत की दोनों भुजाओं की तरह विद्याधिर निवासों पर उन्होंने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। वे मगध, प्रभास, वरदाम देव और राजाओं द्वारा उपहार-दान से पूजित होते थे। सोलह हजार मुकुट-धारी राजा उनके भादेश को मुकुट की तरह मस्तक पर धारण करते थे। दीर्घबाहु स्वयं एकलक्ष्म राज्य का आनन्द उपभोग कर मृत्युलोक के इच्छ्र की तरह समय व्यतीत करते थे। (श्लोक २५४-२५८)

एक बार अश्वग्रीव जब आनन्द उपभोग कर रहे थे उसी समय आकाश में अशुभ मेघोदय का तरह उनके मन में यह विकल्प उदित हुआ :

भारतवर्ष के दक्षिण भाग में जितने भी राजा हैं, समुद्र जैसे पर्वत को निमिज्जत कर देता है उसी प्रकार वे मेरे प्रताप से अवदमित हैं। हरिणयूथ के मध्य सिंह की तरह पृथ्वी पर मैं ही एकमात्र वीर हूँ। अतः मेरा धातक कौन हो सकता है? यह जानना दुष्कर है; किन्तु मैं तो जानूँगा ही। (श्लोक २५९-२६१)

ऐसा सोचकर उन्होंने द्वार-रक्षक द्वारा नैमित्तिक अश्वविन्दु को बुलवाया। उनके द्वारा पूछे जाने पर नैमित्तिक बोला—‘राजन्, ऐसा अशुभ वाष्प उच्चारित न करें। समस्त पृथ्वी को जय करने वाले आपको यम भी क्षति नहीं पहुँचा सकता। सामान्य भनुष्य का तो कहना ही क्या?’ (श्लोक २६२-२६४)

अश्वग्रीव बोला—‘नैमित्तिक, विनय प्रकट न कर सत्य क्या है वह बताओ। डरो मत। कारण जिन पर विश्वास किया जाता है वे चाटुकार नहीं होते।’ इस भाँति बार-बार पूछने पर नैमित्तिक

ने गणना कर बताया—‘देव, आपके दूत चण्डवेग पर जो आक्रमण करेगा और पश्चिम सीमान्त में रहने वाले सिंह को जो हत्या करेगा वह आपका घातक होगा। नैमित्तिक की यह बात सुनकर बज्जाहत से मन-ही-मन बे क्षुब्ध हुए; किन्तु ऊपर से उसे सम्मानित कर बैर पक्ष के दूत की तरह विदा किया। (इलोक २५४-२८८)

पश्चिम सीमान्त पर अश्वग्रीव का धान्य क्षेत्र था। वहाँ के कृषक एक सिंह द्वारा विनष्ट होते थे। उनकी रक्षा करने के लिए उनके अधीनस्थ सोलह हजार राजाओं को उन्होंने पर्याप्तक्रम से पहरा देने का भार सौंपा था। शायों से कृषक जैसे खेत की रक्षा करते हैं उसी प्रकार समस्त राजा कृषकों के खेत की रक्षा करते। इस प्रकार माझी राजाओं हारा वहाँ के कृषक रक्षित थे।

(इलोक २६९-२७१)

अश्वग्रीव ने अब एक विशेष उद्देश्य को लेकर परिषद बुलाई। उस परिषद में उनके उपदेष्टा, मन्त्री, सेनापति, सामन्त आदियों को सम्बोधित कर बोले—‘मास्राज्य के सामन्त राजा, सेनापति और वीरों में ऐसा कोई राजकुमार आप लोगों ने देखा है जो असाधारण शक्तिशाली, पराक्रमी और दीर्घबाहु है?’ उन्होंने जवाब दिया—‘राजन्, सूर्य की उपस्थिति में कौन प्रतापशाली है? पवन के सम्मुख कौन पराक्रमी है? शुद्ध की तुलना में कौन तीव्रगति है? भेरु की तुलना में कौन बन्दनीय है? समुद्र की तुलना में कौन गम्भीर है? आपकी तुलना में ऐसा शक्तिशाली कौन हो सकता है? कारण आपकी शक्ति से परम शक्तिशाली भी पराजित हुआ है।’ (इलोक २७२-२७५)

अश्वग्रीव बोले—‘आप जो कुछ कह रहे हैं वह प्रिय भाषण है सत्य भाषण नहीं क्योंकि शक्तिशाली के ऊपर भी शक्तिशाली है। पृथ्वी बहुरत्ना है।’ (इलोक २७६)

तब मन्त्रियों में चारुलोचन नामक एक मन्त्री बाचस्पति की तरह सहज बोध्य वावद में बोला—‘राजा प्रजापति के देवोपम दी पुत्र हैं जो मृत्युलोक के वीरों को तृणवत् समझते हैं।’

(इलोक २७७-२७८)

यह सुनकर सभा विसर्जित कर अश्वग्रीव ने अपने दूत चण्डवेग को विशेष कार्य से प्रजापति के पास भेजा। दूत अपने प्रभु के वंभव

योग्य सुन्दर रथ और अज्ञारोही सैन्य लेकर कुछ ही दिनों में पोतन-पुर पहुंच गया। राजा प्रजापति उस समय देवों की तरह सर्वलिंगारों से विभूषित होकर सामन्त राजा, मन्त्री, अचल और त्रिपृष्ठकुमार, राजपुरोहित एवं अन्य सभासदों सहित बरुण जैसे सामुद्रिक जीवों से परिवृत होकर बैठता है उसी प्रकार राज-सभा में बैठे थे। राजासभा में उस समय अविच्छिन्न भाव से संगीत का कार्यक्रम चल रहा था। विभिन्न पदन्यास भाव-भंगिमा सहित नर्तकियाँ नृत्य कर रही थीं। दाढ़ों के शब्दों से आकाश गूँज रहा था। जीवनदायिनी वेणुघ्वनि सह सुन्दर मधुर तालानुग धाम और मूर्छना समान्वित संगीत ही रहा था। उसी समय चण्डवेग बिना कुछ सूचना दिए द्वार-रक्षकों की उपेक्षा कर विद्युत प्रकाश की तरह सहसा सभा में प्रविष्ट हुआ। प्रभु के दूत को आकर्सिमक भाव से आते देख प्रजापति सामन्त राजाओं सहित प्रभु की तरह उसकी अभ्यर्थना करने के लिए उठकर खड़े हो गए। उन्होंने दूत को समादर सहित उचित आसन पर बैठाया और प्रभु के संवाद पूछे। विद्युत-झलेक से जैसे शास्त्र-पाठ बन्द हो जाता है उसी प्रकार नृत्य-गीत बन्द हो गया; वादक, नर्तकी और गायिकाएँ अपने-अपने आवास को लौट गईं। जब प्रभु का मन अन्यत्र है तब कलाप्रदर्शन का समय कहाँ?

(श्लोक २७९-२८०)

त्रिपृष्ठ कुमार ने जब देखा कि उस दूत के आने से संगीत का कार्यक्रम बन्द हो गया तब उसने पास खड़े भूत्य से पूछा—‘यह असम्भव कौन है जिसे समय-असमय का भी ज्ञान नहीं है, जो कि बिना सूचना दिए राजसभा में प्रविष्ट हो गया? मेरे पिता क्यों उसका स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए? द्वार-रक्षकों ने उसे भीतर आने ही क्यों दिया?’

(श्लोक २९१-२९३)

भूत्य ने प्रत्युत्तर दिया—‘यह राजाधिराज अश्वग्रीव का दूत है। दक्षिण भारत के समस्त राजा उनके दास हैं। इसीलिए आपके पिता प्रभु के दूत का प्रभु की तरह स्वागत करने को उठ खड़े हुए थे। इसीलिए द्वारपालों ने भी उसे नहीं रोका। वे जानते हैं कि उनका क्या कर्तव्य है। मनुष्य तो दूर प्रभु के कुत्ते की भी अवहेलना नहीं की जाती। यदि दूत खुश होगा तो अश्वग्रीव खुश होगे। उनकी प्रसन्नता ही राज्य की प्रसन्नता है। अवहेलना से यदि इसे आहत

किया गया तो अश्वग्रीव भी आहत होंगे । क्योंकि राजा लोग दूत के अभिमतानुसार ही चलते हैं । प्रभु यदि क्षुब्ध हो गए तो कुतान्त की तरह राज्य-रक्षा तो दूर बचना ही मुश्किल है ।

(श्लोक २९८-२९९)

लिपृष्ठ बोला—‘जन्म से कोई किसी का दास या प्रभु नहीं होता । यह तो बल पर निर्भर करता है । अभी तो मैं इसे कुछ भी नहीं कहूँगा । स्वयं का गुणमान और दूसरों के दोष का वर्णन आयों के लिए अवमानना है । जिसने मेरे पिता के साथ अवमानकर व्यवहार किया है उसे मैं शू-पतित कर यथा समय अश्वग्रीव को छिपग्रीव करूँगा । जब पिताजी उसे विदा करें तब मुझे बताना, मैं देख लूँगा उसे । जो कुछ करणीय है वह तभी करूँगा ।’ राजा प्रजापति के लिए यह अनिष्टकर होगा, जानकर भी वह भूत्य उससे सम्मत हुआ कारण सेवकों के लिए राजकुमार का आदेश भी राजा की ही तरह पालनीय है ।

(श्लोक ३००-३०४)

चण्डवेण ने अश्वग्रीव का आदेश प्रजापति को इस प्रकार बताया मानो वे उनके सेवक हों । प्रजापति ने उनके समस्त आदेश स्वीकार कर लिए और दूत को उपयुक्त उपहार देकर विदा किया । वह भी सन्तुष्ट होकर अपने अनुचरों सहित स्वदेश लौट जाने को पोतनपुर से रवाना हुआ । यह संवाद मिलते ही लिपृष्ठ अचल सहित उसके समुख जाकर पवन सह दावानल जैसे पथिकों के पथ को अवरुद्ध करता है उसी प्रकार उसकी राह रोक ली । लिपृष्ठ उससे कहने लगा—‘अविवेकी, शठ, पशु, सामान्य दूत होकर तुम राजा-सा व्यवहार करते हो ? जिसको सामान्य-सी भी बुद्धि होती है, यहाँ तक कि पशु भी जो बचने की इच्छा रखता है वह भी तुमने जिस प्रकार संगीतानुष्ठान को भंग किया, नहीं करता । स्वयं राजा भी यदि किसी के घर में प्रवेश करते हैं तो सूचना देकर ही प्रवेश करते हैं । आयों की यह नीति है । तुम बिना कोई सूचना दिए जैसे भूमि फाड़कर निकले हो इस, प्रकार सहसा दरवार में उपस्थित हो गए । मेरे पिताजी सरल है इसलिए उन्होंने तुम्हारे प्रभु की तरह तुम्हारा स्वागत किया । जिस शक्ति में अन्धे होकर तुमने असम्मान दिखाया, अब उसी शक्ति से साक्षात्कार करो । दुर्व्यवहार का फल भीगो—ऐसे कहकर जैसे ही लिपृष्ठ ने हाथ उठाया वैसे ही

अचल ने उसे रोकते हुए कहा—‘इस नरक के कीट को मारने से क्या लाभ होगा ? शृंगाल के चिल्लाने पर भी सिंह कभी उसके चपेट में आकर आघात नहीं करता । दूत होने के कारण यह अवध्य है यद्यपि उसने काम अविवेकी-सा किया है । जो-सो कह देने पर भी जैसे ब्राह्मण अवध्य है वैसे ही दूत भी अवध्य है । अतः इसके दुर्घटवहार करने पर भी तुम श्रोतु को संवरण करो । तिल का पौधा हस्तियों के आघात के योग्य नहीं होता ।’ (स्लोक ३०५-३१७)

अचल के ऐसा कहने पर हस्ती जैसे अपनी सूँड नीची कर नेता है उसी प्रकार त्रिपृष्ठ ने भी उठाई हुई अपनी भुष्ठि को संत्रण कर लिया और सैनिकों से कहा—यही वह दुष्ट है जिसने संगीत-नुस्खान में विघ्न डाला; था---ही हरी प्राणों की गिरा लेता है; किन्तु इसके पास अन्य जो कुछ भी है सब छीन लो । (स्लोक ३१८-३२१)

राजकुमार के आदेश से सैनिकगण घर में घुसे कुत्ते पर घर के लोग जिस प्रकार दूट पड़ते हैं उसी प्रकार उस पर दूट पड़े और मुष्ट्याघात करते हुए उसे जमीन पर गिरा दिया । प्राणदण्ड से दण्डित व्यक्ति को जब वध्य भूमि में ले जाया जाता है तब रक्षकगण उससे जैसे सबकुछ छीन लेते हैं उसी प्रकार उन्होंने उससे अलंकार-उपहारादि सब कुछ छीन लिए । स्वयं के जीवन को बचाने के लिए आघात से बचने के लिए वह जमीन पर इस प्रकार लौटने लगा जो हस्तियों के लिए आनन्द का कारण होता है । आहार छोड़कर भाग जाने वाले काक की तरह उसके अनुचर मार से बचने के लिए चारों ओर भाग गए । गधे की तरह उसको पीटकर, पक्षी के पंखों को नोचने की तरह उसे नीचकर और दुष्ट की तरह उसका दमन कर राजपुत्र घर लौट गए । (स्लोक ३२२-३२४)

राजा प्रजापति ने जब यह सब सुना तो तीर से बिधे हुए की भाँति मन ही मन चिन्ता करने लगे । मेरे पुत्रों का यह व्यवहार उचित नहीं है । किससे कहूँ यह बात कि मैं तो अपने अश्व द्वारा ही भू-गतित हुआ हूँ । यह आकर्षण चण्डवेग पर नहीं आश्रयीक पर ही हुआ है क्योंकि ये दूत राजा के प्रतीक होते हैं । अतः अश्वश्रीव के पास जाने के पूर्व उस दूत को किसी प्रकार प्रसन्न करना होगा । कहीं भी आग लगे उसे तत्काल बुझा देना ही उचित है ।

(स्लोक ३२५-३२६)

ऐसा सोचकर राजा ने मंत्रियों द्वारा दूत को पुनः राज प्रासाद में बुलवाया और स्नेहयुक्त मधुर वचनों से प्रसन्न किया। करबद्ध होकर उसे विशेष सम्मान दिया मानो राजपुत्रों द्वारा किए गए अपमान के कलंक को धो डालने के लिए वे जल-प्रवाह उत्सुक्त कर रहे हों। हस्ती को प्रमश्न करने के लिए जैसे शैत्य-प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार उसके क्रोध की शान्ति के लिए उसे चौगुना बहुमूल्य उपहार दिया और बोले—‘नव धौवन के उत्तमाद में आप तो जानते ही हैं राजपुत्र साधारण जनता एवं सम्मान्य व्यक्तियों से दुर्ब्यवहार कर बैठते हैं। प्रभु का मेरे प्रति विशेष अनुग्रह होने के कारण मेरे पुत्र वश नहीं मानने वाले वृषभ की तरह उच्छृंखल हो गए हैं। बन्धु, यद्यपि उन्होंने आपके साथ अत्यन्त दुर्ब्यवहार किया है फिर भी आप उसे एक दुःस्वप्न की भाँति भूल जाएं। हम दोनों के मध्य सहोदर की तरह जो असीम बन्धुत्व है वह क्या एक मुहत्त्व में टूट जाएगा? आप तो मेरे मनोभावों की भली-भाँति जानते ही हैं। हे महामता, कुमारों द्वारा कृत दुर्ब्यवहार की बात आप महाराज अश्वग्रीव को मत कहिएगा। प्रेम सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखने का यही तो परीक्षाकाल है।’

(श्लोक ३२९-३३६)

इस प्रकार मधुर व्यवहार की अमृत वर्षा से चण्डवेग के क्रोध की अग्नि शान्त हुई। वह भी स्नेह-सिक्त कण्ठ से बोला—‘आपके साथ चिरकाल से स्नेह-सम्बन्ध हैं इसलिए मैं क्रूढ़ नहीं हूँ। हे राजन्, क्षमा के लिए अब क्या है? आपके पुत्र मेरे पुत्र जैसे ही हैं। पुत्रकृत अपराध को उसके पालक को ही कहा जाता है राज-दरबार में नहीं। साधारणों का यही नियम है। आपके पुत्रों के इस व्यवहार की बात मैं राजा को नहीं कहूँगा। हाथी के मुँह में जल डाला ही जाता है, बाहर नहीं निकाला जाता। राजन्, आप निश्चिन्त हो जाइए। अब मैं जा रहा हूँ, विदा कीजिए। मेरे मन में आपके प्रति कोई दुरभिसन्धि नहीं है।’

(श्लोक ३३७-३४१)

दूत की यह बात सुनकर राजा ने सगे भाई की तरह उसे आलिङ्गन में ले लिया और हाथ जोड़कर विदा किया।

(श्लोक ३४२)

कुछ दिनों में ही दूत अश्वग्रीव के सम्मुख उपस्थित हुआ; किन्तु उस पर आक्रमण की बात कंचुकी की तरह पहले ही पहुँच

गई। आक्रमण के समय चण्डवेग के अनुचर डरकर भाग गए थे। उन्होंने ही विपृष्ठ सम्बन्धी सारी कथा राजा को बता दी थी। उन्नत मस्तक, रक्त चक्षु राजा को वैवस्थत की तरह पृथ्वी को ग्रास करने की उच्छत देख वह समझ गया कि मुझ पर जो आक्रमण हुआ वह बात राजा तक पहुँच गई है। कारण, अनुचर लक्षणविद् होते हैं। राजा द्वारा पूछने पर उसने सारी बातें कह सुनाई। कारण, प्रतापी प्रभु से भूठ नहीं कहा जा सकता; किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को समरण कर वह बोला—‘महाराज, राजा प्रजापति मेरी तरह ही आपके अनुगत हैं। राजकुमारों ने जो कुछ किया वह ध्यान देने योग्य नहीं है। वह तो बाल-सुलभ चपलता थी। तदुपरान्त कुमारों के व्यवहार पर वे बहुत कुछ हुए थे। शक्ति में जिस प्रकार आप अग्रगण्य हैं उसी प्रकार आपकी भक्ति में राजा प्रजापति अग्रगण्य हैं। राजकुमारों के अपराध के लिए वे स्वर्ण दोषी हैं यह बात उन्होंने बार-बार कही है। उन्होंने आपकी आज्ञा शिरोधार्य की है और ये उपहार दिए हैं।’ ऐसा कहकर दूत चुप हो गया; किन्तु अश्वघोष दूसरी बात सोच रहे थे। नैमित्तिकों की भविष्यवाणी की एक बात तो सच निकली। सिंह-हत्या वाली द्वितीय बात यदि सच हो जाए तो भय का कारण होगा।

(इलोक ३४३-३५३)

ऐसा सोचकर उन्होंने अन्य दूत द्वारा प्रजापति को निर्देश दिया कि सिंह से शश्यक्षेत्र की रक्षा करो। (इलोक ३५४)

यह आदेश प्राप्त होते ही राजा ने कुमारों को बुलवाया। बोले—‘तुम्हारे दुर्ब्यवहार के कारण सिंह से शश्यक्षेत्र की रक्षा का अभावित आदेश मिला है। यदि आदेश पालन नहीं करता हूँ तो अश्वघोष यम-सा व्यवहार करेगा और यदि पालन करता हूँ तो सिंह वहां यम रूप में अवस्थित है। जो भी हो अब तो अनन्ताही मृत्यु हमारे सम्मुख है। सिंह से शश्य क्षेत्र की रक्षा के लिए अब मैं रवाना होऊँगा।’ राजपुत्र बोले—‘अश्वघोष का पराक्रम तो इससे ही जाना जाता है कि वह एक पशु सिंह से भयभीत है। पिताजी, आप यहीं रहें, हम अभी रवाना होते हैं उस सिंह को निहत करने के लिए। हे नरसिंह, इसके लिए आप वहां क्यों जाएंगे?’

(इलोक ३५५-३५९)

विनिति प्रजापति बोले—‘पुत्र, तुम लोग अभी बालक हो।

क्या करणीय है यह तुम नहीं जानते । एक अकृत्य तो तुम लोगों ने राज्य में दुष्ट हस्ती-सा व्यवहार किया है । अब उसी का फल सामने आ गया है । दूर विदेश में जाकर न जाने तुम लोग क्या कर बैठो और उसका परिणाम क्या हो, कौन जाने ? (श्लोक ३६०-३६२)

लिपृष्ठ बोला—‘पिताजी, अश्वग्रीव मूर्ख है इसीलिए हमें सिंह का भय दिखा रहा है । आप प्रसन्नतापूर्वक यहाँ रहें । हम लोग अश्वग्रीव के इच्छानुयायी सिंह की हत्या कर शीघ्र लौट आएँगे ।’ (श्लोक ३६३-३६४)

अन्ततः राजा को सम्मत कर वे चुनिदा अनुचरों को लेकर सिंह वाले क्षेत्र में गए । वहाँ जाकर पहाड़ की तलहटी में सिंह के पराक्रम की परिचायक बहुत से सैनिकों की अस्थियाँ देखीं । कुषक जो कि पेड़ों की अपरी डालियों के मध्य बैठे थे उनसे उन्होंने पूछा—‘रक्षा के लिए आगत राजागण यहाँ किस प्रकार खेतों की रक्षा करते हैं ?’ कुषकों ने उत्तर दिया—‘वे अपने हस्तियों, अश्वों, रथों और फदातिक-वाहिनियों से जल में बांध की तरह या हस्ति के लिए परिखा की तरह व्यूह-रचना कर सिंह को घेरकर गुफा में रखते । प्राणों की आशंका से वे स्वयं व्यूह के पीछे रहते । फलतः सिंह द्वारा सैनिक ही निहित होते ।’ उनका यह प्रत्युत्तर सुनकर बलराम, अबल और वासुदेव लिपृष्ठ हँसने लगे और अपनी सेना को वहीं रखकर सिंह की गुफा की ओर चले । धारणों के गीत से जैसे राजा जागृत होते हैं उसी प्रकार उनके बज्र-से रथ के निर्धोष से सिंह जागृत हो गया । उसने सामान्य रूप से अपने नेत्र खोले जो कि यम की मशाल की तरह प्रतीत हो रहे थे । उसने अपने धूंधराले केशर को हिलाया जो कि यम के चौंकर से लग रहे थे । उसने गर्दन उठाकर मुँह बाया जो कि नरक-द्वार-सा प्रतीत हो रहा था । फिर गर्दन संकुचित कर देखने लगा । रथ और मात्र दो मनुष्यों को देख कर उनकी उपेक्षा कर अवज्ञापूर्वक पुनः सोने की चेष्टा करने लगा ।

(श्लोक ३६५-३७१)

अबलकुमार बोले—‘सम्पूर्ण सैन्यवाहिनी लेकर शाष्यक्षेत्र की रक्षा कर और सैनिकों का भोग देकर राजाओं ने सिंह को दामिभक बना दिया है ।’ (श्लोक ३७६)

यह सुनकर नरसिंह लिपृष्ठ आगे जाकर मल्ल जैसे मल्ल को

द्वन्द्युद्ध के लिए आह्वान करता है उसी प्रकार उसने श्रेष्ठ सिंह को युद्ध के लिए ललकारा। बासुदेव का मन्त्र स्वर सिंह ने कान खड़े कर सुना, आश्चर्यचकित हुआ और सोचने लगा—यह निश्चय ही साहसी वीर है। तब सिंह गुफा से बाहर निकला। उसके कान मालभूमि में प्रोथित स्तम्भ की भाँति, नेत्र भयंकर लाल मशाल जैसे, मूँछ हड्ड, जहाँ थोर तात्त्वस्त्राघार की तरह थे। उसकी जीभ पाताल से निकल आए तक्षक नाग सी, मुख के अद्भुतभाग के दाँत यम मन्दिर की पताकाओं से, केशर भीतरी कोष्ठाग्नि-सी, नाखून देह से प्राण निकालने के अंकुश की तरह थे। उसकी पूँछ कुधात्त सर्प-सी, बाया हुआ मुँह गर्जन के लिए भयंकर था मानो निष्ठुरता का भूत्त प्रतीक हो ऐसा प्रतिभासित हो रहा था। फिर उसने अपनी लम्बी पूँछ से इन्द्र जिस प्रकार पर्वत पर बाजाधात करते हैं उसी प्रकार जमीन पर फटकार मारी। पूँछ के उस 'फटकार' शब्द से जल-जन्तु जैसे भेरी धोष सुनकर जल की गहराई में चले जाते हैं वैसे ही निकटस्थ प्राणी भय से दूर भाग गए।

(स्लोक ३७७-३८५)

यह अवसर भुझे दीजिए, मेरे रहते आप क्यों युद्ध करेंगे कहते हुए त्रिपृष्ठकुमार अचलकुमार को निरस्त कर रथ से उतर पड़े और बोले—‘पदातिक के साथ मैं रथ में बैठकर युद्ध करूँ यह सामरिक नियमों के अनुकूल नहीं है।’ फिर निरस्त्र के साथ मैं सशस्त्र युद्ध करूँ यह भी उचित नहीं है।’ ऐसा कहकर अस्त दूर फेंककर पुरन्दर से भी बलशाली त्रिपृष्ठ सिंह का आह्वान कर बोले—‘वनराज, मेरे पास आ। मैं तेरे युद्ध को पिण्डा मिटाता हूँ।’ यह सुनकर कोष्ठान्वित होकर सिंह ने भी मानो प्रत्युत्तर में प्रतिष्ठवनि कर उसी की पुनरावृत्ति की। सिंह ने भी सोचा—यह छोकरा अविवेकी की तरह काम कर रहा है। साथ में सेना लाया नहीं, रथ से उतर गया है और अस्त्र-शस्त्र दूर फेंक दिए हैं। ऊपर से मुझे युद्ध के लिए ललकार रहा है तो मण्डूक की तरह सर्प के सम्मुख आस्कालन करने वाला यह अपने दुस्साहस का कल भोगे।

(स्लोक ३८६-३९३)

ऐसा सोचकर सिंह अपनी पूँछ खड़ी कर आकाशगामी विद्याधर के रथ से पतित सिंह की तरह त्रिपृष्ठकुमार पर जा

गिरा। जैसे ही वह उस पर पड़ा वैसे ही वासुदेव ने उसके दोनों जबड़ों को दोनों हाथों से इस प्रकार पकड़ लिया जैसे संडासी से सांप के जबड़े को पकड़ा जाता है। तदुपरात्म एक जबड़ा एक और और दूसरा जबड़ा दूसरी ओर खींचकर फटे कपड़े की तरह 'फड़फड़' शब्द करता हुआ चौर ढाला। जन-साधारण ने चारण और भाटों की तरह 'जय-जय' छवनि से दिड़मण्डल को गुञ्जित कर ढाला। देव विद्याधर अमुरों ने जो कि उत्सुकतावश आकाश में एकल हुए थे आकाश से उसी प्रकार पुष्प-बर्षा की जिस प्रकार मलयधर्म से दायु प्रवाहित होती है। दो भाग की हुई सिंह की देह जिसे जमीन पर फेंक दिया गया था ऋषि से तब भी काँप रही थी मानो उसमें तब भी चेतना थी।

(श्लोक ३९४-३९७)

दो भागों में विभाजित हो जाने पर भी सिंह मानो इस अपमानकर स्थिति से कांपते हुए सोच रहा था—शस्त्र और कवच-धारी और सैन्य परिवृत्त राजाओं द्वारा बज्रपात-सा उत्पत्ति में निहित नहीं हुआ—हाय, इस कोमल-हस्त निरस्त्र बालक द्वारा मैं निहित हुआ इसी का मुझे लेद है, मृत्यु का नहीं। सर्प की तरह लोट-पोट होते सिंह के इस मनोभाव को जानकर वासुदेव के सारथी उसे सान्त्वना भरी वाणी में बोले—‘मदोन्मत्त शत-शत हस्तियों को विदीर्णकारी और सहस्र-सहस्र सैन्य-वाहिनियों को परास्त करने वाले हैं बनराज, तुम शोक मत करो। बालक होने पर भी ये महावीर भरतक्षेत्र के त्रिपूरा नामक प्रथम वासुदेव हैं। तुम पशुओं में सिंह हो, ये मनुष्यों में सिंह हैं। इनके द्वारा मृत्यु प्राप्त होने पर लज्जा कौमी ? बहिक उनके साथ युद्ध किया यह तुम्हारे लिए गौरव की बात है।’

(श्लोक ४००-४०१)

अमृत-बर्षा-से सारथी के बाक्यों से सान्त्वना प्राप्त कर सिंह मृत्यु को प्राप्त हुआ और अपने कमी के कारण नरक में जाकर उत्पन्न हुआ।

(श्लोक ४०७)

अश्वग्रीव का आदेश अवगत कर कुमार ने विद्याधरों को सिंह-चर्म सौंपते हुए कहा—‘यह सिंह-चर्म भयभीत धोटक कण्ठ को सिंह की मृत्यु की सूचना रूप देना और उस भोजन-विलासी से कहना—चिन्ता का कोई कारण नहीं है, अब वह जी भरकर शालिधान खा सकेगा।

(श्लोक ४०८-४१०)

विद्याधरों के सम्मत होने पर अचल और त्रिपृष्ठ कुमार अपने नगर को लौट गए। दोनों भाइयों ने वहाँ जाकर पिता के चरणों में प्रणाम किया। बलभद्र ने समस्त कथा पिता को सुनाई। राजा को लगा जैसे उनके पुत्र का पुनर्जन्म हुआ है। साथ ही उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की इससे हर्ष भी हुआ। विद्याधरों ने जब अश्वधीव को सारी बात बताई तो उस पर मानो वज्रपात-सा हो गया।

(श्लोक ४११-४१४)

वैताण्डध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के अलंकार तुल्य रथनुपुर चक्रवाल नामक एक नगर था। वहाँ ज्वलनजटी नामक एक विद्याधर राजा राज्य करते थे। उनका प्रताप था उज्ज्वल अग्निजिखा की तरह अतुलनीय। उनकी प्रधान महिला का नाम था बाघुवेगा। वह प्रीति की निलम्ब थी और हँस की तरह मन्थरगामिनी। राजा को इस रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। स्वप्न में मूर्य देखने के कारण पुत्र का नाम रखा गया अर्ककीर्ति। यथा समय उनके एक कन्या हुई। स्वप्न में माता ने स्वप्रभा से आकाश आवृत करने वाली चन्द्रकला देखी। अतः कन्या का नाम रखा स्वयंप्रभा। वयः प्राप्त हीने पर राजा ने हिम पर्वत की तरह दीर्घबाहु और गंगा की तरह छ्यातिसम्पन्न अर्ककीर्ति को युवराज पद पर अभिषिक्त किया।

(श्लोक ४१५-४२०)

उपवन में बसन्त के अविभवि की तरह स्वयंप्रभा भी काल-कम से योग्यन को प्राप्त हुई। अपने चन्द्रानन के कारण वह पूर्णचंद्रसी लगने लगी और कृष्णकेश संभार के कारण मूर्त्तिमती अमावस्या। उसके आकर्ण विस्तृत नेत्र उसके कणभिरण से लगते थे और कर्ण उसके विस्तृत नयन रूपी सरिता के दो तट। उसके आरक्ष करतल चरण और ओष्ठों से वह पुष्पभार समन्विता लतान्सी लगती थी। उसके पीन पयोधर श्री के श्रीङ्ग शैल की तरह मुन्द्र दीखते थे। उसकी नाभि सौन्दर्य रूपी सरिता के आवर्त्ति की तरह और उसके गुरु नितम्ब अन्तर्दीप से थे। देव, असुर और विद्याधर अंगनाओं में उसके समतुल्य कोई नहीं थी। वह देह-सौन्दर्य का मानो आगार थी।

(श्लोक ४२१-४२९)

एक दिन अभिनन्दन और जगनन्दन नामक दो मुनि आकाश से उस नगर में आए। परिपूर्ण वैभव से मानो श्री देवी ने रूप

धारण कर लिया हो ऐसी स्वयंप्रभा उन मुनियों को वन्दन करने गई। कानों के लिए अमृत तुल्य उनका उपदेश सुनकर कपड़े में लगे नीले रंग की तरह उसने हृषभाव से सम्यक्त्व धारण किया। उनके समक्ष उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। ज्ञान से पवित्र हृदय व्यक्ति कभी प्रमाद नहीं करता। मुनि द्वय विहार कर अन्यद चले गए।

(इलोक ४२७-४२८)

एक दिन उसके चतुर्दशी का उपवास था। दूसरे दिन पारणे के लिए अहंत् भगवान की पूजा कर स्नान जल पिता के पास ले गई। विद्याधर राजा ने स्नेहवश उस स्नानजल को सिर पर लगाया और स्वयंप्रभा को गोद में बैठाया। उसे वयः प्राप्त हुई देखकर अृणग्रस्त व्यक्ति की तरह उसके लिए उपयुक्त पात्र की चिन्ता करने लगे। उसे सम्बद्धित कर विदा करने के बाद उन्होंने सुश्रुतादि मन्त्रियों को छुलवाया और उसके लिए उपयुक्त वर सन्धान करने को कहा।

(इलोक ४३२-४३५)

यह सुनकर सुश्रुत बोले—‘रत्नपुर नगर में मयूरग्रीव और नीलांजना के पुत्र अश्वग्रीव नामक एक राजा ने विद्याबल से भरत क्षेत्र के तीन खण्ड पर अधिकार कर लिया है। वह विद्याधरों के इन्द्र की तरह राज्य करता है। वही उसके उपयुक्त वर है।’

(इलोक ४३६-४३७)

मन्त्री बहुश्रुत बोले—‘अश्वग्रीव तो स्वयंप्रभा के लिए विलकुल उपयुक्त नहीं है। कारण उसका यौवन बीत गया है। वैताठ्य पर्वत की उत्तरी श्रेणी पर बहुत से दीर्घबाहु रूपवान युवा विद्याधर रहते हैं। राजन्, यदि आप योग्य सम्बन्ध चाहते हैं तो विवेचना कर उनमें से किसी के साथ राजकन्या का विवाह कर दें।’

(इलोक ४३८-४४०)

तब सुमति बोला—‘राजन्, मन्त्रिवर ठीक कहते हैं। इस पर्वत की उत्तर श्रेणी के कण्ठहार की प्रथम मणि की तरह प्रभद्वारा नामक एक विचित्र नगरी है। वहां प्रभात के मेघ की तरह फल-दानकारी मघवा की तरह शक्ति सम्पन्न मघवन नामक एक राजा है। उसकी पत्नी का नाम मेघमालिनी है। वह चारित्ररूपी युथि-माल्य की तरह सीरभ-सम्पन्न है। उसके विशुद्धप्रभ नामक एक पुत्र है जो कि शीर्य में समस्त राजाओं में अग्रणी और रूप में कन्दर्प

की तरह है। उनके ज्योतिर्माला नामक एक देवोपम कल्या है जो कि सौन्दर्य और कमनीयता की मानो निधान है। मेघ के साथ विद्युत् की तरह जो आपात्स को आज्ञाहित करे ऐसी राजकथा स्वयंप्रभा राजपुत्र विद्वत्प्रभ के लिए उपयुक्त है और ज्योतिर्माला युवराज अकंकीति के उपयुक्त है। दोनों राजकन्याओं के आदान-प्रदान का विवाहोत्सव अनुष्ठित होना चाहिए।' (श्लोक ४४१-४४८)

तब श्रुतसागर बोले—'आपकी यह कल्या रत्नतुल्य है। श्री की तरह इस रत्न को कौन प्राप्त करना नहीं चाहेगा? अतः विद्याधर राजकुमारों के साथ कोई पक्षपात न कर एक स्वयंवर का आयोजन करना उचित है। ऐसा नहीं होने पर यदि यह कल्या आप किसी को देना चाहेंगे तो विरोध हो सकता है। बैसा क्यों करें?' (श्लोक ४४९-४५१)

इस प्रकार सभी मन्त्रियों की बात सुनकर उनको विदा कर राजा ने सम्भन्नस्रोत नामक एक नैमित्तिक को बुलाया और कहा—'मैं अपनी कल्या अश्वग्रीष्म को दूँ या किसी किसी विद्याधर कुमार को या इसके लिए स्वयंवर का आयोजन करूँ? ' नैमित्तिक बोला—'मैंने मुनियों से सुना है कि भरत द्वारा पूछे जाने पर तीर्थंकर ऋषभदेव ने कहा था—इस भरत क्षेत्र में अवसर्पणी काल में मेरी तरह तेइस और तीर्थङ्कर होंगे और तुम्हारी तरह और यारह चक्रवर्ती होंगे। अद्वे भरत क्षेत्र के अधिपति नौ बलदेव और नौ वासुदेव एवं नौ प्रतिवासुदेव होंगे। इनमें त्रिपृष्ठ अश्वग्रीष्म की हत्या कर विद्याधर नगरी सहित लिखण भरत क्षेत्र पर आधिपत्य विस्तार करेगा, वही आपको विद्याधरों का इन्द्रत्व देंगे। अतः राजकल्या उन्हीं को दें। उनके जैसा बलशाली अभी पृथ्वी पर और कोई नहीं है।' (श्लोक ४५२-४५८)

आनन्दित होकर राजा ने नैमित्तिक को धनदान से पुरस्कृत कर विदा किया और राजा प्रजापति के पास मरीचि नामका दूत को भेजा। दूत प्रजापति के पास गया और उन्हें नमस्कार कर स्व-परिचय देकर विनीत भाव से बोला—'विद्याधरराज, उद्दलनजटी के स्वयंप्रभा नामक एक अपूर्व सुन्दरी कल्या है। विशेष हूचि सम्पन्न कवि की तरह बहुत दिनों से वे कल्या के लिए उपयुक्त पात्र की चिन्ता में निमग्न थे। मन्त्रियों द्वारा निर्देशित होने पर उन्होंने

उनके बताए किसी भी पात्र को उपयुक्त नहीं समझा। तब उन्होंने नैमित्तिक को बुलवाया और उपयुक्त पात्र के विषय में पूछा। नैमित्तिक सम्भवतः ने उनसे कहा—राजा प्रजापति के पुत्र शिरोष्ठ आपकी कन्या के उपयुक्त वर हैं। वे प्रथम वासुदेव और भरतवर्ष के अद्वितीय के अधीश्वर होंगे व आपको विद्याधरों की उभय वेणी के ऊपर धृतिपत्त दें। नैमित्तिक नीचत से आनंदित होकर उन्होंने मुझे यहां भेजा है। देव, शिरोष्ठ के लिए आप उसे ग्रहण करें।' (श्लोक ४५९-४६६)

बुद्धिमानों में अग्रगण्य राजा प्रजापति ने सहृष्ट यह स्वीकार कर लिया और उपयुक्त उपहार देकर उसे विदा किया।

(श्लोक ४६७)

अश्वश्रीव के भय से ज्वलनजटी कन्या के विवाह के लिए प्रजापति के नगर में आ गए। अपने विद्याधर सामन्त, मन्त्री, सैन्य और यान सहित वे बेला भूमि पर समुद्र-से नगर प्रान्त पर अवस्थित हो गए। मन्त्री और परिपद सहित प्रजापति उनसे मिलने आए। कारण, अतिथि सर्वभास्य होते हैं। मन्त्री भावापन्न दोनों राजा सह दोनों सैन्यदलों का मिलन गङ्गा-यमुना के मिलन की तरह लग रहा था। समान मर्यादा सम्पन्न होने से हाथी पर चढ़कर सामानिक देवों की तरह दोनों ने एक दूसरे का आलिंगन किया। चन्द्र-सूर्य की तरह दोनों राजाओं के मिलन से वह दिन प्रतिपदा-सा लगने लगा। समुद्र ने जिस प्रकार मैताक को स्थान दिया था उसी प्रकार राजा प्रजापति ने विद्याधरराज को स्थान दिया। वहां विद्याधरों ने विद्या के प्रभाव से विविध प्रापाद सहित जैसे मानों द्वितीय पोतनगुर हो ऐसी नगरी निर्मित की। ज्वलनजटी ने उस नगरी के प्रभु ग्रासाद में निवास किया। उस प्रापाद में भेद के जैसे सूर्य है वैसे ही द्रव्य केतन था। सामन्त, मन्त्री, सेनापति आदि जैसे देव-विमानों में निवास करते हैं उसी प्रकार योग्य प्रापादों में रहने लगे। (श्लोक ४६८-४७७)

विद्याधरराज से विदा लेकर राजा प्रजापति समुद्र जैसे बेला भूमि से लौट जाता है वैसे ही अपने आवास को लौट गए। तदुपरात्र प्रजापति ने विद्याधरराज को खात्र गन्ध द्रव्य एवं अलङ्घारादि उपहार भेजे। विवाह के लिए दोनों ने रत्नमय सुन्दर

सभागार का निर्माण करवाया। वह सभागृह देखने में चमर और बलि के सभागृह-सा सुन्दर बना था। अभिजात वंश की बृद्धा महिलाओं द्वारा निर्देशित होकर दोनों के ही गृहों में मांगलिक गीत होने लगे।

(इलोक ४७८-४८१)

सुरभित चन्दन चर्चित देह लिए त्रिपृष्ठकुमार मानो इच्छनील मणि की प्रतिमा हो इस प्रकार हस्तीपृष्ठ पर आरोहित हुए। अनुचर रूप में राजन्य मित्रों द्वारा परिवृत्त होकर वे स्वगृह से ज्वलनजटी के घर की ओर चले। गृहद्वार पर लटकती पुष्प-मालाओं के नीचे सूर्य जैसे पूर्व दिशा में अवस्थित होता है वैसे ही वे प्रदत्त वस्तु ग्रहण के लिए अवस्थित हो गए। अभिजात वर्णीय महिलाओं द्वारा मांगल-गीत गाए जाने पर त्रिपृष्ठकुमार अग्निपात्र भंग कर अनुचरों सहित मातृगृह में गए। वहाँ उन्होंने नैनों को आनन्द देने वाली ऋतु वस्त्र परिहित सूक्तिमती शशिकला-सी स्वयंप्रभा को पहली बार देखा। तत्पश्चात् वे दिव्य आसन पर चिन्ता और चन्द्र की तरह बैठ गए। शुभ मुहूर्त उपस्थित होने पर शङ्ख ध्वनि के साथ पुरोहित ने उन दोनों के पश्चहस्त चक्रबाल की तरह मिला दिए। तदुपरात् दोनों का दृष्टि-विनिमय हुआ भानो सद्य उद्गत प्रेम को दोनों ने अभिसिचित किया। स्वयंप्रभा और त्रिपृष्ठ लता और बृक्ष की तरह एक साथ होमगृह की गए। यिष्पलादि काष्ठ प्रज्ज्वलित कर ब्राह्मणों ने होमद्रव्य निक्षेप किए। अग्निशिखा प्रज्ज्वलित होने पर उन्होंने उस पवित्र अग्नि की ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित वेद मन्त्रों के साथ परिक्रमा की।

(इलोक ४८२-४९२)

इस प्रकार स्वयंप्रभा से विवाह कर त्रिपृष्ठकुमार वधू सहित हस्ति पृष्ठ पर आरोहण कर स्वगृह को लौट आए। वाद्य-भाष्डों के उच्च शब्द और उसकी प्रतिष्वनि से सूर्याश्विं के भी कान खड़े हो गए।

(इलोक ४९३-४९४)

मुप्तचरों द्वारा अश्वश्रीव को यह घटना जात हुई। ऐह की हत्या से वह कुद्द तो था ही, इस घटना से वह और भी कुद्द हो उठा। उसने मन ही मन सोना—मेरे वर्तमान रहते ज्वलनजटी ने स्त्री-रत्न को अन्य हाथों में बयाँ सीप दिया? यह सत्य है कि सभी रत्न समुद्र के ही होते हैं। उस रत्न पर अधिकार जताकर दाता और ग्रहीता दोनों के पास दून भेजूँगा। कारण, राज्य सम्बन्धी विषयों

में पहले दूत ही जाता है। ऐसा सोचकर उसने चुपचाप दो दूत पोतनपुर भेजे। वायु की भाँति तीव्रगति से चलकर दूत ज्वलनजटी के घर में प्रवेश कर बोला—‘मैं भरत धोके के दक्षिणाद्वे के अधीश्वर अद्वैपृथ्वी के इन्द्र अश्वग्रीव का आदेश आपको सुनाता हूँ—आपके घर में स्वयंप्रभा नामका एक रत्न रत्न है उसे मैं भाकर महारत्न को समर्पित कीजिए। भरतधोके का रत्न और किसी के लिए प्राप्य नहीं है। अश्वग्रीव आप और आपके बंश के अधीश्वर हैं। अतः आप की कन्या उन्हें दान करें। नेत्रों के बिना मस्तक की शोभा नहीं हो सकती। अश्वग्रीव जो कि कुछ हो गए हैं उन्हें और कुछ कर नली द्वारा अनवरत फूँक मारकर गलते स्वर्ण को विनष्ट न करें।’

(श्लोक ४९५-५०३)

ज्वलनजटी ने उत्तर दिया—‘कन्या का विवाह मैंने त्रिपृष्ठ कुमार के साथ कर दिया है और वह उसी समय विवि अनुयायी उनके द्वारा स्वीकृत हो चुकी है। दूसरे की प्रदत्त वस्तु पर विशेषकर उच्च कुल जात कन्या पर दाता का कोई अधिकार नहीं रहता। वे इस पर सोचें।’

(श्लोक ५०४-५०५)

ज्वलनजटी द्वारा यह सुनकर दूत मन्द अभिप्राय लिए त्रिपृष्ठ कुमार के पास गया। कारण, वह उनके प्रभु का प्रतीक बनकर आया था। वह त्रिपृष्ठकुमार से बोला :

‘भरताद्वे के अधिपति मर्त्य के इन्द्र अश्वग्रीव ने आपको यह आदेश दिया है कि जिस प्रकार पथिक अज्ञानतावश राजोद्यान से फल आहरण करता है उसी प्रकार यह कन्या जो कि उनके उपयुक्त थी आपने उसे अज्ञानतावश ग्रहण कर ली है। वे आप और आपके आत्मीयों के अधिपति हैं। दीर्घ दिनों से आप उनके द्वारा रक्षित हैं। अतः आप इस कन्या का परित्याग करें। भूत्य के लिए तो प्रभु का आदेश ही बलवान् है।’

(श्लोक ५०६-५०९)

यह सुनकर त्रिपृष्ठ का ललाट श्रू-कुञ्जन के कारण भयंकर हो उठा—कपोल और चक्षु रक्तवर्ण हो गए। वे बोले—‘तुम्हारे प्रभु नी इस प्रकार आदेश देते हैं जैसे वे पृथ्वी के अधीश्वर हैं। धिवकार है उनकी कुल-मर्यादा की। मुझे लगता है इस प्रकार उन्होंने अपने राज्य की उच्च कुल जात कुमारियों को विनष्ट किया है। मार्जर के समुद्र क्या दूध बचता है; किन्तु मैं पूछता हूँ मुझ पर उनका

अधिकार कैसे है ? अब तो अन्यत्र भी उनका आधिपत्य क्षणस्थायी होगा । यदि उनके लीला की इच्छा । और पान्य-भक्षण पूरा हो गया है तो वे स्वयं आएँ और स्वयंप्रभा को ले जाएँ । तुम दूत हो, तुम्हारी हत्या नहीं करूँगा । जाओ, यह स्थान तुरन्त परित्याग करो । यदि वे आएँगे तो मैं निश्चय ही उनकी हत्या करूँगा ।'

(स्लोक ५१०-५१५)

बासुदेव से यह मुनकर अंकुशाहृत की तरह द्रुतगति से वह दूत स्वदेश लौट गया और अश्वघोष को समस्त कथा कह सुनाई । यह सुनते ही अश्वघोष के नेत्र लाल हो उठे । केश शमशू कुञ्जित हो गए । भ्रू-कुञ्जन से उनका ललाट भयंकर लगने लगा । देह काँपने लगी । वे दाँतों से थोड़ काटते हुए बोले—‘ज्वलनजटी को मतिभ्रम हो गया है । मेरे सम्मुख वह है सामान्य कीट, जैसे सूर्य के सम्मुख खद्योत होता है । यह क्या आभिजात्य है जो उसने मेरी अवहेलना कर अपनी कन्या को उसे दान की जो अपनी ही कन्या से उत्पन्न किया हुआ पुत्र है । ज्वलनजटी मूर्ख है, वह मृत्यु की कामना कर रहा है । दूसरा मूर्ख है प्रजापति और तीसरा मूर्ख है अपनी बहन के गर्भ से उत्पन्न हुआ । उसका पुत्र विपृष्ठ । उसका भाई जो कि उसके पिता का पुत्र व साला है चतुर्थ मूर्ख है । क्या यह निर्लंजता नहीं है कि शृगाल-सा वह सिंह से युद्ध करना चाहता है ? जाओ, हवा जिस प्रकार मेघ को उड़ा देती है, बाध जिस प्रकार हरिण यूथ को छिन्न-भिन्न करता है, सिंह जैसे हस्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है उसी प्रकार उसे विनष्ट कर दो ।’

(स्लोक ५१६-५२३)

जल देखकर प्यासा व्यक्ति जैसे आनन्दित हो जाता है उसी प्रकार विद्याधरण जिनके हाथ खुजला रहे थे प्रभु के आदेश से आनन्दित हुए । बाहुबली वे भुजाएँ ठोककर आकाश को विदीर्ण कर डाले ऐसे शब्दों से युद्ध की प्रतिज्ञा करते हुए बोले—‘आशा करता हूँ युद्धक्षेत्र में क्या शत्रु, क्या मित्र कोई मेरे सामने नहीं टिक सकेगा ।’ ऐसा कहकर वे एक दूसरे को अतिक्रम कर जाने लगे । कोई अश्व को कशाधात करने लगा, कोई अंकुश द्वारा हाथियों को आहत । कोई वलदों को पैर मारकर चलाने लगा, कोई ऊंट पर यष्टि से प्रहार करने लगा । कोई तलबार नचाने लगा, कोई ढाल,

कोई प्रत्यंचा पर तीर रखकर प्रत्यंचा को शिदित करने लगा। कोई मुद्गर घुमाने लगा, कोई गदा, कोई त्रिशूल। इस प्रकार अश्वग्रीव की सेना लौहयष्टि लेकर आक्रमण के लिए धति आग्रहपूर्वक कोई अकाशनथ से कोई भू-पथ से पोतनपुर पहुँच गई।

(इलोक ५२४-५३०)

दूरागत कोलाहल सुनकर विमुढ़ प्रजापति ने पूछा—‘यह कैसा शब्द है? प्रत्युत्तर में ज्वलनजटी ने कहा—‘निश्चय ही अश्वग्रीव प्रेरित सैन्यदल है। आएं वे। मैं युद्ध के लिए उद्यग्रीव हूँ। मेरे पहले अचल और लिपृष्ठ युद्ध न करें।’ उसने सैन्य सजाकर युद्ध के लिए यात्रा की। कुद्ध अश्वग्रीव की सेना ने उस पर चारों ओर से आक्रमण किया। कारण, मित्र जब शत्रु बन जाते हैं तो उन पर अधिक कोध होता है। नियम को जैसे अपवाद द्वारा सहज किया जाता है उसी प्रकार ज्वलनजटी ने उनके अस्त्रों को अस्त्र द्वारा निविचार से हल्का कर डाला। हस्तियों पर जैसे अप्रत्याद्वित मेघ औलों की वृष्टि द्वारा आक्रमण करता है वैसे ही उन्होंने उन्हें तीक्ष्ण वाण-वृष्टि द्वारा आक्रमण कर डाला। सपेरा जैसे सांप को दमित करता है वैसे ही ज्वलनजटी ने विद्या और अस्त्र बल से उनके दीर्घ-कालीन गर्व को चूर कर डाला।

(इलोक ५३१-५३७)

ज्वलनजटी ने उनसे कहा—‘दुर्वृत्त तुम लोग शीघ्र इस स्थान का परित्याग करो। औ नगण्य कीट, प्रभुहीन तुम्हारी कौन हत्या करेगा? तुम्हारे प्रभु अश्वग्रीव को लेकर रथावर्त पर्वत पर आओ, वहाँ फिर मिलेंगे।’ इस प्रकार वृष्यभाव से सम्बोधित होकर अश्वग्रीव की सेना वस्त बनी प्राण रक्षा के लिए काफ़ की तरह अदृश्य हो गई। लज्जा से खिल भुख मानो दीपक की कालिमा उनके मुख में मसल दी हो इस प्रकार उन्होंने जाकर सारी बात अश्वग्रीव से निवेदित कर दी। जैसे हवि निश्चेप से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार महाबल सम्पन्न अश्वग्रीव प्रज्वलित हो उठा। कोध से आयत और रक्तवर्ण नेत्रों से जैसे राक्षस की तरह भयानक बने अश्वग्रीव ने अपने सामन्त, मन्त्री, सेनापति को आदेश दिया तुम सब अपनी समस्त सैन्यवाहिनी लेकर अग्रसर हो, धूम्र जैसे मशक को नष्ट कर देता है मैं भी उसी प्रकार प्रजापति को, लिपृष्ठ और अचल को एवं ज्वलनजटी को अभी जाकर युद्ध में नष्ट

वर्णना।

(श्लोक ५३८-५४५)

कुद्र और उत्तेजित अश्वग्रीव को बुद्धिसागर महामात्य बोले—‘आपने पहले सहज ही भरत क्षेत्र के तीन खण्डों को जय कर लिया था । अतः आप यश और ऐश्वर्य के अधिकारी होकर शक्ति-मानों में सर्वशक्तिमान प्रतिपन्न हुए हैं । अब मात्र एक सामन्त को परास्त कर क्या छ्याति व ऐश्वर्य प्राप्त करेंगे ? तुच्छ व्यक्ति को परास्त करने से आपके प्रताप में और क्या विशेषता आएगी जो सिंह हस्तियों के कुम्भ को विदीर्ण करता है । उसके लिए हिरण की हत्या करना क्या गौरव का कारण बन सकेगा ? ईश्वर न करे यदि आप उस तुच्छ व्यक्ति से पराजित हो गए तब तो एक मुहूर्त में ही आपका यश, कीर्ति, गौरव सभी धूलिसात् हो जाएंगे । युद्ध का फलाफल विचिन्न है । फिर भय का कारण भी है । खण्डवेग का अपमान और सिंह की हत्या ने नैमित्तिक के कथन को सत्य प्रमाणित कर दिया है । इस क्षेत्र में प्रभु को छह प्रकार की नीति में सहनशीलता रूप नीति ग्रहण करना ही समुचित है । कारण महाबली हस्ती भी यदि पथ देखे बगैर दौड़ता है तो कर्दम में धैंस जाता है । इसके अतिरिक्त वह बालक दुसराहसिक कार्य करेगा तो पतग की तरह लपकेगा और पल भर में बिनष्ट हो जाएगा और आप सहनशीलता से लाभान्वित होंगे । यदि एकदम ही उसे सहन न कर सके तो सेना को युद्ध का आदेश दें । आपकी सेना को क्या वह प्रतिहत कर सकेगा ?’

(श्लोक ५४६-५४८)

महामात्य के इस सदुपदेश की अश्वग्रीव ने घृणा भरी उपेक्षा की । सुरापान से जैसे बुद्धि विनष्ट हो जाती है । उसी प्रकार कोष्ठ में मनुष्य की साधारण बुद्धि भी नष्ट हो जाती है । उसने महामात्य को भी रुपुरुष कहकर अपमानित किया और अनुचरों को रण-भेरी बजाने का आदेश दिया । भेरी शब्द को सुनकर समस्त सैन्य शीघ्र ही आकर एकत्र हो गई, यहाँ तक कि जो दूर थे वह भी इस प्रकार आ गए मानो समीप ही कहीं खड़े थे । अश्वग्रीव अपने स्नानांगार में गया और हंस जैसे निर्मल गंगाजल में स्नान करता है उसी प्रकार कुम्भ के जल से स्नान किया । सूक्ष्म वस्त्रों से देह पोछ कर दिव्य गत्वा का विलेपन किया । नन्दन बन से लाए गोशीर्ष चन्दन से अपनी देह को चर्चित किया । श्वेत वस्त्र और छुरिका

धारण करने पर पुरोहित ने उसके ललाट पर तिलक रचना की। राजाओं के तिलक स्वरूप चारणों द्वारा प्रशंसित होकर छल-चामर सहित उसने ऐसे हाथी पर आरोहण किया जिसके मद-जल से पृथ्वी मिलित हो रही थी। (स्लोक ५५५-५६१)

अश्वग्रीव ने दुर्दम हस्ती, अश्व और रथों की अपरिमित संत्य लेकर पर्वत को प्रकटित करते हुए युद्धयात्रा प्रारम्भ की। जाते-जाते सहसा उसका छलदण्ड तेज हवा से आंधी में गिरे वृक्ष की तरह टूट गया और छल मस्तक से उसी प्रकार जमीन पर गिर पड़ा जैसे वृक्ष से फूल और आकाश से नक्षत्र गिरता है। साथ ही साथ हस्ती का मद झरना भी बन्द हो गया। वाणियाँ ज्येष्ठ मास की बापी की तरह सूख गईं और शरदकालीन कर्दम की तरह फीनड़मय हो गईं। हस्ती मानो मृत्यु को समझुख देख रहे हों इस प्रकार भय से पेशाब करते हुए चिरघाढ़ने लगे। वह अपना माथा सीधा रख नहीं पा रहा था। रजोवृष्टि, रक्तवृष्टि, दिन में तारा-दर्शन, उल्कापात, विद्युत-चमक आदि उल्लात होने लगे। कुत्ते मुँह ऊँचा कर रोने लगे और चशुन पत्तक पर चढ़ाकार तुल रखना करते लगे। कपोत छब्जा पर आ बैठा। इस भाँति के अनेक अपशंकुन होने लगे। (स्लोक ५६२-५६९)

अश्वग्रीव इन सब अपशंकुओं और प्राकृतिक सकेतों की उपेक्षा कर अग्रसर होने लगा मानो यमपात्र में बँधा बड़ रहा हो। उसके साथ जो विद्याधर थे वे साहस खोने लगे और राजागण भी युद्ध-विमुख होने लगे मानो स्वतन्त्र होने पर भी क्रीतदास की तरह उन्हें यहाँ लाया गया हो। कुछ दिनों की यात्रा के पश्चात ही समग्र वाहिनी रथावर्त पर्वत के निकट आ पहुँची। अश्वग्रीव के आदेश से विद्याधर वाहिनी ने बैताढ़ी पर्वत की अधित्यका की तरह रथावर्त पर्वत की अधित्यका में छावनी ढाली। इधर पोतनपुर में विद्याधरराज ज्वलनजटी ने त्रिपृष्ठ और अचलकुमार से कहा— शारीरिक शक्ति में तो आपका प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं है। किन्तु स्नेह-जात भय से भयभीत हूँ। कारण स्नेह जहाँ भय नहीं वहाँ भी भय की संभावना से भीत हो जाता है। मैं भी उसी प्रकार स्नेह से भीत होकर बोल रहा हूँ। उद्ग्रीव अश्वग्रीव अपनी विद्या के कारण हठी दुर्दयं है और बहुत से युद्ध में जयलाभकारी हुआ है। उससे कौन

नहीं डरता ? विद्या के अतिरिक्त अश्वग्रीव से आपलोग किसी अंश में कम नहीं हैं। फिर भी आप उसका वध करने में समर्थ बने मेरी यही कामना है। उसके विद्याजात अस्त्र-शस्त्रों को आप लोग व्यर्थ कर सकें इसके लिए आप लोगों को विद्या अधिगत करने की चेष्टा करनो चाहिए। वे दोनों इससे सम्मत हुए। (श्लोक ५७०-५७८)

ज्वलनजटी आनन्दित होकर इवेत वस्त्र धारण कर ध्यान से उन्हें विद्याओं की शिक्षा देने लगा। सात रात तक एकाग्रचित्त होकर दोनों भाइयों ने मन्त्रोच्चार करते हुए मन्त्रों की साधना की। सातवें दिन नागराज का आसन कम्पित होने पर ध्यानमग्न अचल और लिपुष्ठ के निकट विद्याएँ उपस्थित हुईं। यथा—गारुडी, रोहिणी, भुवन-क्षोभिणी, कृपाणस्तम्भिनी, स्थामण्डुभिनी, व्योमन्त्रारिणी, तमिल-कारिणी, वेगाभिगामिनी, वंरीमोहिनी, दिव्यकामिनी, रन्ध्रवासिनी, कृशानुवर्णिणी, नागवासिनी, वारिशोषणी, धरित्रीबारिणी, बन्धन-मोचिनी, विमुक्तकुन्तला, नानारूपिणी, लौहशृङ्खला, वालराक्षसी, छलदशदिका, तीक्ष्णशूलिणी, चन्द्रमौली, रक्षमालिनी, सिद्धताङ्गिनिका, पिण्डेता, वचनपेशला, ध्वनिता, अहिकणा, वोपिणी और भीरु भीषणा। वे बोली—‘अब हम आपको वशीभूत हैं।’ विद्या वशीभूत होने पर दोनों भाइयों ने ध्यान तोड़ा। गुण द्वारा सब कुछ आकर्षित होता है, महामनाओं को क्या प्राप्त नहीं होता ? (श्लोक ५७९-५८८)

तदुपरान्त अचलकुमार सहित लिपुष्ठकुमार एक शुभ दिन देखकर प्रजापति, ज्वलनजटी और वृहद् संन्यादल को लेकर युद्ध के लिए रवाना हुए। उनके अश्व बाज की तरह तीव्र गति सम्पन्न थे, रथ शत्रुओं को दलन करने में विजयश्री के निवास रूप थे, हस्ती मदस्थाव से उल्लमित मानो देव-हस्ती हों और श्रेष्ठ पदातिक व्याघ्र की भाँति लपकते थे। समस्त आकाश (विद्याधरों द्वारा) और पृथ्वी (मनुष्यों द्वारा) को आच्छन्न कर अपनी प्रजा और शुभ शकुनों से प्रोत्साहित होकर हँसवा और वृहतिनाद में बजाए वादिवों से आकाश को विदीर्ण करते हुए, सैन्यवाहिनी के पदभार से पृथ्वी को कमित करते हुए वासुदेव लिपुष्ठ जिनके रथ-चक्र से पृथ्वी पिसी जा रही थी। अपने राज्य के सीमान्त स्तम्भ तुल्य रथावर्त पर्वत के निकट आकर उपस्थित ही गए।

(श्लोक ५८९-५९४)

दोनों पक्षों के रणबाद्य बजने लगे मानो वे देवों को आह्वान करने के लिए बज रहे थे। कारण, युद्ध के विचारक भी तो चाहिए। त्रिपृष्ठि और अश्वग्रीव के सैन्यदल ने देव और अमुर सैन्य की तरह युद्ध के लिए उत्सुक होकर परस्पर आक्रमण किया योद्धाओं की चीत्कार, अश्व और पदातिकों के पैरों से उड़ती धूल से आकाश परिपूर्ण हो गया। रथों की पताकाओं में अकित सिंह, शरभ, व्याघ्र, हस्ती और कपि लंछन से आकाश ने अरण्य की तरह भयंकर रूप धारण कर लिया। नारद के कुटुम्ब की तरह कलह का आनन्द लेने के लिए भाट और चारण दल सैन्य का उत्साहवर्द्धन करने वहाँ आकर उपस्थित हो गए। तदुपरान्त दोनों सेनाओं के अग्रगामी दल द्वारा युद्ध प्रारम्भ हो गया। इतनी बाग वृष्टि हुई कि लगा आकाश मानो पक्षियों से आबूत हो गया है। परस्पर अस्त्रों के आघात से अग्नि स्फुलिंग निकलने लगे। लगा अरण्य में अग्रभाग स्थित अमित बलशाली सैनिकों के अस्त्रों की टकराहट से उत्पन्न ज्ञनज्ञनाहट को देखकर लगा मानो समुद्र के जीव-जन्तु कलह में प्रवृत्त हो गए हैं। देखते-देखते समुद्र तरंग जिस प्रकार नदी के प्रवाह को पीछे ठेल देती है उसी प्रकार त्रिपृष्ठि कुमार की सेना के अग्रभाग ने अश्वग्रीव की सेना के अग्रभाग को पीछे हटने को वाध्य कर दिया। अङ्गुली कुचल जाने की तरह स्व-सेना के अग्रभाग को विनष्ट होते देखकर विद्युत सैन्य कुपित हो उठी और भयंकर रूप धारण कर युद्ध की उन्मादना में टूट पड़ी मानो यम द्वारा आदेश पाकर दानव-वाहिनी बाहर आ गई हो। किसी ने भूत-सा दीर्घ दन्त विशिष्ट, विशाल वक्ष, कृष्णवर्ण और भयंकर रूप धारण कर लिया। ऐसा लगा मानो अंजन पर्वत की वह चूड़ा हो। किसी ने केशरी रूप धारण कर लिया मानो हल रूपी दीर्घ पूँछ से वह पृथ्वी को विदीर्ण कर देगा और नाखूनों से चीर डालेगा। किसी ने पर्वताकार शरभ का रूप धारण कर लिया। हाथी जैसे सहज ही धास के पुलिदे को सूँड़ से छितरा डालता है उसी प्रकार वे सहज ही हस्ती को उठाकर फँक सकते थे। किसी ने बबालक (हस्ती और सिंह का मिश्रित रूप) का रूप धारण कर लिया जो कि पूँछ से पृथ्वी को विदीर्ण करने में और दीतों से वृक्ष को विदारित करने में समर्थ थे। किसी

ने बाष; चीता, वृष, सर्प, शूकर आदि हिंसा नशु का आकार धारण कर लिया जैसे कि राक्षस पशु रूप धारण कर लेते हैं। भीषण चीत्कार करते हुए जैसे मृत्यु का आङ्गान कर रहे हों इस प्रकार उन्होंने त्रिपृष्ठकुमार के सन्यदल पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण से विमूढ़ और हतोत्साहित होकर त्रिपृष्ठ की सेना सोचने लगी—क्या हम लोग भूलवश भूतों की नगरी में आ गए हैं? क्या यह राक्षसों का देश है? या अश्वग्रीव के आदेश से भयंकर यह राक्षस और पशुवाहिनी हम से युद्ध करने आई हैं? एक औरत के लिए हमारा विनाश हो रहा है। अब तो त्रिपृष्ठकुमार के जयी होने पर ही हमारा साहस रह पाएगा।

(श्लोक ५९५-६१५)

ऐसा सोचकर त्रिपृष्ठकुमार की सेना पीछे लौटने लगी। तब ज्वलनजटी आगे आया और त्रिपृष्ठकुमार को बोला—‘यह सब विद्याधरों का इन्द्रजाल है। इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। सांप किस रास्ते से गया यह तो सांप ही बता सकता है। इससे उन अत्य बुद्धिवालों की शक्तिहीनता ही प्रदर्शित हो रही है। जो शक्तिशाली है वह क्यों बालक को भय दिखाने की तरह इन सबों की सृष्टि करेगा? अतः हे वीर उठो, रथ पर चढ़ो और शत्रुओं को मानरूपी हस्तपृष्ठ से विच्छुत कर धरती पर पटक दो। तुम्हारे रथारूप और युद्धरत रहते हुए और आकाश में सहस्रमाली सूर्य के अवस्थान करते हुए किसका वैभव विस्तृत हो सकता है?’

(श्लोक ६१६-६२०)

ज्वलनजटी का यह कथन सुनकर महारथी त्रिपृष्ठ वृहद् रथ पर चढ़कर स्व-सैन्य को उत्साहित करने लगे। दीर्घबाहु वलराम भी अपने रथ पर चढ़े। वे किसी भी समय अपने छोटे भाई को अकेला नहीं छोड़ते थे। युद्ध के समय तो बिलकुल नहीं। ज्वलनजटी और उसके विद्याधर मिह जैसे पर्वत-शिखर पर चढ़ता है उसी प्रकार अपने-अपने रथ पर जा चढ़े। उनके पुण्योदय से ही मानो देवगण आकृष्ट होकर वहाँ आए और त्रिपृष्ठकुमार को शारंग नामक दिव्य-धनुष, कौमुदी गदा, पाञ्चजन्य नामक शंख, कौस्तुभ मणि, नन्दक नामक खड्ग और वनमाला नामक जयमाल्य अपेण किए। उन्होंने अचलकुमार को भी संवत्त्सर्क नामक हल, सीमन्द नामक मूशल और चन्द्रिका नामक गदा दी। दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति होते देखकर अन्य योद्धा भी उत्साहित होकर संगठित रूप से

अन्तक के पुत्रों की भाँति युद्ध करने लगे । जो नाटक अब अभिनीत होने वाला है उसके नन्दी रूप में त्रिपृष्ठकुमार ने पाञ्चजन्य शंख बजाकर आकाश गुजायमान कर दिया । प्रलयकालीन पुष्करावत्त मेघ से निकली वज्रघटनि की तरह उस पाञ्चजन्य शंख के शब्द से अश्वग्रीव की सेना क्षुध्य हो गई । वृक्ष के पत्र की तरह किसी के हाथ से अस्त्र खिसक कर गिर गया, कोई मानो पक्षाधात से प्रस्त हो गया हो इस प्रकार स्वयं ही जमीन पर सो गया । भयभीत शृंगाल की तरह कोई अदृश्य हो गया । किसी ने शशक की तरह भय से आँखें बन्द कर लीं । कोई उल्लू की तरह गिरि-कन्दरा में प्रवेश कर गया । किसी ने जल से निकाले कच्छप की तरह हाथ-पैर सिकोड़ लिए । समुद्र शुष्क हो जाने जैसी असम्भव अपनी सेना को हताश होते देखकर अश्वग्रीव उनसे बोला : (श्लोक ६२१-६३३)

‘हे विद्याधर सैनिको, एक सामान्य-सी शंख-इवनि से वृष की गर्जन से भयभीत बने अरण्य के हिरण की तरह तुम लोग कहाँ जारहे हो ? त्रिपृष्ठ और अचल में तुमने ऐसी कीन-सी शक्ति देखी कि शास-उत्पत्त कारी काक से लैसे गौ-बलीवर्द लालित हो जाने हैं उसी प्रकार तुम लोग भयभीत हो गए हो ? बहुत से युद्धों में जो गौरव तुम लोगों ने अर्जित किया था उसे धूल में मिला डाला । क्या तुम तहीं जानते एक बिन्दु काजल एक स्वच्छ सफेद वस्त्र की उज्ज्वलता नष्ट कर सकता है । लौट आओ । भाग्य दोष से ही लगता है तुम भयभीत हुए हो । बता सकते हो भूचर मनुष्य आकाशचारी तुम लोगों से किस प्रकार श्रेष्ठ है ? यदि युद्ध नहीं करना है तो खड़े होकर युद्ध देखो । मैं अश्वग्रीव युद्ध में किसी की भी सहायता की जपेक्षा नहीं करता ।’ (श्लोक ६३४-६३५)

अश्वग्रीव के इन वाक्यों को सुनकर लज्जा से सिर झुकाए विद्याधर सैनिक उसी प्रकार लौट आए जैसे पर्वत से आहत होकर समुद्र-तरंग लौट आती है । तब अश्वग्रीव कूर ग्रह की तरह शानु सेन्य का श्रास करने के लिए उथत होकर स्व-रथ पर चढ़ा । मानो अस्त्र क्षेपणकारी मेघपुञ्ज हो इस प्रकार वह आकाश से त्रिपृष्ठ की सेना पर तीर, प्रस्तर, मुद्गर आदि निश्चेप करने लगा । अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा से त्रिपृष्ठ की सेना का मनोबल टूटने लगा । घरती पर खड़ा मनुष्य धीर और साहसी होने पर भी आकाश से होने वाले

आकमण के सम्मुख कैसे खड़ा रह सकता है ? यह देख अचलकुमार, विपृष्ठकुमार, ज्वलनजटी अपनी विद्याधर सेना सहित रथ पर बैठ कर आकाश में उड़ गए । दोनों पक्षों के विद्याश्रवण मानो वे अपने गुरु के सम्मुख अपनी विद्या का प्रदर्शन कर रहे हों इस प्रकार घोर युद्ध करने लगे । पृथ्वी पर भी उभय पक्ष के संन्यदल जिस प्रकार अरण्य में एक हस्तीदल अन्य हस्तीदल पर कुद्ध होकर युद्ध करता है उसी प्रकार युद्ध करने लगे । आकाशचारी विद्याधरों के परस्पर के अस्त्राघात जनित रक्त स्राव के कारण आकाश से प्रलय सूचक रक्त-बृजिट होने लगी ।

(स्लोक ६३९-६४६)

कोई दण्ड लेकर एक दूसरे पर ऐसी द्रुतगति से आघात करने लगा । लगता था एक ही दण्ड लेकर कीड़ा नैपुण्य दिखाया जा रहा है । उस दण्डाघात से आकाश गैंज रहा था । जिस प्रकार भेरी को लकड़ी से पीटा जाता है उसी प्रकार कोई अपने प्रतिपक्षी को तत्त्वार की मूढ़ से पीट रहा था । कोई अन्य की जय को सहने में असमर्थ होकर परस्पर समझ बना अपनी डाल और छरदाल की तरह कम्पित कर रहा था । कोई आकाश को केश की तरह द्विखण्डित करने को बरछी निशेप कर रहा था जो कि वज्रनाद के साथ विद्युत-चमक का अम उत्पन्न कर रही थी । कोई कूर सर्प की छोटा भाला निशेप कर रहा था । दोनों संन्यदल इस प्रकार अस्त्रों को ऊर्ध्व और अधोलोक में निशेप कर रहे थे, लगता था पृथ्वी और आकाश अस्त्रमय हो गए हैं । किसी के हाथ में सद्य काटा शत्रु-मुण्ड था । देखकर लगता था मानो वह समराज्ञ का विशेष रक्षक हो । स्वतंथर्हीन देह पर गिरे हस्ती-मुख के कारण कोई गणेश-सा लग रहा था तो कोई अश्व-मुख के कारण किन्नर-सा लग रहा था । कोई तत्काल कटा भस्तक कुछ देर के लिए कमर बन्ध में अटक जाने के कारण ऐसा लग रहा था मानो उसका माथा नाभि से निकला है । किसी की मुण्डहीन देह इस प्रकार घूम रही थी मानो रणचण्डी के स्वयंवर में आनन्दित होकर प्रेत-नृत्य कर रहे हों । किसी का कटा हुआ मुण्ड जमीन पर गिरते समय गुनगुना रहा था मानो धड़ से जुड़ने के लिए मन्त्र पाठ कर रहा हो ।

(स्लोक ६४७-६५७)

जब युद्ध ने इस प्रकार भयंकर रूप ध्वारण कर मानो प्रलय-

काल ही आ गया तब त्रिपृष्ठ ने अपना रथ अश्वग्रीव के रथ के पास ले जाने को कहा। सनेह-रज्जु से बैंधे महारथी अचलकुमार भी अपना रथ त्रिपृष्ठकुमार के पास ले गए। ओढ़ से लाल नेत्र किए अश्वग्रीव मानो उनके रक्तपान का प्यासा हो इस भाँति उन्हें देख कर बोला—‘तुममें से किसने चण्डवेण पर आक्रमण किया था?’

(श्लोक ५३८-५३९)

अश्वग्रीव का कथन सुनकर त्रिपृष्ठकुमार हँसते हुए बोले—
मैं त्रिपृष्ठ हूं—मैंने ही तुम्हारे दूत पर आक्रमण किया था। पश्चिम सीमान्त स्थित सिंह को भी मैंने मारा था और स्क्यवंशभा से विवाह भी मैंने ही किया है। मैं तुम्हें अपना प्रभु नहीं मानता। मैं चिरकाल से तुम्हारी उपेक्षा करता आ रहा हूं। ये हैं मेरे अग्रज अचलकुमार जो कि शौर्य में इन्द्र तुल्य हैं। इनके सम्मुख खड़ा हो सके ऐसा मैंने त्रिलोक में भी किसी को नहीं देखा है—तुम तो हो ही क्या? यदि तुम्हें लगे कि संन्य-संहार की आवश्यकता नहीं है तो अस्त्र लेकर मेरे सम्मुख आओ। तुम मेरे युद्ध अतिथि हो। आओ, दृढ़-युद्ध कर तुम्हारी युद्ध की इच्छा शान्त कर दूँ। संन्य दर्शक के रूप में माल यह देखो।

(श्लोक ६६२-६७०)

अश्वग्रीव और अचलकुमार के यह बात स्वीकार कर लेने पर संन्यदल को युद्ध से विरत होने का आदेश दिया गया। तब अश्वग्रीव ने एक हाथ धनुष के मध्य रखकर अन्य हाथ से प्रत्यंचा खींची। उस समय धनुष यमराज की कुटिल भौंह-सा लगने लगा। तदुपरान्त रणदेवी को आनन्दित करने के लिए मानो वह वीणा बजा रहा है इस भाँति प्रत्यंचा को झंकूत किया। रात्रि में धूमकेतु का उदय जैसे धर्वंस की सूचना देता है उस प्रकार त्रिपृष्ठकुमार ने भी विनाशसूचक अपने धनुष की प्रत्यंचा को झंकूत किया। वज्र-नाद-से उस शब्द ने मृत्यु आह्वानकारी भन्त की तरह शत्रु-सेना के हृदय को भंग कर डाला। अब अश्वग्रीव ने गह्वर से जिस प्रकार खींचकर सांप निकाला जाता है वैसे ही तृणीर से एक तीर निकाल कर धनुष पर रोगा और प्रत्यंचा को कर्ण तक खींचा, तदुपरान्त ज्वलन्त आलोक शिखा की तरह वह तीर जो कि मृत्यु का आह्वान कर रहा था मानो वह पृथ्वी का अन्त कर देने वाला अग्नि-पिण्ड हो इस भाँति उसे निक्षेप किया। महाबलशाली त्रिपृष्ठकुमार ने उस

तीर को अपने तीर से पद्म-पत्र की तरह बीच में ही काट डाला ।

(श्लोक ६७१-६७८)

तदुपरान्त उन्होंने जो गति में प्रथम था ऐसा एक तीर निक्षेप कर अश्वग्रीव के धनुष को द्विखण्डित कर डाला । इसके बाद तो अश्वग्रीव ने जितनी बार धनुष प्रहण किया उतनी ही बार त्रिपृष्ठ कुमार ने उसे स्व-तीर से द्विखण्डित करने के साथ-साथ अश्वग्रीव के उत्साह को भी भंग कर डाला । (श्लोक ६७९-६८०)

तदुपरान्त एक तीर त्रिपृष्ठकुमार ने अश्वग्रीव के ध्वज-दण्ड पर फेंका और दूसरा तीर फेंक कर उसके रथ को इस प्रकार विनष्ट कर डाला मानो तिल का पौधा हो । कुछ अश्वग्रीव ने अन्य रथ पर आरोहण किया, मेघ-वृष्टि की तरह बाण-वृष्टि कर त्रिपृष्ठ की ओर अग्रसर हुआ । अश्वग्रीव के तीरों से चारों दिशाएँ ढक जाने के कारण न सारथी, न त्रिपृष्ठकुमार न अन्य कोई, कुछ भी दिखाई पड़ रहा था । तब त्रिपृष्ठकुमार ने अश्वग्रीव की उस तीर वर्षा को सहस्रमाली जैसे स्थ-किरणों से अन्धकार को दूर कर देता है उसी प्रकार दूर कर दिया । बलवानों में प्रथम पर्वत की तरह सहत दीधंबाहु अश्वग्रीव अपने तीरों की वर्षा को व्यर्थ होते देखकर अस्यन्त कोवित हो उठा । अतः तूणीर से विद्युत् की सहोदरा-सी, वज्र की सखा-सी, मृत्यु की जननी-सी, मानो नाशराज की जिह्वा हो ऐसी पाषाण सी शक्ति एक शक्ति बाहर निकाली । उस शक्ति को स्तम्भ स्थित राधावेदि की तरह या धण्डिकायुक्त यम की नर्तकी की तरह वह तीव्र वेग से सिर पर बुभाने लगा । फिर समस्त शक्ति संहतकर उसे त्रिपृष्ठकुमार पर निक्षेप किया । उनका विमान भरन हो जाएगा इस भय से देवों ने उस शक्ति की राह छोड़ दी । उस शक्ति को अपनी ओर आते देखकर त्रिपृष्ठकुमार ने रथ पर रखी यमदण्ड-सी गदा उठाई और हाथी जैसे सूँड से भस्त्रा-यन्त्र को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार निकट आती शक्ति पर तुरन्त प्रहार किया । उस प्रहार से वह शक्ति अग्नि स्फुर्लिंगों की वृष्टि करती हुई जैसे उल्का जमीन पर गिर जाती है उसी प्रकार चूर्ण-विचूर्ण होकर धरती पर गिर पड़ी । (श्लोक ६८१-६९१)

तब अश्वग्रीव ने ऐरावत के उद्धत दन्तों-सी लौह निमित गदा गदाधर त्रिपृष्ठकुमार पर फेंकी । त्रिपृष्ठकुमार ने उस गदा

से गहड़ जैसे स्व-शोष्णों से सांप को टुकड़ा-टुकड़ा कर फेंक देता है वैसे ही टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दिया। तब अश्वश्रीव ने पर्वत-सी कठोर, सखत और वज्जाकृति मानो यम का दण्ड हो, तक्षक की बहन हो ऐसी एक गदा लिपृष्ठकुमार पर फेंकी। लिपृष्ठकुमार ने उस गदा को अपनी गदा से मिट्टी के ढेले को तरह तोड़कर जमीन पर गिरा दिया।

(अलोक ६९२-६९५)

इस प्रकार जब उसके समस्त अस्त्र टृटकर चूर-चूर हो गए। तब वह निराश हो उठा। विषद में जैसे भाई याद आता है उसी प्रकार उसे नागास्त्र याद हो आया। अश्वश्रीव ने जब उस नागास्त्र को धनुष पर चढ़ाकर निष्ठेप किया तब शत-शत सर्प जैसे सपेरे की टोकरी से बाहर निशान हो दिया। हड्डी में फूलकार करते हुए, जमीन पर चलते हुए उन्होंने मध्य लोक को पाताल लोक में परिवर्तित कर डाला। क्रूर, दीर्घ, काले, उन फूलकार करते साँपों से आकाश में धूमकेतु के उदय से भी सहस्रगुणा अधिक संवास चारों ओर व्याप्त हो गया। मृत्यु के गुप्तनर-से उन्हें आकाश में संचरण करते देखकर सेचर रमणियाँ भयभीत होकर बहुत दूर भाग गईं। लिपृष्ठ की सैन्य के मध्य भी आतंक फैल गया। ऐसी अवस्था प्रभु की शक्ति से अज्ञान या प्रभु की शक्ति पर ध्यति विश्वास से ही होती है।

(अलोक ६९६-७०१)

तब लिपृष्ठकुमार ने धनुष गरुड़वाण चढ़ाकर निष्ठेप किया। वाण के मुख से सौ-सौ गहड़ निकलने लगे। उनके पंखों के संचालन से आकाश जैसे स्वर्ण छवि से आवृत हो गया। उनके लिए वे सर्प कदली तुल्य ही थे। गरुड़ों के डैनों की आवाज से सर्प उसी प्रकार दूर हो गए जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार दूर हो जाता है। नागास्त्र को भी व्यर्थ होते देखकर अश्वश्रीव ने अव्यर्थ अग्निवाण को समरण किया। उस अग्निवाण को धनुष पर चढ़ाकर लिपृष्ठ पर फेंका। उस वाण ने प्रज्ज्वलित अग्निशिखा से आकाश को उल्कामय कर डाला। वड़वानल से जैमे समुद्रीय प्राणी व्याकुल हो जाते हैं वैसे ही लिपृष्ठकुमार की सेना चारों ओर से होती हुई अग्निवर्षा से दबाकुल हो उठी। अश्वश्रीव की सेना इनसे उत्तेजित हो उठी। कोई हँसने लगा, कोई चक्कर खाने लगा, कोई कूदा, कोई नाचा, कोई गाने लगा, कोई ताली बजाने लगा। यह देखकर कोशित हुए

त्रिपृष्ठकुमार ने अप्रतिरोध व्रस्त जाल लौ धनुज पह उड़ाकर फेंका। पल भर में वासुदेव की इच्छा की तरह आकाश में मेघ व्याप्त होकर आकाश को और अश्वग्रीव के मुख को जैसे काला कर डाला। उस मेघ से वधकिल की तरह जल बरस कर दावानल की अभिनज्वाला को पूर्णतः बुझा डाला। अपने समस्त अस्त्रों को इस प्रकार वासुदेव के हाथों तृण की तरह नष्ट होते देखकर प्रतिवासुदेव ने अव्यर्थ एवं विनाशकारी चक्र को स्मरण किया। चक्र की खोल के मध्य भाग से निकलतो सहस्र-सहस्र ज्वाला से मानो उसे सूर्य के रथ से खोलकर लाया गया हो, या यम के कुण्डल को जोर से छीनकर लाया गया हो, तक्षक को चक्राकार किया गया हो ऐसा धण्डिकायुक्त वह चक्र स्मरण माल से ही खेचरों को भयभीत एवं संत्रस्त करता हुआ उसके पास आकर उपस्थित हो गया। उस चक्र को ग्रहण कर अश्वग्रीव त्रिपृष्ठकुमार को बोला—‘तू अभी बालक है। तेरी हत्या करने से मुझे भ्रूण हत्या का पाप लगेगा अतः तू युद्ध क्षेत्र से चला जा—तुझ पर दया आ रही है। देख मेरा यह अस्त्र इन्द्र के बज्र की तरह अमोघ है यह कभी व्यर्थ नहीं होता। यदि मैं इसे निक्षेप करूँ तो तेरी मृत्यु अवश्य होगी। इसका अन्यथा नहीं है इसलिए क्षत्रियों का अभिमान परित्याग कर और मेरी आज्ञा स्वीकार कर। तू अभी बालक है। बालकोचित औदृत्य रूप तेरे पूर्वकृत दुर्व्यवहारों को मैं क्षमा करता हूँ। जा अयाचित भाव से तुझे प्राण भिक्षा दे रहा हूँ।’

(श्लोक ७०२-७१९)

अश्वग्रीव की बात सुनकर त्रिपृष्ठकुमार हँसते हुए बोले—‘अश्वग्रीव, तुम बृद्ध हो गए हो, नहीं तो उन्मत की भाँति ऐसा प्रलाप नहीं बकते। सिह शावक बृहदाकार हाथी को देखकर कभी भागता नहीं। बृहद् सर्प को देखकर क्या गृह्ण शावक कभी पलायन करता है? बाल सूर्य सांध्य निशाचर को देखकर क्या कभी भयभीत होता है? बालक होते हुए भी तुम्हें देखकर मैं क्यों पलायन करूँगा? तुमने जितने भी अस्त्र मुझ पर निक्षेप किए हैं उसकी शक्ति तो तुमने देख ही ली है? अब इस चक्र की शक्ति भी देख लो। बिना देखे ही क्यों अहंकार कर रहे हो?’ (श्लोक ७२०-७२३)

यह सुनकर अश्वग्रीव ने उस भयंकर चक्र को लेकर समुद्र में बढ़वानल की तरह आकाश में मस्तक के ऊपर घुमाया। बहुत देर

तक घुमाने के पश्चात् उसने पूरी शक्ति लगाकर उस चक्र को निष्क्रेप किया। देखकर लगा—मानो समस्त सूर्य मण्डल जैसे आपतित हो रहा है। उस चक्र ने त्रिपृष्ठकुमार की वज्रमय और शिला-से बक्ष-देश पर आघात किया। चक्र के आघात से वे बजाहत को तरह मूर्छित होकर गिर पड़े और चक्र क्या हुआ यह देखने के लिए आकाश में स्थिर हो गया। कुमार को मूर्छित होते देखकर उनकी सेना में हाहाकार मच गया। शबू के आघात से अपने भाई को मूर्छित होते देख अचलकुमार अनुरागवश आहत न होते हुए भी मूर्छित हो गए। अश्वग्रीव ने सिंह की तरह सिहनाद किया और उसकी सेना युद्ध जय के उन्माद में 'मारो-मारो' कहकर चिल्लाते लगी। मुहूर्त भर में अचलकुमार की संज्ञा लौट आई। उन्होंने पूछा—'यह कैसी छवनि है?' सैनिकों ने कहा—'युवराज त्रिपृष्ठ-कुमार की मृत्यु से शबू-सैन्य आनन्द उन्मत्त होकर इस धौति जय-छवनि कर रही है।'

(श्लोक ७२४-७३२)

यह सुनकर अचलकुमार क़ुदू हो उठे। बोले—'कौन कहता है मेरे भाई की मृत्यु हो गई है? मेरा भाई युद्ध श्रम से बलान्त होकर मुहूर्त भर के लिए स्व-रथ में विश्राम कर रहा है।' फिर मन ही मन सोचने लगे जब कि यह मृत्यु मृत्यु नहीं है तो क्यों न मैं इनके हृषोल्लास को स्तमित करूँ? ऐसा सोचकर वे अश्वग्रीव को सम्बोधित कर बोले—'खड़ा रह अश्वग्रीव! तुम्हें और तुम्हारे रथ एवं तुम्हारी सेना को मुट्ठी भर पतंगों की तरह अभी अपनी गदा से चूर्ण-विचूर्ण करता हूँ।'

(श्लोक ७३३-७३५)

ऐसा कहकर उन्होंने रथावर्त पर्वत के शूल की तरह अपनी गदा उठाई और अश्वग्रीव की ओर दीड़े। उसी मुहूर्त में त्रिपृष्ठ-कुमार की संज्ञा लौट आई। वे इन्हें रोकते हुए बोले—'ठहरिए आर्य, ठहरिए। मेरे रहते आपका युद्ध करना उचित नहीं है। ऐसा कहकर सोकर जागे हों इस प्रकार वे उठ खड़े हुए। उन्हें उठते देख कर स्वदेशागत व्यक्ति से हठात मिलान हो गया हो इस प्रकार बाहु प्रसारित कर अचलकुमार ने उन्हें आलिङ्गन में ले लिया। त्रिपृष्ठ-कुमार को जीवित देखकर उनकी सेना आनन्द से हृषि छवनि करने लगी। वह हृषि छवनि शबू सैन्य के हृदय को बींध गई। त्रिपृष्ठ-कुमार ने चक्र को आकाश में अपने निकट स्थिर हुआ देखा मानो

उसने जो अपराध किया है उसके दण्ड की याचना कर रहा है। उन्होंने सूर्य-से उज्ज्वल और भयंकर उस चक्र को हाथ में ले लिया और अश्वग्रीव को बोले—‘पहाड़ के सामने हस्ती की तरह गरजते हुए तुमने जिस चक्र को मुझ पर निक्षेप किया उसकी शक्ति तो तुमने अभी देख ली। जाओ, जाओ मार्जार की तरह व्यवहार करने वाले, तुम्हारी हत्या कौन करे?’ (श्लोक ७३६-७४३)

यह सुनकर अश्वग्रीव की देह क्रोध से कांपने लगी। वह ओष्ठ दंशन करता हुआ बोला—‘अबूझ बालक, उस चक्र को पाकर तुम मदमस्त हो उठे हो। फिर उन भी मुझसे ही पाया है। पंगु जिस प्रकार पेढ़ से झड़े फल को पाकर उत्सत्त हो उठता है वैसे ही तू हो गया है। फैक वह चक्र मेरे लार और देख मेरी शक्ति। मैं मुष्ठि प्रहार से उसे चूर्ण-विचूर्ण कर दूँगा।’ (श्लोक ७४४-७४६)

यह सुनकर अक्षीण शक्ति वाले त्रिपृष्ठकुमार ने कुछ होकर चक्र को आकाश में छुमाकर अश्वग्रीव पर फैका। उस चक्र ने कदली वृक्ष की तरह अश्वग्रीव के कण्ठ को छिक्क कर दिया। कारण, प्रतिचक्री स्वयं चक्र द्वारा निहत होते हैं। सेचरण आनन्दित होकर त्रिपृष्ठकुमार पर पुष्प-वृष्टि कर जय-जयकार करने लगे। आकाश को भी कम्दित कर दे ऐसे पराजित अश्वग्रीव के सैनिक अद्दन करने लगे। उनके भेत्रों से प्रवाहित जल से ऐसा लगा मानो वे अश्वग्रीव को अन्तिम-संस्कार के लिए स्नान करवा रहे हैं। मृत्यु के बाद अश्वग्रीव तीनों गागरोपम की आयु लिए सप्तम नरक में उत्पन्न हुआ। (श्लोक ७४७-७५१)

उसी समय मुख्य देवगण आकाश में स्थिर होकर बोले—हे राजन्यगण, अब आप अपना मान परित्याग करिए। अश्वग्रीव के प्रति अब तक जो आपका आनुगत्य था उसे परित्याग कर त्रिपृष्ठ-कुमार की शरण लीजिए। ये ही योग्य शरण-स्थल हैं। इस काल के भरत भेत्र के ये ही प्रथम वासुदेव हैं। (श्लोक ७५२-७५५)

यह देववाणी मुनकर अश्वग्रीव के पक्ष के समस्त राजा वासु-देव के निकट आए और करबड़ होकर बोले—‘अज्ञान और परतन्त्रतावश इतने दिनों तक हमने जो अपराध किया है उसे आप क्षमा करें। हे शरण, आज से भूत्य की तरह हम आपके आदेश का पालन करेंगे। हमें आदेश दोजिए।’ (श्लोक ७५६-७५८)

निष्ठुष्ठकुमार ने कहा—‘तुम लोगों ने कोई अपराध नहीं किया है। प्रभु के आदेश पर युद्ध करना क्षत्रियधर्म है। अतः अथ का परित्याग करो। आज से अब मैं तुम्हारा प्रभु हूं। मेरे अधीन रहते हुए तुम लोग अपने-अपने राज्य को लौट जाओ और सुख-पूर्वक राज्य करो।’

(प्लोक ७५९-७६०)

इस प्रकार समस्त राजाओं को आश्वस्त कर निष्ठुष्ठकुमार स्व-दलबल के साथ द्वितीय इन्द्र की तरह पोतनपुर लौट आए।

(प्लोक ७६१)

वासुदेव और उनके अग्रज ने सप्त निधियाँ एवं चक्र से परिवृत्त होकर दिग्बिजय के लिए पुनः पोतनपुर का परित्याग किया। प्रथम उन्होंने पूर्व प्रान्त के मुख के अलङ्कार तुल्य मगध को जय किया। तुम्हारान्त दक्षिण प्रान्त में शिरामहण इति वददामपति और पश्चिम प्रान्त जिनके द्वारा अलंकृत हुआ था ऐसे प्रभासपति को जय कर लिया। वैताड्य पर्वत की उभय श्रेणियों के विद्याधरों को भी उन्होंने जय कर लिया। ज्वलनजटी की विद्याधरों की उभय श्रेणियों का आधिपत्य निष्ठुष्ठकुमार ने प्रदान किया। महान् व्यक्तियों की सेवा करने पर वे कल्पवृक्ष की तरह फलदान करते हैं। इस प्रकार दक्षिणार्द्ध जय कर निष्ठुष्ठकुमार स्व-नगर लौट जाने को प्रस्थान किए। उस समय वे चक्रवर्ती के अर्द्ध वैभव और अर्द्ध पराक्रम से सुशोभित हो रहे थे। पथ अतिक्रम करते हुए वे मगध देश पहुंचे। राजाओं के तिलक रूप उन्होंने वहाँ पृथ्वी के तिलक रूप जिसे एक करोड़ लोग उठा सकें ऐसी शिला देखी। उन्होंने उस कोटि शिला को लीलामाल में उठाकर बाएँ हाथ से सिर पर छत्र की तरह धारण की। उनकी इस अपरिमित शक्ति को देखकर राजागण और जन-साधारण आश्चर्यचकित होकर भाट और चारणों की तरह उनके बल की प्रशंसा करने लगे। उस कोटि शिला को पुनः अपने स्थान पर रखकर वे श्री के निवास रूप पोतनपुर से कुछ दिन में ही लौट आए।

(प्लोक ७६२-७७१)

निष्ठुष्ठकुमार ने हस्तीपुष्ठ पर आरोहण कर परिपूर्ण वैभव सहित श्री के नव निर्मित निवास रूप पोतनपुर में प्रवेश किया। आकाश के नक्षत्र की तरह समस्त नगर में मोतियों के स्वस्तिकों की रचना की गई। छवज-पताकाओं से सुसज्जित नगरी को देखकर

लगता था मानो शत-शत इन्द्रधनुष उदित हुए हैं। धरती की धूल निवारण के लिए जल का छिड़काव किया था। मानो अभी-अभी वर्षा हुई है। उज्ज्वल कलश शोभित उच्च वेदी समूह स्वर्ग के विमान की तरह शोभा नहीं ले। मानव गानों से जगत् पर ऐसे प्रतिगृह में विचाहोत्सव अनुष्ठित हो रहा है। असंख्य लोगों के एकत्र होने से लगता था पृथ्वी के समस्त लोग वहाँ एकत्र हो गए हैं। तब राजा प्रजापति, ज्वलनजटी, अचलकुमार और अन्य राजाओं ने त्रिपृष्ठकुमार को अर्द्धचक्री रूप में अभिषिक्त किया।

(इलोक ७७२-७७६)

भगवान् श्रेयांसनाथ दो मास तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण कर सहस्राङ्ग उद्यान में आकर उपस्थित हुए। वहाँ अशोक वृक्ष तले जब कि वे द्वितीय शीलेशीकरण ध्यान में स्थित थे उनके चार घाती कर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय जिस प्रकार अग्नि में मोम गल जाता है उसी प्रकार गल गए। माघ कृष्णा अमावस्या को चन्द्र जब श्रवण नक्षत्र में था तब दो दिनों के उपवास के पश्चात् प्रभु को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ।

(इलोक ७७७-७८०)

देवता निर्मित समवसरण में बैठकर अलौकिक शक्तिधर अहंत श्रेयांसनाथ स्वामी ने उपदेश दिया। उस उपदेश से अनेकों को सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ। किसी ने साधुन्नत ग्रहण किया, किसी ने श्रावक बन लिया गया। गोषुभ आदि छियत्तर गणधर हुए। उन्होंने प्रभु से त्रिपदी सुनकर द्वादशांगी की रचना की।

(इलोक ७८१-७८३)

उनके संघ में ईश्वर नामक प्रवेत्तवर्ण विनयन वृषभ-वाहन यक्ष उत्पन्न हुए। उनके दाहिने हाथों में एक में विजोरा नींबू और दूसरे में गदा थी। दोनों बाएँ हाथों में से एक में नेवला और दूसरे में अक्षमाला थी। वे भगवान् श्रेयांसनाथ के शासन देव हुए। इसी प्रकार गौरवर्ण सिंहवाहना मानवी यक्षिणी उत्पन्न हुई। उनके दाहिने ओर के एक हाथ में हथीढ़ी और दूसरा वरद मुद्रा में था। बायीं ओर के हाथों में एक में बज्र और दूसरे में अंकुर था। ये भगवान् की शासन देवी बनीं। (इलोक ७८४-७८७)

शासन देव-देवी सहित भगवान् श्रेयांसनाथ प्रवर्जन करते

हुए एक दिन श्रेष्ठनगरी पोतनपुर पहुंचे। वहाँ समोसरण के लिए वायुकुमार देवों ने एक योजना भूमि परिष्कृत की और मेवकुमार देवों ने उसे स्वर्ण और रत्न शिला से मंडित किया और घटने तक पंचवर्णीय पुष्पों की वर्षा की। उन्होंने चारों दिशाओं में दिक्कुमारों के भृकुटि की तरह चार अलंकृत तोरण निर्मित किए और मध्य में एक रत्नवेदी बनाई। इसके नीचे भवनपति देवों ने धरणी के शिरमाल्य की तरह स्वर्ण-शिखर युक्त रौप्य प्राकार का निर्माण करवाया। ज्योतिष्क देवों ने मानो उनकी ज्योति द्वारा ही निर्मित हो ऐसे रत्नशिखर युक्त स्वर्ण की द्वितीय प्राकार निर्मित करवाई। विमानपति देवों ने मणि-शिखर युक्त रत्नशीला के तृतीय प्राकार का निर्माण किया। प्रत्येक प्राकार में सुसज्जित चार द्वार थे और मध्य प्राकार के बीच ईशान कोण में एक वेदी थी। प्राकार की मध्यभूमि के बीच व्यंतर देवों ने ६९ अनुष हीरे एक चैत्र दृश्य द्वारा निर्माण किया। इसके तल में रत्नमय वेदी पर उन्होंने एक मंच निर्मित किया और उस पर पादपीठ सह पूर्वमुखी एक रत्न-सिंहासन स्थापित किया और जो कुछ वहाँ करणीय या व्यंतर देवों ने वह सब निष्पत्ति किया। भक्ति के कारण वे भृत्यों से भी अधिक अप्रमादी थे।

(इलोक ७८८-७९८)

तदुपरान्त भगवान् श्रेयोसनाथ जिनके भस्तक पर त्रिलोक था, यक्ष जिनके दोनों ओर खड़े होकर चामर बीज रहे थे, जिनके अग्रभाग में इन्द्रध्वज चल रहा था, चारणों की जयद्वनि सी जिनकी साम्यवाणी दुंदुभिषोष में घोषित हो रही थी, सूर्यलीक से दीप्त पूर्वगिरि से जिसकी प्रभा विस्तारित हो रही थी ऐसे प्रभु कोटि-कोटि देव, मानव और असुरों द्वारा सेवित होकर अपने चरणकमलों को देवों द्वारा रक्षित तो स्वर्ण-कमलों पर रखते हुए पूर्वद्वार से उस समवसरण में जिसके सम्मुख देवीप्यमान धर्मचक्र रखा था प्रवेश किया। तदुपरान्त त्रिलोकपति ने उस चैत्य दृक्ष की तीन प्रदक्षिणा दी। उस चैत्य दृक्ष ने भी मातो भैवरों के गुंजन द्वारा उनका स्वागत किया। तदुपरान्त भगवान् ने पूर्वभिमुख होकर 'नमो सित्याय' कहा। तत्पश्चात् पादपीठ पर पाँव रखकर उसी रत्न-सिंहासन पर आरोहण किया।

(इलोक ७९९-८०६)

व्यंतर देवों ने अन्य तीन और प्रभु की अनुकृति लाकर रत्न-

सिंहासन पर रखी। साधुगण भी पूर्वद्वार से प्रवेश कर मथा स्थान पर जा बैठे। वैमानिक देवियाँ व साडिवियाँ खड़ी रहीं। दक्षिण द्वार से प्रवेश कर तीर्थपति को नमस्कार कर भवनपति, ज्योतिष्क और व्यंतर रमणियाँ तैर्हत्य कोण में जाकर खड़ी हो गईं। पश्चिम द्वार से प्रवेश कर अहंत को नमस्कार कर भवनपति ज्योतिष्क और व्यंतर देव वायुकोण में जाकर खड़े हो गए। उत्तर द्वार से प्रवेश कर भगवान् को नमस्कार कर वैमानिक देवता, मानव और मानवियाँ ईशान कोण में जाकर खड़ी हो गईं। इस प्रकार तृतीय प्राकार के मध्य चतुर्विधि संघ, मध्य प्राकार में पशु और निम्न प्राकार में बाह्नादि अवस्थित हुए। (श्लोक द०७-८११)

संवादवाहकों ने अर्द्धचक्री लिपृष्ठ वासुदेव से निवेदन किया कि प्रभु के समवसरण की रचना हुई है। यह सुनते ही वासुदेव सिंहासन से उठे। पादुका परित्याग कर जिस दिशा में प्रभु अवस्थित थे उधर मुँह कर भगवान् की वन्दना की। तदुपरान्त सिंहासन पर बैठकर उस शुभ-संवादवाहक को तेरह कोटि रूप्य मुद्राएँ दान में दीं और बलराम अचल को साथ लेकर लिपृष्ठकुमार सकाल जीवों के शरणस्थल प्रभु के समवसरण में पहुंचे। उत्तर द्वार से प्रवेश कर प्रभु की यथोचित भाव से वन्दना की। तत्पश्चात् वे इन्द्र के पीछे जाकर बैठ गए। प्रभु को पुनः वन्दन कर इन्द्र, लिपृष्ठ वासुदेव और बलराम ने भक्ति भरे हृदय से यह स्तुति की :

(श्लोक द१२-८१७)

‘हे परमेश्वर ! सबको आनन्दकारी और मुक्ति के कारण रूप आपको मैं मुक्ति के लिए वन्दना करता हूं। आपके दर्शन मात्र से जबकि मनुष्य सब कुछ भूलकर अध्यात्म के प्रति भक्तिमान होता है तब आपकी देशना जो सुनता है उसका तो कहना ही क्या है ! मेरे लिए तो आप क्षीर-समुद्र तुल्य एवं कल्पवृक्ष रूप में वर्द्धित व हंसार रूपी मरम्भमि पर सजल मेव रूप में उदित हुए हैं। हे ग्यारहवें तीर्थङ्कर, हे केवली श्रेष्ठ, कूर कर्म द्वारा आकान्त मनुष्यों के आप ही एकमात्र रक्षक हैं। जल से जैसे स्फटिक पवित्र होता है उसी प्रकार इश्वाकु वंश जो कि स्वभावतः ही पवित्र है आपके द्वारा और पवित्र हुआ है। हे भगवन्, आपके चरण लिलोक के समस्त दुःखों को दूर करते में अतुल छायामय सिद्ध हुए हैं। हे

जिन, मैं न सांसारिक मुख चाहता हूँ ना मुक्ति, मैं तो केवल आपके चरण-कमलों पर भ्रमर की तरह निवास करना चाहता हूँ। हे त्रिलोकनाथ, विविध भाव से आपके चरण ही मानो मेरे लिए शरण हैं। आपकी सेवा से क्या प्राप्त नहीं होता ?' (श्लोक ८१-८२५)

इन्द्र, त्रिपुष्ठ और अचल इस प्रकार स्तुति कर जब निवृत्त हुए तो भगवान् श्रेयोसनाथ ने मुक्ति का करण रूप यह देशना दी :

(श्लोक ८२६)

'यह असीम संसार समुद्र स्वयंभूरमण समुद्र की तरह विशाल है। कर्मरूप तरंग के कारण मनुष्य कभी ऊर्ध्व में उत्क्षिप्त, कभी निम्न में निक्षिप्त होते हैं। हवा जिस प्रकार पसीने को सुखा देती है, वीषध जैसे गन्ध को विनष्ट करती है उसी प्रकार अष्टविद्य कर्म निर्जरा द्वारा शीघ्र विनष्ट होते हैं। निर्जरा दो प्रकार की है : स्वेच्छाकृत या जो स्वयं होती है। कारण, जो संसार बन्ध का बीज था वह तो यहाँ क्षय हो ही जाता है। जो इन्द्रिय दमन करते हैं उनके लिए वह स्वेच्छाकृत है, अन्य के लिए वह स्वतः होती है। कारण, कर्म भी फल की तरह बाहरी निमित्त से या स्वतः पक जाता है। जैसे स्वर्ण खाद्ययुक्त होने पर भी अग्नि में तपाने पर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपस्या की अग्नि में दग्ध होकर आत्मा प्रविन्न हो जाती है।' (श्लोक ८२७-८३१)

'अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति संक्षेप, रस त्याग, कायक्लेश और संलीनता बाहु तप है। प्रायशिच्चत, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, अुत्सर्ग और ध्यान आभ्यन्तरिक तप है। स्वयं संयमित पुरुष क्षय करने में दुष्कर कर्म को भी बाहु और आभ्यन्तरित तप से शीघ्र दग्ध कर देता है। सरोवर में जल आगमन का पथ यदि बन्द कर दिया जाए तब वह जिस प्रकार नए जल द्वारा पूर्ण नहीं होता है उसी प्रकार कर्म का बन्धन नहीं होता। उस सरोवर में जल पूर्व से भरा हुआ था वह सूर्य-किरणों से बार-बार दग्ध होने पर जैसे सूख जाता है उसी प्रकार पूर्व संचित मनुष्य के कर्म भी तपस्या की अग्नि में बार-बार दग्ध करने पर शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं।'

(श्लोक ८३२ - ३०)

'कर्म-विनाश के लिए बाहु तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप ही श्रेष्ठ है और आभ्यन्तर तप में भी, मुनियों के कथनानुसार ध्यान

ही छल रूप है। जो मुनिगण व्यानरत हैं वे दीर्घकाल के संचित कर्म को भी जो कि अत्यन्त गहन है मुहूर्त माद्र में विनष्ट कर देते हैं। लिखित दोषों के कारण रोग का प्रकोप कठिन होने पर भी जैसे उपवास से वह सम्य प्राप्त होता है उसी प्रकार तपस्या से पूर्व संचित कर्म भी झर जाते हैं। तीव्र दायुवेग से मेघपुञ्ज जैसे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं उसी प्रकार तपस्या से कर्म विनष्ट हो जाते हैं। कर्म का निरोध और कर्म का क्षय यदि सर्वदा फलदायी है फिर भी जब वह चरम रूप में आता है तब वह मोक्ष रूपी फल प्रदान करता है। दोनों प्रकार की तपस्या से कर्म क्षय कर शुद्ध-सख्त व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर कर्म से सर्वथा मुक्त हो जाता है।' (श्लोक ८३९-८४४)

भगवान् की देशना से बहुत से व्यक्तियों ने मुनिधर्म ग्रहण किया। अचल और लिपृष्ठकुमार ने सम्यक्त्व ग्रहण किया। दिन का प्रथम याम व्यतीत होते ही प्रभु-देशना से विरत हुए। तब लिपृष्ठकुमार के अनुचर चार प्रस्थ बलि ले आए। उस बलि को प्रभु के समुख बाकाश में उत्क्षिप्त किया गया जिसका आधा तो देवों ने वर्ती वर मध्ये से पूर्व ही ग्रहण वर लिया। जो आधा भूमि पर गिरा उसका आधा राजन्य लोगों ने और अवशेष आधा अन्य लोगों ने ग्रहण किया। तदुपरान्त प्रभु उत्तर द्वार से बहिर्गत होकर मध्य प्राकार की रत्नवेदी पर जाकर बैठ गए। तब छियत्तर गणधरों के प्रमुख गोशुभ गणधर ने प्रभु के पाद-न्पीठ पर बैठकर देशना दी। उन्होंने दिन के द्वितीय प्रहर में अपनी देशना समाप्त की। तत्पश्चात् इन्द्र, अचल, लिपृष्ठ आदि सभी अपने-अपने निवास स्थान पर लौट गए। प्रभु भी वहाँ से प्रक्रमन कर द्वितीय सूर्य की तरह ज्ञान का आलोक विकीर्ण करते हुए पृथ्वी पर भ्रमण करने लगे।

(श्लोक ८४५-८५१)

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् प्रभु दो मास कम इकोस लक्ष पूर्व तक इस पृथ्वी पर विचरण करते रहे। उनके संघ में चौरासी हजार साधु, एक लाख तीन हजार सात्त्वियों, तेरह सौ चौदह पूर्वज्ञारी, छह हजार अवधिज्ञानी, छह हजार मनःपर्यव ज्ञानी, छह हजार पाँच सौ केवलज्ञानी, ग्यारह हजार वैक्रिय लिङ्ग सम्पन्न, पाँच हजार वादी, दो लाख उत्त्यासी हजार शावक और चार लाख अड़तालीस हजार शाविकाएँ थीं।

(श्लोक ८५२-८५६)

अपना निर्वाण समय निकट जानकर प्रभु एक हजार मुनियों सहित सम्मेद शिखर पर्वत पर गए और अनशन तप प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार शैलेशीकरण ध्यान में एक मास व्यतीत कर श्रावण कृष्णा तृतीया को चन्द्र जब धनिष्ठा नक्षत्र में था एक हजार मुनियों सहित भगवान् ने अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त किया। भगवान् कुमार-अवस्था में २१,०००,०० वर्षों तक, राज्याधिपति के रूप में ४२,०००,०० वर्षों तक और संयम पर्याय में २१,०००,०० वर्षों तक रहे सब मिलाकर ८४,०००,०० वर्षों तक पृथ्वी पर आपने विचरण किया। भगवान् शीतलनाथ के निर्वाण के एक सौ सागर छह लाख छह सौ छब्बीस वर्ष कम एक करोड़ सागर के पश्चात् भगवान् श्रेयांसनाथ का निर्वाणोत्सव हुआ। यह महोत्सव देव और इन्द्र द्वारा अनुष्ठित हुआ। महापुरुषों के निर्वाण पर उत्सव होता है, शोक नहीं।

(श्लोक ८५७-८६४)

तदुपरान्त लिपृष्ठ वासुदेव अपनी ३२,००० रानियों सहित सांसारिक-सुख भोग करते हुए समय व्यतीत करने लगे। महारानी स्वयंप्रधा ने श्रीविजय और विजय नामक दो पुत्रों को जन्म दिया।

(श्लोक ८६५)

एक समय रतिसागर में लीन लिपृष्ठ के पास कुछ गायक आए जो कि अपने कण्ठ-माधुर्य से किन्नरों को भी परास्त कर चुके थे। सर्व कला निधान वासुदेव को भी उन्होंने विविध प्रकार के श्रुति मधुर संगीत से विमुग्ध कर दिया। सगीत माधुर्य के लिए लिपृष्ठकुमार ने उन्हें अपने पास ही रख लिया। गायन से सभी रुपाति प्राप्त करते हैं फिर जो विशेष अधिकारी होते हैं उनका तो कहना ही क्या।

(श्लोक ८६६-८७०)

एक बार रात्रि में जबकि लिपृष्ठकुमार अपनी शय्या पर विश्राम कर रहे थे वे गायक इन्द्र के गन्धर्व की तरह उच्च स्वर से गाने लगे। लिपृष्ठ ने उनके गीत पर हस्ती की भाँति मुग्ध होकर अपने अपने शय्यापालक को आदेश दिया कि जब मुझे नीद आ जाए तब गाना बरद करवा देना क्योंकि जब मैं सुनूँगा ही नहीं तो गाना व्यर्थ होगा।

(श्लोक ८७१-८७३)

शय्यापालक ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली। वासुदेव

को कुछ देर में ही नींद आ गई किन्तु शश्यापालक ने गाना सुनने की इच्छा से गाना बन्द नहीं करवाया। इन्द्रियों के विषय में आसक्त होने से स्वामी की आज्ञा अवहेलित होती है। रात्रि के शेष याम में लिपृष्ठकुमार जागत हुए तो पूर्व की ही भाँति उन्हें सुमधुर संगीत मुनाई पड़ा।

(स्लोक द७४-द७६)

'उनका गाना बन्द क्यों नहीं करवाया? इतनी देर तक वे निश्चय ही कलान्त हो गए होंगे?' लिपृष्ठ द्वारा इस प्रकार पूछने पर शश्यापालक ने उत्तर दिया—'देव, उनके संगीत पर मैं इतना मुग्ध हो गया था कि उन्हें गाना बन्द करने को नहीं कहा। मैं प्रभु का आदेश भूल गया।'

(स्लोक द७७-द७८)

यह सुनते ही लिपृष्ठकुमार ने कुछ होकर शश्यापालक को तत्क्षण बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया। दूसरे दिन सुबह सूर्य जिस प्रकार पूर्व दिशा को शोभित करता है उसी प्रकार उन्होंने जब राज सभा को सुशोभित किया तो वह रात्रि वाली घटना स्मरण हो आई। उन्होंने उसी क्षण शश्यापालक को बुलवाया और रक्षकों को आदेश दिया इस संगीतप्रिय शश्यापालक के कानों में गर्म-गर्म शीशा भर दो। इसके कान अपराधी हैं। वे लोग शश्यापालक को एकांत में ले गए और उसके कान में गर्म-गर्म शीशा भर दिया। राजाज्ञा कूर होने पर भी दुर्लभ होती है। भयंकर यन्त्रणा से उस शश्यापालक की मृत्यु हो गई और लिपृष्ठकुमार ने अशुभतम कर्म का इस भाँति बन्धन कर लिया।

(स्लोक द७९-द८३)

नित्य विषयासक्त, राज्य मूल्छी में लीन, बाहुबल के गर्व में जगत को तुण समान समझने वाले, हिंसा में निःशंक, महारम्य और महापरिग्रही लिपृष्ठ कूर कर्मों के कारण सम्यक्त्व रूप रत्न नष्ट कर नरक का आयुष्य बांधा और ८४,०००,०० वर्ष की आयु पूर्ण कर सातवें नरक में उत्तम हुए। वहाँ अप्रतिष्ठान नामक नरक में ५०० धनुष दीर्घकायुक तैतीस सागरोपम की आयु लिए स्वकर्मों का फल भोग करेंगे। इन्होंने २५००० वर्ष कुमारावस्था में, २५००० वर्ष मांडलिक राजा के रूप में, १००० वर्ष दिग्बिजय में और ८३,४९,००० वर्ष बासुदेव (अर्द्धचक्री) के रूप में कुल मिलाकर ८४ लाख का पूर्ण आयु भोगा। लिपृष्ठ की मृत्यु से सूर्य जिस प्रकार राहु से ग्रस्त होता है उसी प्रकार अबल महान शोक से अभिभूत हो

ग्रन्थ : यहाँने हिंदेकी के लिए भी लहितेनी की तरह उच्च-स्वर से कन्दन करते हुए अप्रतिम श्रावृप्रेम के कवरण इस भाँति विलाप करने लगे :

(श्लोक ८८४-८९१)

'भाई उठो, इस प्रकार क्यों सोए हो ? हे नर्सिंह, अपने कार्य में इतना ऐथिल्य क्यों ? समस्त राजा तुम्हें देखने के लिए दख्वाजे पर खड़े हैं। इन दर्शन-पिण्डासुओं को दर्शन नहीं देना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। भाई, कीतुक के लिए भी तुम्हारा इतनी देर तक चुप रहना उचित नहीं है। तुम्हारे कण्ठ-स्वर का माधुर्य सुने बिना मेरा हृदय उत्कंठित हो रहा है। सर्वदा उत्साही और गुरुजनों के प्रति अद्वावान रहने वाले तुम न कभी निद्रावश हुए, न कभी मेरी अवहेलना की। आज तुम्हारे इस निष्ठुर व्यवहार से मैं मर्माहृत हो हो गया हूँ। अब मेरा क्या होगा ?' कहते-कहते अचल मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़े। एक मुहर्त के पश्चात् जब मूर्च्छा भग हुई तो वे उठ बैठे और वासुदेव को गोद में लेकर भाई-भाई करते हुए कन्दन करने लगे। अन्ततः वयोवृद्धों के उपदेश से मीह कम होने पर उन्होंने भाई का अग्नि संस्कार किया। (श्लोक ८९२-८९६)

भाई की मृत्यु के पश्चात् वलदेव अचल उन्हें स्मरण करते हुए श्रावक के मेघ की तरह अथू विसर्जन करते रहते। मात्रो उद्यान अरण्य हो, गृह इमशान हो, सरोवर गृह-प्रणाली हो, आत्मीय परिजन शत्रु हों इस प्रकार जलहीन मछली की भाँति उन्हें कहों कोई आनन्द नहीं था। भगवान् श्रेयांसनाथ के उपदेशों को स्मरण कर, संसार की अनित्यता को दृष्टिगत करते हुए इन्द्रिय-विषयों से विरक्त अचल ने लोगों से अनुरुद्ध होकर कुछ दिन गृहवास किया। एक दिन वे आचार्य धर्मधोष सूरि के दर्शन को गए। वहाँ अर्हत बाणी-सी उनकी देशना सुनकर उनका संसार-वैराग्य और उत्कट हो उठा। वे शुद्ध मन से उनके चरणों में दीक्षित हो गए। जो महान् होते हैं वे संकल्प स्थिर होते ही उसे कार्यान्वित करते हैं। मूल और उत्तर गुणों को पूर्णतः पालन कर धर्मपरायण उन्होंने समस्त परिस्थितियों में समभाव रखकर परिषहों को सहन करते हुए वायु की तरह अप्रतिबद्ध भाव से लक्ष्य के प्रति सर्व-सी दृष्टि रखते हुए उन्होंने कुछ मास तक श्राम, खान, नगरादि में विचरण किया। अन्ततः अपनी ८५ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर अचलकुमार जिनका

मन और चारित्र शुद्ध था, समस्त कर्म क्षयकर मोक्ष को प्राप्त किए।
(श्लोक ८९९-९०६)
(प्रथम सर्ग समाप्त)

द्वितीय सर्ग

वासुपूज्यचरत्वः

भगवान् वासुपूज्य जो कि सबके सब प्रकार से पूजनीय हैं, रक्षक हैं, जिनके चरण-नख इन्द्र और उपेन्द्रों के मुकुटों के अग्रभाग से अषित होते हैं उन्हें मैं बन्दना करता हूँ। मैं तीर्थकरों के चरित वर्णन रूपी ध्यान में उनका चरित जो कि मंगलकारक हैं और निष्कलंकता में चन्द्र को भी अतिक्रम करता है अब वर्णन करता हूँ।

(श्लोक १-२)

पुष्करवर द्वीपाद्वार्द्ध के पूर्व विदेह में मंगलवती नामक विजय में पूर्व विदेह के अलंकार तुल्य रत्नसंचय नामक एक राजा राज्य करते थे। जो कि सर्व प्रकार से पद्मा अर्थात् लक्ष्मी की तरह समृद्धि संपन्न और चन्द्र की तरह प्रजाजनों को प्रिय थे। राजागण जिस प्रकार भक्ति से उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते उसी प्रकार वे जिनवाणी को हृदय में धारण करते थे। सर्वगुण सम्पन्न उनमें ऐश्वर्य और यश इस प्रकार एक साथ बढ़ित होते थे कि लगता थे यमज रूप में उत्पन्न हुए हैं। राजाओं की मुकुटमणि रूप वे पृथ्वी पर इस प्रकार शासन करते थे मात्रो वह परिखा परिवृत्त नगरी हो। भास्य तो लक्ष्मी की तरह ही चंचल है, सौन्दर्य यौवन की तरह क्षणस्थाई, सत्कर्म पद्म-पत्र के जल की तरह अस्थिर और बन्धु-बान्धव पथ पर मिल जाने वाले पान्थ की तरह अल्प समय के लिए होते हैं—इस प्रकार सतत चिन्तन करते हुए वे वैराग्य को प्राप्त हो गए।

(श्लोक ३-९)

एक दिन उन्होंने महामना ने गुरु वज्रनाभ के चरणों में जाकर मुक्ति रूपी श्री की थाविभवि सूचक दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्होंने दहुविध स्थानक और अहंत भक्ति द्वारा तीर्थकर नाम कर्म उपार्जन किया। तदुपरात्र दीर्घ दिन पर्यन्त तलबार की धार की रक्षा से जल पालन कर आयु पूर्ण होने पर प्राणत नामक स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक १०-१२)

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में पृथ्वी की चम्पक माला-सी चम्पा नामक एक तगड़ी थी। रत्न निर्मित मन्दिरों की दीवारों पर प्रतिबिम्ब यहने ने लड्डौं है। लालुण्ड वैलिय लघि सम्पन्न हों ऐसे लगते थे। प्रति यह की कीड़ावापी रात्रि के समय सोपानों पर जड़ित चन्द्रकान्त मणि निःसुत जल में अपने आप पूर्ण हो उठती थी। यहाँ के गृहों से निर्गत धूपवर्त्तिका के धूपवल्ली से वहाँ के गृह सर्व पूर्ण पाताल लोक के गृह-से लगते थे। कीड़ारत नगर-नारियों से कीड़ा-धापियाँ अप्सरा परिपूर्ण क्षीर-समुद्र-सी लगती थीं। स्त्रियों द्वारा गाए षडज राग के गीत षडज कौशिकी भद्र के केकारब को भी पराभूत कर देतीं। ताम्बूल करंकवाहिनियों के हाथ में पान और सुगारी लेकर आने-जाने से लगता वे मानो शुक पक्षियों को हाथ में लेकर शिक्षा दे रही हों।

(श्लोक १३-१९)

इक्षवाकुवंशीय वसुपूज्य वहाँ के राजा थे। वे वासव की तरह पराक्रमी और वसु (सूर्य) की तरह लावण्यशाली थे। मेघ जैसे पृथ्वी को बारि द्वारा सिंचित करता है उसी प्रकार वे भेरी शब्द से भिखारियों को एकत्र कर अर्थदान से परितुष्ट करते। उनकी अगणित सैन्य आक्रमण के लिए नहीं कौतुक के लिए पृथ्वी पर परिभ्रमण करती; कारण उनके प्रताप से ही शत्रु निजित हो गए थे। राजा रूप में उन्होंने शाक्तन के उत्स होने से दुदृतों को इस प्रकार दमन कर दिया था जिसके कारण 'दास' केवल अभिवानगत शब्द होकर रह गया था अर्थात् लोगों में कोई दास था ही नहीं। जो धर्म पालन करते उनके प्रति श्रद्धाशील वे जिनवाणी को इस प्रकार हृदय में धारण करते मानो उन्होंने श्रीवत्स चिह्न हृदय में धारण कर रखा हो।

(श्लोक २०-२४)

उनकी प्रधान महिषी का नाम जया था। वे धानन्द रूप प्रेम और सौन्दर्य की प्रतिमा और कुल रूपी सरिता की हंसिनो-सी थीं। जाह्नवी जैसे पूर्व समुद्र में प्रवेश करती है वैसे ही जाह्नवी-सी धीर और मन्थरगमना जया भी वसुपूज्य के हृदय में प्रवेश कर गई थीं। अक्त के हृदय में जैसे भगवान् निवास करते हैं उसी प्रकार रात्रि के स्फटिक जैसे हृदय में राजा वसुपूज्य सतत वास करते थे। रूप-लावण्य और सौन्दर्य से परस्पर एक दूसरे को आनन्दित कर उनका समय सुख से व्यतीत होता था।

(श्लोक २५-२८)

प्राणत नामक स्वर्ग में पदमोत्तर राजा के जीव ने सुखमय जीवन व्यतीत कर आयुष्य पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को चन्द्र जब शतभिषा नक्षत्र में था, जयादेवी के गर्भ में प्रवेश किया। सुख-शरण में सोई जया देवी ने तीर्थकर के जन्म सूचक चतुर्दश महास्वर्ण देखे। गिरिकन्द्रा जैसे सिंह को, मेघावलि जैसे चन्द्र को धारण करती है वैसे ही उन्होंने उस श्रेष्ठ ऋण को धारण किया। कालगुन माह की कृष्णा चतुर्दशी को चन्द्र जब शतभिषा नक्षत्र में था उन्होंने महिष लाङ्छन रत्नवर्ण एक पुत्र को जन्म दिया।

(श्लोक २९-३३)

सिंहासन कम्पित होने से ५६ दिक् कुमारियाँ वहाँ आईं और प्रभु एवं उनकी माता के जन्मकृत्य सम्पन्न किए। पालक विमान में बैठकर इन्द्र देवों सहित वहाँ आए एवं प्रभु सहित प्रभु-गृह की परिक्रमा दी। तदुपरात् गृह-प्रवेश कर प्रभु की माता को अवस्थापिनी निद्रा में निरित कर उनके पाश्व में प्रभु का एक प्रतिरूप रखा। फिर पाँच रूप धारण कर एक रूप से प्रभु को गोद में लिया, दूसरे रूप से छत्र धारण किया, तीसरे-चौथे रूप से प्रभु के अगल-बगल चौंचर बीजने लगे और पंचम रूप में प्रभु के आगे नृत्य करते हुए चलने लगे। शक्ति प्रभु को लेकर मेह पर्वत की अतिषाण्डुकवला गए और उन्हें गोद में लेकर एक रत्न-सिंहासन पर बैठ गए। तत्पश्चात् अच्युतादि चौसठ इन्द्रों ने तीर्थों से जल मँगवाकर प्रभु को स्नान कराया। फिर मानो वे प्रभु को अपने हृदय में स्थानापन्न कर रहे हों इस प्रकार ईशानेन्द्र की गोद में स्थापित किया। भक्ति निष्पत्ति दाक्त ने चारों दिशाओं में चार स्फटिक के वृषभ निर्मित किए। अन्य इन्द्रों से भिन्न रूप में स्नान कराने के लिए उन्होंने वृषभों के शुंगों से निःसृत जल से प्रभु को स्नान कराया। तदुपरात् वृषभों का विलय कर प्रभु के शरीर को पोङ्ककर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया। फिर वस्त्रालंकारों और पुष्पों से उनकी पूजा कर इस प्रकार स्तुति करने लगे :

(श्लोक ३४-४४)

'हे भगवन्, जो कर्म चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती के चक्र द्वारा भी छिन्न नहीं हो सकता व ईशानेन्द्र के त्रिशूल और शक्ति के वज्र द्वारा या अन्य इन्द्रों के अस्त्रों द्वारा भी छिन्न नहीं होता वह कर्म तुम्हारे दर्शन मात्र से ही छिन्न हो जाता है। दुष्टों का जो ताप क्षीर-समुद्र

के जल से या चन्द्र-कीमुदी या मेघों के अविरत वर्षण से यहाँ तक कि गोशीर्ष चन्दन व सघन कदलों वृक्ष से भी शान्त नहीं होता वह तुम्हारे दर्शन मात्र से ही शान्त हो जाता है। वह व्याधि जो नानाविधि औषधियों, चूर्ण प्रलेपों से, शल्य प्रयोगों से या मन्त्र प्रयोगों से भी दूर नहीं होती वह तुम्हारे दर्शन मात्र से ही दूर हो जाती है। मैंने बहुत कुछ कहा, किन्तु जो कुछ मैं बोलना चाहता हूँ वह संक्षेप में यह है कि हे त्रिलोकनाथ, जो कुछ अन्य उपायों से सम्पन्न नहीं होता वह तुम्हारे दर्शन मात्र से ही सम्पन्न हो जाता है। मैं आपसे यही याचना करता हूँ मुझे आपके दर्शनों का सौभाग्य बार-बार मिले।' (श्लोक ४५-५२)

इस भाँति स्तुति कर शक्ति प्रभु को लेकर उनकी माता के निकट पहुँचे और प्रभु को माता के पास्त्र में सुलाकर प्रणाम किया। तीर्थकर माता की अवस्थापिनी निद्रा दूर कर तीर्थकर बिम्ब को वहाँ से हटाकर शक्ति स्व-निवास को लौट गए और अन्यान्य इन्द्र में पर्वत से ही स्व-स्थान को चले गए। (श्लोक ४३-५४)

सूर्योदय जैसे कमलदल को विकसित करता है राजा वसुपूज्य ने उसी प्रकार प्रजापुंज के हृदय को विकसित कर पुत्र का जन्मोत्सव किया। तदुपरान्त एक शुभ दिन उन्होंने व रानी जया ने त्रिलोकनाथ का नाम वासुपूज्य रखा। शक्ति द्वारा अंगुष्ठ में भरा अमृत-पान कर प्रभु बढ़ित होने लगे। अहंत् स्तनपान नहीं करते इसलिए धात्रियों का केवल अन्य कार्य ही अवशेष था। वासव द्वारा नियुक्त पाँच धात्रियों द्वारा प्रभु लालित होने लगे जो कि उनका छाया की तरह अनुसरण करती थीं। भगवान् ने देव, अमुर और राजन्यगण जो कि उनके सखा बन गए थे उनके साथ अपना शैशव अतीत किया। वे कभी रत्न खचित सुवर्ण कल्पुक से खेलते कभी हीरों जड़ी युठि से, कभी अमर की तरह धूमने वाले लट्टू से, कभी बाजी लगाकर वृक्ष पर चढ़ते, कभी दौड़ते, कभी लुका-छिपी खेलते, कभी छलांग लगाते, कभी ऊपर उछलते। कभी तैरते, कभी बाक् युद्ध करते तो कभी मुठि युद्ध, तो कभी मल्ल युद्ध। (श्लोक ५५-६२)

सत्तर धनुष दीर्घ और सर्व सुलक्षण युक्त प्रभु ने वामाओं को पराजितकारी यौवन प्राप्त किया। वसुपूज्य स्वामी ने जब सांसारिक भोग में अनिच्छा प्रकृट की तो राजा वसुपूज्य और रानी

जया बोली—

(श्लोक ६३-६४)

'पुत्र, जिस दिन तुमने जन्म ग्रहण किया उसी दिन हमारी और इस पृथ्वी के सभी की इच्छाएँ पूर्ण हो गईं। फिर भी हम तुम्हें कुछ कहेंगे। कारण अमृत पान से कोई कभी तृप्त हुआ है? मध्य देश, उत्तरदेश, गोड़, मगध, कौशल, लोषल, पश्चिमोत्तर, नेपाल, बिदेह, कर्लिंग, उत्कल, पुण्ड्र, ताम्रलिप्त, मूल, मलय, मुद्गर, मलवर्ती, ब्रह्मोत्तर और अन्य देश जो कि पूर्वाञ्चल के अलंकार तुल्य हैं, डाहल, दशार्ण, विदर्भ, अस्मक, कुन्तल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, भूरल, कठ, कैशिक, सुपरि, केरल, द्रमिल, पाण्ड्य, दण्डक, चौड़, नासिक्य, कोकण, कौवेर, वानवास, कोल्ल, सिंहल और दक्षिणाञ्चल के अन्य देश, सौराष्ट्र, त्रिवण, दशेरक, अंबुद, कच्छ, आवर्तक, ब्राह्मणवाह, घबन, सिन्धु आदि पश्चिमाञ्चल के राज्य, शक, केक्य, बोककाण, हृण, वाणायुज, पांचाल, कुलट, काश्मीरिक, कम्बोज, वालिहक, जांगल, कुरु और उत्तराञ्चल के अन्य राज्य और भरत खोन के दक्षिणार्द्ध के सीमा निर्देशक वैताढ्य पर्वत की उभय श्रेणी के निकासी भानव और विश्वाधरों के मध्य के उच्चकूल जात समर्थ दीर वैभवशाली विख्यात चतुरंगिनी सेनाओं के अधिपति प्रजापालक निष्कलंक सत्यरक्षाकारी धार्मिक वर्तमान राजन्यगण दूतों के द्वारा अपनी-अपनी कन्याएँ तुम्हें देने के लिए बहुमूल्य उपहार आदि के साथ भेजकर हमारी अनुमति चाह रहे हैं। उनकी कन्याओं के साथ तुम्हारा विवाहोत्सव देखकर हमारी और उनकी इच्छाएँ पूर्ण हों। तुम वंशान्यरम्परा से प्राप्त इस राज्य-भार को ग्रहण करो। बृद्धावस्था में अब ब्रत ग्रहण करना ही हमारे लिए समीचीन है।'

(श्लोक ६५-६२)

यह सुनकर वासुपूज्य बोले—मेरे प्रति स्नेह के कारण आपने जो कुछ कहा वह उचित ही है, किन्तु भव अरण्य में बार-बार विचरण करते-करते मैं अब भारवाही वृषभ की तरह बलान्त हो गया हूँ। संसार में ऐसा कौन देश, नगर, धार्म, खनि, पर्वत, अरण्य, नदी, नवद्वीप और समुद्र है जहाँ मैंने अन्तकाल से रूप परिवर्त्तन कर अमर्ण नहीं किया। जन्म-जन्मान्तरों के कारण रूप संसार को अब मैं छिन्न करना चाहता हूँ। पार्थिव जीवन के दोहद रूप विवाह और राज्य से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। पृथ्वी ने और आप लोगों

ने मेरे जन्म के समय जैसा उत्सव देखा था उसी प्रकार का मेरी दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष-प्राप्ति का उत्सव देखेंगे।' (श्लोक ८३-८५)

यह सुनकर वासुपूज्य गद्गद कण्ठ से बोले—'पुत्र, मैं जानता तुम संसार-समुद्र को अविक्रम करने को हड़ संकल्प हो। भव समुद्र के तट रूप तुमने इस जन्म को प्राप्त किया है—यह तो हम तीर्थकर के जन्म सूचक महास्वप्नां से ही समझ गए थे। यह सत्य है कि तुम संसार-समुद्र को पार करोगे और तुम्हारी दीक्षा, केवलज्ञान एवं मोक्ष प्राप्ति के उत्सव अनुष्ठित होंगे। फिर भी इसके मध्यवर्ती समय में हम यह उत्सव देखना चाहते हैं। मुक्ति के लिए उद्यमी हमारे पूर्वजों ने भी यह उत्सव किया है। उदाहरणस्वरूप पिता के बाप्रह से इक्षवाकु वंश के प्रतिष्ठाता भगवान् ऋषभदेव ने भी भुनव्दा, सुमंगला से विवाह किया था। पिता से आदेश से उन्होंने राज्य-भार प्रहण किया था और सांसारिक सुख भोग कर यथा समय दीक्षा प्रहण की थी। दीक्षा प्रहण कर मुक्ति को भी प्राप्त किया था। तुम जैसे के लिए तो मुक्ति भी समीप के गाँव में जाने की तरह ही सुलभ है। अजित स्वामी से लेकर श्रेयांस स्वामी पर्यन्त सभी ने पिता के आदेश से विवाह किया और पृथ्वी पर शासन भी किया। फिर अंत में मुक्ति को भी प्राप्त किया। तुम भी ऐसा ही करो। तुम भी पूर्वजों की तरह विवाह और राज्य शासन कर बाद में दीक्षा लेकर निवाण प्राप्त करो।'

कुमार वासुपूज्य बोले—'पितृबर, अपने पूर्वजों का जीवन मुझे जात है; किन्तु संसार में दो व्यक्तियों का जीवन एक प्रकार का नहीं होता है चाहे वह एक ही परिवार का हो या भिन्न परिवार का। उनका भोग फलदाय कर्म अवशेष था अतः उन्होंने तीन ज्ञान के धारक होते हुए भी भोग के द्वारा उन कर्मों को क्षय किया; किन्तु भोगफलदायी मेरे कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं है। इसीलिए मुक्ति के बाधक विवाह का आदेश मुझे नहीं दें। आवी तीर्थकरों के मध्य भी मल्ली, नेमि और पाश्व ये तीन तीर्थकर होंगे जो कि विवाह और राज्य-शासन न कर मुक्ति के लिए दीक्षा लेंगे। शेष तीर्थकर महाद्वीर सामान्य भोग कर्म के लिए विवाह कर दीक्षा प्रहण करेंगे, राज्य शासन नहीं करेंगे। कर्म भिन्नता के कारण तीर्थकरों का पथ भी एक जैसा नहीं होता। ऐसा सोचकर आप मुझे आदेश दें। स्तेह

के वशीभूत होकर भीरु न बनें।'

(श्लोक ९९-१०५)

इस भाँति माता-पिता को समझाकर १८ लाख वर्षों के पश्चात् वे दीक्षा ग्रहण को उत्सुक हुए। सिहासन कमिपत होने से तीर्थकर का दीक्षाकाल समुपस्थित जानकर ब्रह्मलोक से लोकान्तिक देव आए और त्रिलोकनाथ को तीन बार प्रदक्षिणा देकर बोले, हे भगवन्, तीर्थ प्रवर्तन करें? ऐसा कहकर वे ब्रह्मलोक लोट गए। कल्याणकारी प्रभु ने एक वर्ष तक वर्षीदान दिया। वर्षीकाल शेष होने पर जैसे लोग इन्द्रोत्सव करते हैं उसी प्रकार वर्षीदान शेष होने पर इन्द्रों ने आकर प्रभु का दीक्षा महोत्सव सम्पन्न किया।

(श्लोक १०६-११४)

तदुपरान्त देव असुर और मानव मिमित सिहासन शोभित पृथ्वी नामक शिविका पर उन्होंने आरोहण किया। राजहंस जिस प्रकार स्वर्ण-कमल पर आकर बैठ जाता है वैसे ही वे पाद-पीठ पर पाँव रखकर सिहासन पर बैठ गए। इन्द्रों में किसी ने उनके सम्मुख स्व-अस्ति आसक्तालित किया, किसी ने दिव्य छबि धारण किया, किसी ने बैंधर बोजन किया, किसी ने पख्ता संचालित किया। कोई गुणगान करने लगा, कोई माल्य धारण करने लगा। इस भाँति देव असुर और मानवों से परिवृत्त होकर वे विहारगृह नामक श्रेष्ठ उद्यान में पहुंचे।

(श्लोक १११-११५)

आम्र मंजरी के मकरन्द का पान कर कोकिल मन्द स्वर में कुहरव कर रहे थे मानो भक्तिपूर्त हृदय हो उनका गुणगान कर रहे हों, पबन के आन्दोलन से अशोक वृक्ष पुष्प गिराकर जैसे उन्हें उपहार दिया, हिलते हुए चम्पक और अशोक के मधु झरने से ऐसा लगा मानो वे पाद-पूजा के लिए अर्ध दान कर रहे हों। लावलि पुष्पों का मधुपान कर उन्मत्त भ्रमरण गुनगुन कर मानो उनका गुणगान करने लगा। पुष्पभार से अवनत बना कणिकार वृक्ष मानो उन्हें बन्दना कर रहे हों। पुष्पालंकारों से मञ्जित बासन्ती वृक्ष हाथ को तरह नवीन गाखा उद्गत कर मानो उनके सम्मुख जैसे आनन्द से नृत्य करने लगा। ऐसे द्वितीय दसन्त की तरह लता गुलम और वृक्षों को नवीन शोभा प्रदान करते हुए प्रभु ने उस उद्यान में प्रवेश किया।

(श्लोक ११६-१२२)

तदुपरान्त शिविका से उतकर उन्होंने माल्य अलंकार आदि

उसी प्रकार खोल दिए जैसे फालगुन में वृक्ष अपने पत्रों को शार देते हैं। इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य कंशे पर धारण कर एक दिन के उपवासी प्रभु ने फालगुन मास की अमावस्या तिथि के अपराह्ण में चन्द्र जद वरुणा नक्षत्र में अवस्थित था। तब छह सौ राजाओं सहित पञ्चमुष्ठि केश उत्पाटन कर दीक्षा ग्रहण कर लो। देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र त्रिलोकनाथ को प्रणाम कर दान के अन्त में प्रार्थी जैसे घर लौट जाता है उसी प्रकार स्व-स्व आवास को लौट गए।

(श्लोक १२३-१२६)

दूसरे दिन महापुर के राजा सुनन्द के घर कीराम ग्रहण कर उपवास का पारणा किया। रत्नवर्षी आदि पञ्च दिव्य देवों ने प्रकट किए और त्रिलोकनाथ के चरण-चिह्नों पर राजा सुनन्द ने रत्नवेदी का निर्माण करवाया। तदुपरान्त प्रभु वहाँ से बायु की भाँति ग्राम, खान नगर आदि में विचरण करने लगे। (श्लोक १२७-१२९)

पृथ्वीपुर नामक नगर में राजाओं के मुकुटमणि रूप पवनवेग नामक एक राजा थे। दीदींकाल तक राज्य करने के पश्चात् ठीक समय श्रमण सिंह मुनि से उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर कठिन तपस्या की और मृत्यु के पश्चात् अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। (श्लोक १३०-१३१)

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में विन्ध्यपुर नामक समस्त वैभवों की आकर एक नगरी थी। वहाँ नरशार्दूल और विन्ध्य पर्वत की तरह शक्तिशाली विन्ध्यशक्ति नामक एक राजा राज्य करते थे। शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करने में वे रुई के लिए हवा की तरह थे। राजा लोग कूर ग्रह की तरह उनके कोदण्ड और भुजदण्ड के भय से कम्पित रहते थे। उनकी भ्रू भंगी और कूर हृष्टमान से ही शबु भाग छूटते जिससे लगता जैसे उन्होंने उन सबको उदरसात् कर डाला हो। स्व-जीवन की रक्षा के लिए वे शत्रुओं से पूजे भी जाते थे। वे उन्हें कर देते थे। अपने जीवन की रक्षा अर्थदान से भी कर लेना उचित है। (श्लोक १३२-१३६)

एक दिन वे सौधर्म सभा के इन्द्र की तरह अपनी राज-सभा में पात्र, मित्र, अमात्य आदि से परिवृत होकर बैठे थे। उसी समय एक गुप्तचर आया। द्वार-रक्षक उसे भीतर ले आया। वह राजा को प्रणाम कर आसन पर बैठकर धीरे-धीरे कहने लगा—

(श्लोक १३७-१३८)

‘महाराज, आप तो जानते ही हैं—भरतक्षेत्र के दक्षिणांद्र में श्री की निवास रूपा साकेत नामक एक नगरी है। वहाँ के राजा का नाम है पर्वत। वे दीर्घबाहु और भरत के सेनापति की तरह संन्यवाहिनी के अधिकर्ता हैं। उनके गुणमंजरी नामक एक गणिका है। रूप में वह रतिष्ठिति के वैभवतृत्य है एवं उर्बशी और रम्भा का भी तिरस्कार करने वाली है। मुझे लगता है उसके मुखचन्द्र के निर्माण के पश्चात् जो परमाणु अवशिष्ट रहे उन्हीं परमाणुओं से विद्याता ने पूर्णचन्द्र का निर्माण किया है। उनके आकर्ण विस्तृत नेत्र मानो पूछ रहे हैं मुझसे अधिक सौन्दर्य की बात क्या तुम लोगों ने कहीं सुनी है? उसके वक्षस्थल के स्तन-कुम्भ इतने पूर्ण हैं कि वह अनन्य है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे उसकी तुलना की जा सके। उसका कटिदेश इतना क्षीण है कि मानो एक साथ रहने के कारण सखा भाव से उसने अपनी विस्तृति वक्ष देश को दे डाली है। उसके हस्त और पदतल कमल की तरह कोमल हैं और उसके रक्तवर्ण अशोक पल्लव को भी क्षिण करता है। गाने में वह कोकिल कण्ठी है, नूत्य में स्वयं उर्बशी और वीणा-वादन में मानो तुम्बर की सहोदरा है। महाराज, वह स्त्री-रत्न तो एक मात्र आपके ही योग्य है। स्वर्ण और रत्न की तरह आप दोनों का मिलन हो। लवणहीन खाद्य की तरह, चक्षुहीन मुख की तरह, चन्द्रमाहीन रात्रि की तरह गुणसुन्दरी हीन इस राज्य से आपको प्रयोगन ही क्या है?’

(इलोक १३९-१४९)

उसकी बात सुनकर उन्होंने गुणमंजरी की याचनाकर राजा पर्वत के पास एक मन्त्री को दूत रूप में भेजा। मन्त्री मानो आकाश में उड़ रहा है ऐसे अश्वतरी युक्त यान से शीघ्र साकेतपुर पहुंचा और राजा पर्वत से बोला—

(इलोक १५०-१५१)

‘राजा विन्ध्यशक्ति आप-से हैं और आप विन्ध्यशक्ति-से हैं। आपका सब्द महासमुद्र-सा है। दो शरीर होते हुए भी आप एक आत्मा हैं। जो कुछ आपका है वह उनका है, जो उनका है वह आपका है। आपकी गुणमंजरी नामक गणिका की ख्याति उनके कानों तक पहुंची है। कौतुहल से प्रेरित होकर उन्होंने आपको आदेश दिया है कि आप उसे उनके पास भेज दें। आप जैसे बल-शाली और सहोदर तुल्य महाराज विन्ध्यशक्ति को आप गुणमंजरी

प्रदान करें। गणिकाओं के आदान-प्रदान में कोई बुराई नहीं।'

(श्लोक १५२-१५५)

मन्त्री की यह बात सुनकर लगुड़ाइत सर्प की तरह राजा पर्वत कुछ हो उठा। कोष्ठ से उसके ओष्ठ कांपने लगे। वह बोला :

(श्लोक १५६)

'तुम क्यों, मेरी प्राणों से भी प्रिय गुणमञ्जरी को लेना चाहता है उस निष्ठुर विन्ध्यशक्ति को मेरा भाई कह रहे हो? जिसे छोड़ कर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता उसे वह लेना चाहकर मेरा जीवन ही लेना चाह रहा है। गुणमञ्जरी की बात तो दूर मैं उसे एक क्रीतदासी भी नहीं दूँगा। वह अपनी शक्ति को समझ कर चाहे मेरा मित्र रहे या शत्रु बने। उठो, जाबो, जो यथार्थ है वह तुम्हारे स्वामी से जाकर कहो। कारण, राजाओं के दूत यथार्थ ही बोलते हैं।'

(श्लोक १५७-१६०)

मन्त्री उठा, इधर-उधर देखा और अपने यान पर चढ़ गया। शीघ्र ही वह विन्ध्यशक्ति के पास पहुंचा और जो कुछ घटित हुआ विस्तृत रूप में कह सुनाया। सब कुछ सुनकर विन्ध्यशक्ति हवि: निक्षेप से अग्नि की तरह कोष्ठ से प्रज्वलित हो उठा। पर्वत की भाँति मानो विन्ध्यशक्ति दीर्घकाल का बन्धुत्व भंग कर समुद्र जिस प्रकार अपनी तटभूमि पर आता है उसी प्रकार वह राजा पर्वत के राज्य में पहुंचा। पर्वत भी यान और सेन्यदल लेकर उसके सम्मुखीन हुआ। बीरों का मिलन शत्रुता के कारण होने पर भी मित्र की तरह ही होता है। बहुत दिनों के पश्चात् हाथ की खाज मिटाने की ओषधि-सा युद्ध दोनों दलों की अग्रगामी सेना में प्रारम्भ हो गया। क्रीडांगण में युद्धरत हस्तियों की तरह वे कभी आगे आते कभी पीछे हटते। सूत्र में पोए रत्नों की तरह वरछीविह संतिक 'हुम' कहकर बिना गिरे शत्रु के आगे बढ़ गए। श्रेष्ठ धनुधर्मियों द्वारा अनवरत वाण-वर्षी से युद्धक्षेत्र शरवन-सा लगाने लगा। लौह मुद्गर, गदा, तोमर जो कि सर्प की तरह शत्रु का जीवन ले रहा था उनके उत्पत्तन से आकाश आवृत्त हो गया। दोनों पक्षों में चन्द्र-कीमुदी की तरह कभी इस पक्ष की तो कभी उस पक्ष की सामयिक जय से वह बराबर हो गई।

(श्लोक १६१-१७०)

तब पर्वत अपने धनुष पर टङ्कार करता हुआ रथ पर चढ़कर

अनुचरों सहित युद्ध क्षेत्र में उपस्थित हुआ। उसने वाण-वर्षण से शत्रु-सैन्य को एवं सेना के पैरों से उड़ी धूल से आकाश को ढक दिया। मुहूर्त भर में वह सिंह जैसे हस्ती समूह में प्रवेश कर उनकी हत्या करता है। उसी प्रकार शत्रु सैन्य में प्रवेश कर उन्हें यम के मुख में भेजने लगा। अप्रतिहत वह विन्ध्यशक्ति की सेना को बायु जिस प्रकार वृक्षों को उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार उखाड़ने लगा। अपनी सेना को छवंस होते देख दीर्घबाहु विन्ध्यशक्ति अपने शत्रु-सैन्य को ध्वंस करने के लिए प्रलयकाल की रात्रि के सहोदर यम की तरह उठ खड़ा हुआ। सर्व जिस प्रकार गृहड़ के आक्रमण को प्रतिहत नहीं कर सकता, हरिण सिंह का उसी प्रकार राजा पर्वत विन्ध्य-शक्ति के उस आक्रमण को प्रतिहत नहीं कर सका।

(श्लोक १७१-१८०)

अपनी सेना को लिङ्ग-भिन्न होते देख पर्वत युद्ध करने के लिए जैसे हो आगे आया तो अपने को दण्ड और भुजदण्ड पर अभिमानी विन्ध्यशक्ति ने उस पर आक्रमण किया। परस्पर युद्ध करने के अभिलाषी वे दोनों राजा लौहतीर, तटुल (सूक्ष्मतीर), यम के दन्त से अद्वै चंद्रतीरों का प्रयोग करने लगे। वे दोनों अपने-अपने विपक्षियों के रथ, अश्व और सारथियों को निहत करने लगे मानो वे अपनी पराजय का कृण चुका रहे हीं। तटुपरान्त अन्य रथ पर चढ़कर पृथ्वी के प्रत्यन्त पर दोनों पर्वत-सा पर्वत और विन्ध्यशक्ति एक दूसरे के सम्मुखीन हुए। अन्ततः राजा विन्ध्यशक्ति ने अपनी समस्त शक्ति लगाकर पर्वत को विषहीन सर्व की तरह अस्वहीन व शक्ति-हीन कर दिया। विन्ध्यशक्ति से पराजित वृहद हस्ती द्वारा पराजित छोटे हस्ती की तरह बगैर पीछे देखे पर्वत भाग छूटा। तब विन्ध्य-शक्ति ने गणिका गुणमञ्जरी सहित पर्वत का राज्य, वैभव, हस्ती आदि ग्रहण कर लिया। कारण, वैभव उसी का होता है जो शक्ति-शाली होता है। अपना कार्य समाप्त कर विन्ध्यशक्ति युद्ध रूपी महासमुद्र से जलपूर्ण मेध की तरह विन्ध्यपुर में लौट गया।

(श्लोक १८१-१८४)

शिकार पर टूट पड़ने के पश्चात् भी शिकार को प्राप्त न कर सकने वाले बाघ की तरह, वृक्ष-शाला से पतित बन्दर की तरह, युद्ध में पराजित पर्वत ने लज्जित होकर आचार्य सम्भव से श्रमण

दीक्षा ग्रहण कर ली। उसने दीर्घ तपश्चर्या कर यह निदान किया कि अगले जन्म में मैं विन्ध्यशक्ति को पराजित करने वाला बनूँ। रत्न के विनिमय में तुषक्य की भौति इस निदान ने उनकी समस्त तपश्चर्या को धिप्त कर दिया। वे अवश्य द्वारा देह-व्यापक अंगत नामक स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए। (इलोक १८५-१८८)

विन्ध्यशक्ति ने दीर्घ दिनों तक संसार अरण्य में अमण कर एक जन्म में जैन धर्म अज्ञीकार किया व मृत्यु के उपरान्त कल्पोत्पन्न देव रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवकर वे विजयपुर के राजा श्रीधर और रानी श्रीमती के तारक नामक पुत्र रूप में जन्मे। वे सत्तर बनुष दीर्घ काजल से कृष्णवर्णीय और अमित बल के अधिकारी हुए। उनका आयुष्य बहुत लाख वर्ष था। पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने चक्र प्राप्त हुआ। कलतः उन्होंने अर्द्ध भरत जय किया। कारण, प्रतिवासुदेव अर्द्ध भरत के अधिकारी होते हैं।

(इलोक १८९-१९२)

सीराष्ट्र की मुख-मण्डन रूप द्वारिका नामक एक नगरी थी जिसके प्राकार मूल को पश्चिम समुद्र सदैव धौत करता। वहाँ के राजा ब्रह्मा थे। उनकी शक्ति अक्षीण थी। उन्होंने इन्द्र के प्रतिस्पर्धी के रूप में सभी को अवदमित किया था। सुभद्रा और उमा नामक उनकी दो पत्नियाँ थीं। लबण-समुद्र की जिस प्रकार गङ्गा और सिन्धु दो प्रधान नदियाँ हैं उसी प्रकार उनके अन्तःपुर में सुभद्रा और उमा दो प्रधान थीं। मन्मथ जिस प्रकार रति और प्रीति के साथ रमण करते हैं उसी प्रकार वे उन दोनों रानियों के साथ रमण करते थे। (इलोक १९३-१९६)

पवनवेग का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर रानी सुभद्रा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। सुख-शर्यः पर सोई रानी सुभद्रा ने बलराम के जन्मसूचक चार महास्वप्न देखे। गङ्गा जिस प्रकार श्वेत कमल को, पूर्व दिशा जिस प्रकार चन्द्रमा को जन्म देती हैं उसी प्रकार उन्होंने यथासमय स्फटिक-से स्वच्छ एक पुत्र को जन्म दिया। राजा ब्रह्मा ने बन्दियों को मुक्त करता आदि कार्य कर पृथ्वी को अनन्दित किया और पुत्र का नाम रखा विजय। विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त पांच धात्रियों द्वारा लालित होकर वे अपने देह-सौन्दर्य के साथ क्रमशः बड़े होने लगे। खेलने के साथ हिलते हुए कण्ठभूषणों

से, आन्दोलित रत्न-हारी से, स्वर्ण-छुरिका सह स्वर्ण-मेखला से, घण्टिका युक्त स्वर्ण-नपुरों से और कुचिल्ह केशराम से जै दिसके आनन्द को बद्धित करने में समर्थ नहीं थे ? (श्लोक १९७-२०३)

राजा पर्वत का जीव जब प्राणत नामक स्वर्ण से च्युत हुआ तब हँस जैसे सरोबर में अवतरित होता है उसी प्रकार वे रातों उमा के गर्भ में अवतरित हुए । वे जब सुख-शश्या पर सोयी हुई थीं उन्होंने वासुदेव के जन्म-सूचक सात महास्वर्णों को अपने मुख में प्रवेश करते देखा । नौ मास साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर वर्षा कहतु जैसे मेघ को जन्म देती है उसी प्रकार रानी उषा ने कृष्णवर्ण एक पुत्र को जन्म दिया । पुत्र-जन्म के आनन्द से मानो ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ हो ऐसे राजा ब्रह्मा ने धनदान देकर प्रार्थियों को आनंदित किया । जिस दिन श्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा शुभ लम्फ में अवस्थित था उस दिन उत्सव सहित उन्होंने पुत्र का नाम रखा द्विपृष्ठ । (श्लोक २०४-२०५)

विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त पाँच धात्रियाँ उसी प्रकार उनका लालन-पालन करने लगीं जिस प्रकार प्रांगण में लगी अशोक वक्ष की सेवा आश्रम-कन्याएँ करती हैं । गिरगिट की तरह प्राणवान द्विपृष्ठ जब दीड़ते-उछलते, इच्छानुसार विचरण करते तब धात्रियाँ उन्हें पकड़ नहीं पातीं । पिता-माता और अग्रज के सम्मुख इसी प्रकार द्वितीय वासुदेव बड़े होने लगे । बलराम विजय स्नेह के वशवर्ती बने छठी धात्री की तरह उन्हें कभी कमर पर, कभी छाती पर, कभी भले पर, कभी पीठ पर बैठाकर बाहर ले जाते । स्नेह के वशीभूत हुए द्विपृष्ठ भी विजय का अनुकरण कर खड़े होते, चलते, बैठते, खाते और सोते । पिता के आदेश से अलंघ्य वासुदेव और बलराम ने यथासमय उपयुक्त शिक्षकों से समस्त विद्या अधिगत कर ली । दोनों भाई जिनमें एक गौरवर्ण और दूसरा कृष्ण वर्ण का था अतल क्षीर समुद्र और लवण समुद्र-से प्रतिभासित होते थे । गाढ़ा नीला और पीत वस्त्र पहनने वाले तालध्वज और गरुड़ध्वज राजा तारक के आदेश की अवहेलना करने लगे । (श्लोक २०६-२१६)

एक गुप्तचर ने उनकी अपराजियता, बल और उनके द्वारा किया गया तारक के आदेश का विरोध और अवहेलना देखी । उसने तारक से जाकर कहा—‘महाराज, द्वारिकाधिपति के दोनों

पुरुष का अहङ्कारी है। वे मिलित वायु और अग्नि की तरह आपका आदेश नहीं मानते हैं। उनमें शस्त्र-ज्ञान और विद्या एक साथ अवस्थित है। उनका वाहुबल अलङ्कार तुल्य है। आपकी तुलना में उनकी शक्ति का बड़ना उचित नहीं है। महाराज, मैं तो मात्र गुप्तचर हूं, जो कुछ करणीय है वह आप करें।' (श्लोक २१७-२२०)

यह सुनकर तारक शुद्ध हो उठा। उसके नेत्रों के तारे घूमने लगे। उसने अपने अनन्य शक्तिशाली सेनापति को आदेश दिया— 'पूर्ण ध्यान से युद्ध की तैयारी करो और आज ही युद्ध प्रयाण की भेरी बजवाओ एवं सामन्तों को सूचना दो। तुम जाकर दुष्ट राजा ब्रह्मा की पुत्रों सहित हत्या कर दो। दुष्ट धत की तरह शत्रु की उपेक्षा करने पर वह विषोत्पादक हो जाता है।' (श्लोक २२१-२२२)

राजा की यह आशा सुनकर मंत्री बोले—'महाराज भलीभाँति पहले सोच विचार करें। राजा ब्रह्मा आपका सामन्त और अनुगत है। बिना कारण उस पर आक्रमण करना उचित नहीं है। इससे अन्य सामन्त राजाओं के मन में भी अविश्वास उत्पन्न हो जाएगा। जिनके मन में अविश्वास उत्पन्न हो जाता है वे विश्वास नहीं रख सकते। फिर बिना विश्वास के वे आपकी आज्ञा का पालन कैसे करेंगे? इस प्रकार आपका प्रभुत्व ही कहाँ रह पाएगा? अतः उन पर कोई आरोप लगाना होगा। पुत्रों के अहङ्कार से अहङ्कारी राजा पर आरोप लगाना खूब सहज है। आप उसके यहाँ दूत भेज कर दण्ड स्वरूप उसके प्राणों से प्रिय श्रेष्ठ हस्ती, अश्व और रत्नादि की मांग करें। यदि वह नहीं दे तो इस बहाने उसकी हत्या की जा सकती है। अपराधी को मजा देने में लोग आपकी निन्दा नहीं नहीं करेंगे। यदि आप जो कुछ चाहते हैं वे सब वह दे दें तब दूसरा बहाना खोजना होगा। किसी भी कारण से कोई भी व्यक्ति अपराधी हो सकता है।'

(श्लोक २२३-२३०)

मन्त्री का कथन युक्तियुक्त होने के कारण राजा ने उसे स्वीकार कर लिया और तत्काल गुप्त आदेश देकर गुप्तचर को द्वारिका भेजा। दूत शीघ्र द्वारिका पहुंचा और राजा ब्रह्मा, छिपृष्ठ और विजय सहित जहाँ बैठे थे वहाँ उपस्थित हुआ। ब्रह्मा ने दूत को आदर सहित अपने पास बैठाया और बहुत देर तक उससे

वात्तीलाप किया। साथ ही उसके आने का कारण पूछा।

(श्लोक २३१-२३३)

तब दूत बोला—‘महाराज, मेरे प्रभु शत्रु के गर्व को खर्ब करने वाले महाराज तारक ने आपको यह आदेश दिया है कि आपके राज्य में जो थ्रेष्ट हस्ती, अश्व व रत्नादि हैं उन सभी को राजा को प्रदान कर दें। कारण, भरत क्षेत्र के दक्षिण भाग में जितने भी थ्रेष्ट द्रव्य हैं उन पर अर्द्ध भरत के अधीश्वर तारक का अधिकार है, अन्य किसी का नहीं।’

(श्लोक २३४-२३६)

यह सुनकर उल्लू द्वारा क्रोधित सिंह की तरह मानो वे दूत को दरध कर देंगे ऐसी हजिट से देखते हुए द्विपृष्ठ बोले—‘न वे हमारे वंश के ज्येष्ठ पुरुष हैं, न रक्षक, न अधीश्वर। हम जब अपना राज्य शासन कर रहे हैं तब हमारे अधीश्वर कौसे हुए? वे तो मात्र बाहुबल के कारण हमसे हस्ती, अश्व और रत्न चाह रहे हैं तो हम भी बाहुबल के कारण हस्ती, अश्व और रत्न मांग रहे हैं। दूत, तुरन्त जाओ और उन्हें जाकर कहो कि हम उसका मस्तक सह हस्ती, अश्व और रत्नादि लेने उनके सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं।’

(श्लोक २३७-२४०)

द्विपृष्ठ के ऐसे गर्व भरे और हठकारी वाक्यों से क्षुब्ध होकर दूत तत्काल वहाँ से प्रस्थान कर तारक के निकट पहुँचा और सारी घटना उसे निवेदित की। मद झरते हस्ती पर जिस प्रकार अन्य मद झरने वाला हस्ती क्रोधित होता है उसी प्रकार वासुदेव के कथन से कुद्ध होकर तारक ने तुरन्त युद्धभेरी बजवा दी। युद्धभेरी सुनते ही सैन्य, सामन्त, मन्त्री, सेनापति, राजन्य और रथीगण दीर्घकाल के पश्चात् प्राप्त यम के सहोदर तुल्य युद्ध के लिए जिनके हाथ खुजला रहे थे राजा के सम्मुख उपस्थित हुए। जब तारक ने युद्ध-यात्रा प्रारम्भ की तो भूमिकम्प, वज्रपात, कीवे की काँ काँ छवनि की तरह अशुभ चिह्न प्रकट हुए। कुद्ध अर्द्धचक्री में बिना इसकी परवाह किए, बिना विश्राम लिए शीघ्र ही पथ अतिक्रमण किया।

(श्लोक २४१-२४६)

इधर ब्रह्मा और विजय महित द्विपृष्ठ सैन्यवाहिनी लिए आक्रमण करने को सिंह की तरह गरजते उनके सम्मुख आए। युद्धोन्माद के कारण देह फूल उठने से उनके कबच छिन्न हो जाने

पर भी उभय पक्ष के सैनिकों ने किसी प्रकार अस्त्र धारण किए। मृत्यु का आहार प्रस्तुत करने वाली पाकशाला की तरह महाहत्या के कारण रूप दोनों ने परस्पर आक्रमण किए। दोनों पक्षों के लक्ष-लक्ष छत्रधारी निहत हुए। सैनिकों की संख्या तो देनी ही असम्भव थी। युद्ध क्षेत्र रक्त रूप जल और छत्र रूप कमल से यम की तरह क्रीड़ावापी में परिणत हो गया था। (स्लोक २४७-२५१)

तब द्विपृष्ठ ने जैत्र नामक रथ पर चढ़कर पाञ्चजन्य शहू बजाया जिसकी छवि युद्ध-विजय के मन्त्रोच्चार-सी थी। सिंह के गर्जन से जैसे हरिण काँप जाता है, वज्रपात शब्द से हँस, वैसे ही तीव्र शहू छवि सुनकर तारक की सेना काँप गई। अपनी सेना को व्रस्त होते देखकर उन्हें लम्जित और पीछे अवस्थान करने की कहकर तारक स्वयं रथ पर आरोहण कर द्विपृष्ठ के सम्मुख आया। हलधर बलराम सहित वासुदेव ने इन्द्र जैसे अपना शजुरोहित धनुष कम्पित करते ही उसी प्रकार सारंग धनुष को कम्पायमान किया। तारक भी स्व-धनुष को कम्पित कर तूणीर से तीर निकाल कर यम से हँड हस्त-से उस तीर को प्रत्यंचा पर चढ़ाया। तारक ने तीर निक्षेप किया; किन्तु वासुदेव ने मध्य पथ पर ही उसे काट दिया। इस प्रकार तीर निक्षेप और तीर काट देना यही युद्ध दोनों में बहुत देर तक चला। गदा, मुद्गर, शूल जैसे जो भी अस्त्र तारक निक्षेप करता वासुदेव उसके विपरीत अस्त्र से उसे विनष्ट कर देते। (स्लोक २५२-२५८)

तब तारक ने युद्ध रूपी समुद्र के क्रूर मकरतुल्य चक्र को धारण किया। क्रोध और आश्चर्य से स्फुरित ओष्ठों से वह द्विपृष्ठ से बोला—‘यद्यपि तू दुराचारी है फिर भी तुझ पर दया कर मैं तुझे मारूँगा नहीं कारण तू मेरा आज्ञाकारी सामन्त का पुत्र है और बालक है।’ (स्लोक २५९-२६०)

विजय के अनुज द्विपृष्ठ ने भी हँसते हुए उत्तर दिया—‘मुझ वासुदेव पर करुणा करते तुझे लज्जा नहीं आती। यद्यपि तू मेरा शहू है फिर भी मैं तुझे क्षमा करता हूँ। यदि तुम चक्र पर निर्भर हो तो चक्र चलाओ और अपना कार्य शेष कर तुम निर्विघ्न जले जाओ। जो बाह्यक्य के कारण मृत्यु के सम्मिकट है उसे कौन मारेगा।’ (स्लोक २६१-२६३)

तिल निष्ठेप करने से जैसे अग्नि प्रज्ज्वलित होती है उसी प्रकार द्विपृष्ठ के इस वाक्य से कुद्द होकर तारक चक्र को अपने मस्तुक पर घुमाने लगा। कुछ क्षण आकाश में घुमाकर उस प्रलय-कारी मेघ की तरह विद्युत उद्गीर्णकारी चक्र को द्विपृष्ठ पर निष्ठेप किया। उस चक्र ने जो कि कौस्तुभ का ही मानो भिन्न रूप हो इस प्रकार नाभि प्रान्त से हरि के वक्ष देश पर आघात किया। उस आघात से मूर्छित होकर द्विपृष्ठ रथ में गिर पड़े। यह देखकर विजय अपने बस्त्र प्रान्त से उभ्यें हवा करने लगे। कुछ देर में ही संज्ञा लौट आने पर, उस भन्नी की तरह जिसके साथ थोड़ी देर पहले ही विवाद हुआ था; किन्तु वह पुनः लौट आया हो उस प्रकार उस रथ को धारणा किया और तारक से इन्हें—‘थह चक्र ही तुम्हारा आधार था। इसकी शक्ति तो तुमने देख ही ली है अतः अब अपने प्राण बचाओ और युद्ध थोक का परित्याग करो। जीवित रहने पर बहुत कुछ देखोगे।’

(श्लोक २६४-२६९)

तारक बोला—‘मैंने चक्र फेंका था। कुक्कुर जैसे निष्ठिष्ट ढेले को उठा लेता है उसी प्रकार चक्र को उठा कर तुम और क्या कर सकते हो? करो, मुझ पर चक्र निष्ठेप करो। मैं उसे पकड़ कर या हाथों के आघात से ही मिट्टी के ढेले की तरह चूर-चूर कर दूँगा।’

(श्लोक २७०-२७१)

षूर्णायमान सूर्य की तरह वासुदेव ने उस चक्र को घुमाकर खेचरों को भयाकान्त करते हुए प्रतिवासुदेव पर छोड़ दिया। पश्चनाल की तरह वह चक्र तारक का सिरच्छेद कर पुनः वासुदेव के हाथ में लौट आया। द्विपृष्ठ पर आकाश से पुष्पवर्षा हुई और तारक पर बरसा उसके अन्तःपुर की रमणियों का अश्रुजल। जितने भी राजा लोग तारक के पक्ष में थे अब अश्विक शक्तिशाली के सम्मुख न त होकर द्विपृष्ठ से अपना बचाव किया। शक्तिशाली से ऐसा करना ही लाभजनक है।

(श्लोक २७२-२७५)

विराट् सैन्यवाहिनी से परिवृत्त होकर द्विपृष्ठ ने केवल युद्ध-यात्रा करके ही सभ्य दक्षिण भरतार्द्ध को जय कर लिया। उन्होंने एक सामन्त की तरह सहज ही मगध, वरदाम और प्रभासपति को जीत लिया। युद्ध जय कर वे मगध गए जहाँ एक बृहद् प्रस्तर शिला जिसे कि एक कोटि मानव उठा सकते थे शक्तिशाली द्विपृष्ठ

ने उसी शिला को हस्ती जैसे पश्चात्तल को उठाता है उसी प्रकार सहज ही बाएँ हाथ से अपने ललाट तक उठा लिया । तदुपरान्त उसे यथा स्थान रखकर महाशक्तिशाली द्विपृष्ठ द्वारिका को लौट गए । राजा ब्रह्मा और विजय ने उन्हें सिंहासन पर बैठाया । सभी राजत्य वर्ग ने अद्वैचकी के राज्यारोहण के उत्सव को मनाया ।

(श्लोक २७६-२८१)

उधर एक मास पर्यन्त छद्मावस्था में विचरण कर त्रिलोक-पति वासुपूज्य जहाँ उनका धीक्षा महोत्सव अनुष्ठित हुआ था उसी विहारगृह उद्यान में लौट आए । वहाँ जब वे पाटल वृक्ष के नीचे ध्यान में अवस्थित थे तब सूर्योदय जैसे अन्धकार को दूर करता है उसी प्रकार द्वितीय शुक्ल ध्यान के समय घाती कर्म क्षय हो जाने से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । माघ मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीय तिथि को चन्द्र ज्वर शतक्षिणि नक्षत्र में अवस्थित था तब एक दिन के उपवासी प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । (श्लोक २८२-२८४)

प्रभु ने देव निमित समवसरण में बैठकर सूक्ष्म बादि छियासठ गणधरों के सामने वेशना दी । (श्लोक २८५)

उसी समवसरण में उनके शासन देव श्वेतवर्ण हंसवाहन कुमार नामक यक्ष उत्पन्न हुए जिनके दोनों दाहिने हाथों में कमत्रा: विजोरा नींबू और तीर था एवं दोनों बाएँ हाथों में नेवला और धनुष था । इस प्रकार कृष्णवर्ण अश्ववाहन चन्द्रा नामक यक्षिणी उनकी शासन देवी के रूप में उत्पन्न हुई जिनके दोनों दाहिने हाथों में से एक बरद मुद्रा में और दूसरे में दर्शा था । बाएँ हाथों के एक में फूल और दूसरे हाथ में धनुष था । वे सर्वदा भगवान् के पास-पास ही रहते थे । (श्लोक २८६-२८९)

उनके साथ पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए भगवान् वासुपूज्य एक दिन द्वारिका के सन्निकट पहुंचे । उस समय इन्द्र और देवों ने अशोक वृक्ष सहित वहाँ समवसरण की रचना की । वह अशोक वृक्ष प४० धनुष ऊँचा था । भगवान् उस अशोक वृक्ष की परिक्रमा देकर तीर्थ को नमस्कार कर पूर्णभिमुखी रखे हुए सिंहासन पर जाकर बैठ गए । उनकी शक्ति से देवों ने अन्य तीन और उनके प्रतिबिम्ब की रचना कर उन्हें स्थापित किया जो कि उनके जैसे ही लग रहे थे । चतुर्थिंघ संघ भी उस समवसरण में यथा स्थान जाकर बैठ गए ।

मध्य प्राकार के मध्य पशु और बाहरी प्राकार के मध्य वाहन रखे गए।

(स्लोक २९०-२९४)

राजा के अनुचरों ने यह संवाद आनन्द-विस्फारित तेवरों से छिपृष्ठ को जाकर बताया था। समवसरण में रामु जाए हैं। चारुदेव ने उसे साढ़े बारह कोटि रौप्य दान किया और विजय सहित प्रभु के समवसरण में गए। उन्हें प्रदक्षिणा देकर एवं वन्दना कर बलराम सहित वे इन्द्र के पीछे जा बैठे। त्रिलोकपति को पुनः वन्दना कर इन्द्र, छिपृष्ठ और विजय ने निम्नलिखित स्तुति की :

(स्लोक २९५-२९८)

‘एक ओर जैसे दुदिन की भर्यकर आबोहवा है दूसरी ओर जैसे ही समुद्र-तरंगों की तरह नवीन-नवीन आशाओं का मोहजाल है। एक ओर समुद्र-दानव की तरह मीन केतन है दूसरी ओर प्रतिकूल हवा की भाँति दुर्दम इन्द्रिय विषय है। एक ओर काम क्रोधादि रूप घृणित आवर्त्त है दूसरी ओर द्वेषादिरूप पर्वत का विवर है। एक ओर विशाल तरंगों की तरह दुर्भाग्य है अन्य ओर बड़वानल की तरह दुखदायक आत्मध्यान है। एक ओर लता की तरह वेष्टन-कारी स्वार्थान्धिता है अन्य ओर कूर कुम्भी की तरह रोग-ताप है। हे भगवन्, अपार इस संसार-सागर में बहुत काल से पतित भनुष्यों का उद्धार करें। वृक्ष के फूल और फलों की भाँति आपका केवल ज्ञान और दर्शन, हे त्रिलोकीनाथ, अन्य के उपहार के लिए है। आज हमारा जन्म सार्थक हुआ है, हमारा कुल सार्थक हुआ है कारण आज हमें आपकी वन्दना करने का सौभाग्य मिला है।’

(स्लोक २९९-३०६)

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र बलराम और वासुदेव निवृत्त हुए। तदुपरान्त भगवान् वासुपूज्य ने निम्नलिखित देशना दी :

‘इस अपार संसार रूपी समुद्र में जूझा और शमिला के संयोग की तरह धर्मनिष्ठान के लिए मनुष्य-धर्म-प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जिन प्रवक्त धर्म ही संसार में सर्वश्रेष्ठ है—कारण इसका अवलम्बन लेने वाला कभी संसार-सागर में नहीं डूबता। यह धर्म संयम, सत्य, शौच, क्रह्यचर्य, निष्परिग्रहता, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता रूप दस प्रकार का है। धर्म के प्रभाव से जो कुछ चाहा जाता है वही पाया जाता है। ऐसा कल्यवृक्ष भी मिल जाता है जो

अधर्मी के लिए अलभ्य है। यह धर्म सदा साथ रहता है और बातसुल्य के साथ संसार-विपाक में पतित मनुष्यों की रक्षा करता है। समुद्र जो कि पृथ्वी को ढुबाता नहीं और मेघ जो पृथ्वी को समुद्र करता है यह धर्म के प्रभाव से ही होता है। अग्नि शिखा जो तिर्यकगामी नहीं होती, वायु उद्धगामी यह धर्म का ही अमोघ प्रभाव है। यह पृथ्वी जो कि अबलम्बनहीन आधारहीन होकर स्थिर है, जो सबका आधारभूत है, वह भी धर्म के प्रभाव से ही है। धर्म के शासन में ही लौक-कल्याण के लिए जन्म और दूर आलोक दान करते हैं। धर्म ही भ्रातृहीन का भाई है, बान्धवहीन का बन्धु, अनाथों का नाथ और सबका उपकारी है। धर्म ही जीव को नरक-न्यतन से बचाता है, धर्म ही सर्वज्ञ को अनन्तवीर्य प्रदान करता है।

(श्लोक ३०७-३१८)

‘इस दसविधि धर्म को मिथ्याहृष्टि लोग तात्त्विक हृष्टि से अभी नहीं देखते। यदि कोई इसका उल्लेख भी करे तो यह मात्र शब्दों का खेल होता है। जो जिन-धर्म के अनुसरणकारी हैं, केवल उन्हीं के मन, वचन व क्रिया द्वारा तत्त्वार्थ सुन्दर रूप से परिस्फुटित होता है। वेद के अध्ययन से ही जिस ब्राह्मण की बुद्धि आच्छादित है वह धर्म रत्न के विषय में कुछ नहीं जानता। जो गोमेघ, अश्वमेघ, नरमेघ आदि अनुष्ठानों में जीवों की हत्या करते हैं उन्हें धर्म कैसे प्राप्त हो सकता है? असम्भव, असत्य और परस्पर विरोधी विषयों से भरे पुराणों की जिन्होंने रचना की है उनके पास क्या धर्म रह सकता है? जो परद्रव्य-हरण के बारे में सोचते हैं और अग्नि एवं जल से शुद्धि का विधान देते हैं ऐसे स्मृति को जानने वाले ब्राह्मणों में क्या शुद्धता रह सकती है? स्त्री-सेवन नहीं कर ऋतुकाल का जो उल्लंघन करते हैं उन्हें गर्भहत्या का पाप होता है ऐसे विधानों में ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाले ब्राह्मणों में धर्म कहाँ? यद्यपि वे देना नहीं चाहते फिर भी यज्ञकारी यजमानों से अर्थ प्रहण करने के अभिलाषी और अर्थ के लिए जीवन देने को प्रस्तुत ब्राह्मण निष्परिग्रही कैसे हो सकते हैं? सामान्य से अपराध के लिए भी जो क्षण भर में श्राप देने को तैयार रहते हैं ऐसे लौकिक साधुओं में क्षमा लेशमान भी नहीं होती। जिनका हृदय जाति आदि के मद से परिपूर्ण है ऐसे ब्राह्मणों के चार आश्रमों में से किसी एक आश्रम में

भी विनय कैसे रह सकता है ? बाहर से बगुला धार्मिक और अन्तर
में दम्भ एवं कामनाओं से भरे मिथ्या आश्रयी संन्यासियों में सरलता
नहीं रह सकती । पुत्र, कलब, गृह आदि के साथ रहने वाले ज्ञात्मणों
में विलोभिता कैसे आ सकती है ? (श्लोक ३१९-३२०)

(श्लोक ३१९-३२०)

‘राग, द्वेष, माया विवर्जित और सर्वज्ञ प्रतिवेदित धर्म ही कल्याणकारी और निर्दोष है। राग-द्वेष और माया के लिए ही लोग खूठ बोलते हैं। इसके अभाव में अहंत् वाणी में मिथ्या आ ही नहीं सकती। जिसका चित्त राग-द्वेषादि द्वारा कलुषित है उसके मुख से सत्य वचन प्रकट नहीं हो सकते। जो घी से यज्ञ-हवनादि किया करते हैं, बावड़ी, कुआँ, सरोवर, नदी आदि के निर्माण करने से पुण्य होता है। कहते हैं, पशु-हत्या कर इहलोक और परलोक के सुखों की आशा करते हैं, बाह्यण भोज करा कर परलोकगत आत्मा को तृप्त कर रहे हैं कहते हैं, पर-स्वी का संग कर वृत योनि दान से परिशुद्ध होना सोचते हैं, पाँच प्रकार की आपत्ति (नष्ट, मृत, प्रज्ञजित, क्लीव व पतित) उपस्थित होने पर स्त्रियों का पुनर्विवाह करते हैं, स्त्री में यदि पुत्र उत्पन्न करने की क्षमता हो तो पुत्राभाव से उसे क्षेत्रज पुल उत्पन्न करवाते हैं, दूषित स्त्री रजस्वाव से शुद्ध हो जाती है ऐसा कहते हैं, वैभव के लिए सोम यज्ञ में अज वध कर उसका पुरुषाङ्ग भक्षण करते हैं, सौत्रामणि यज्ञ में मदिरा पानकर कल्याण की कामना करते हैं, अखाद्य भक्षण कर शो-स्पर्श से पवित्र बनते हैं, जल आदि से स्नान मान्न करके ही परिशुद्ध हो जाते हैं, बट, पीपल, आंविला आदि वृक्षों का पूजन करते हैं, अग्नि में निषिद्ध हृद्य से देवताओं का तृप्त होना मानते हैं, जमीन पर दुर्घट दोहन करने से अरिष्ट शान्ति होना सोचते हैं, स्त्रीभाव से देवों की उपासना करते हैं, दीर्घ जटा, त्रिपुण्ड, भष्मलेपन और कौपिन धारण में धर्म मानते हैं, जी, आकन्द, धूतूरा मालूर आदि फूलों से देवताओं की पूजा करते हैं, जो बार-बार नितम्बों पर धारात कर गीत-नृत्य करते हैं और मुख-निःसृत शब्द से बाद्य-यन्त्रों की छवनि को मन्द कर देते हैं, देव-मुनि और मनुष्यों को जो अपशब्द से सम्बोधित करते हैं, व्रत भङ्ग कर जो देव-दासियों का दासत्व करते हैं, जो अनन्तकायिक फल-मूल और कन्द भक्षण करते हैं, स्त्री पुत्र सहित उपोवन में वास करते हैं, जो भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय और गम्यागम्य

का विवेक छोड़कर योगी नाम से प्रसिद्ध होते हैं और 'जिन वाक्य' ने जिनके हृदय को स्पर्श नहीं किया हो उनके पास धर्म कहां ? उसका फल भी कहां ? फिर उनके धर्म की प्रामाणिकता ही क्या है ? (श्लोक ३३१-३४७)

'जिन-प्रोत्त धर्म फल इहलोक व परलोक में मुक्ति या मोक्ष है जो कि सब में अन्तर्निहित है। धान्य वप्तन करने पर उसके आनुषंगिक रूप में जैसे बिचाली तुष आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार जिन-प्रोत्त धर्म के आचरण का मुख्य फल मोक्ष है। इस लोक का सांसारिक सुख गौण है।' (श्लोक ३४८-३४९)

ऐसा उपदेश सुनकर बहुत से लोगों ने थ्रमण धर्म को अङ्गीकार कर लिया। छिपृष्ठ और विजय ने सम्यक्त्व ग्रहण किया। दिन का प्रथम याम शेष होने पर प्रभु ने अपनी देशना समाप्त की। द्वितीय याम में उनके मुख्य गणधर ने संक्षिप्त देशना दी। देशना शेष होने पर प्रभु वहां से प्रवृत्ति पर विचरण करने लगे। तदुपरात् इन्द्र, वासुदेव, छिपृष्ठ, बलदेव और विजय स्व-स्व निवास को लौट गए। (श्लोक ३५०-३५२)

भगवान् वासुपूज्य के तीर्थ में ७२ हजार साधु, १ लाख साधियां, १ हजार २ सौ चतुर्दश पूर्वधर, ५ हजार ४ सौ अवधि-आनी, ६ हजार १ सौ मनःपर्यायज्ञानी, ६ हजार केवली, १० हजार वैक्रियलब्धि सम्पन्न, ४ हजार ७ सौ बादी, २ लाख १५ हजार शावक एवं ४३ लाख ६ हजार शाविकाएँ थीं। केवलज्ञान से १ मास कम ५४ लाख वर्षों तक प्रभु ने इस पृथ्वी पर विचरण किया। (श्लोक ३५३-३५८)

मुक्ति का समर्थ निकट जानकर प्रभु चम्पा नगरी में लौट आए और वहां ६ सौ मुनियों सहित अनशन ग्रहण कर लिया। एक महीने के पश्चात् आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी को चन्द्र जब उत्तरा भाद्र-पदा नक्षत्र में था तब उन ६ सौ मुनियों सहित प्रभु मोक्ष पथार गए। प्रभु १८ लाख वर्षों तक कुमारावस्था में रहे, ५४ लाख वर्षों तक थ्रमण रूप में रहे। अतः कुल ७२ लाख वर्षों तक पृथ्वी पर विचरण किया। श्रेयांसनाथ के ५४ सागर वर्ष पश्चात् वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण हुआ। इन्द्र और देवों ने प्रभु और अन्य मुनियों का यथोचित सत्कार किया। (श्लोक ३५९-३६३)

महाबारम्भ और महापरिग्रहयुक्त, सिंह-से निर्भीक, देवताओं-से प्रमादी इच्छानुसार भोग भोगकर वासुदेव द्विष्ट आयुष्य पूर्ण होने पर षष्ठ नरक तमःप्रभा में उत्पन्न हुए। वे ७५ हजार वर्षों तक कुमारावस्था में, ७५ हजार वर्षों तक माण्डलिक रूप में, १ सौ वर्ष तक दिविजय में और ७२ लाख ४९ हजार ९ सौ वर्षों तक वासुदेव रूप में रहे। वासुदेव की मृत्यु के पश्चात् बलदेव विजय अपना ७५ लाख वर्षों का आयुष्य पूर्ण कर भाई के प्रेम से अभिभूत बने किसी प्रकार अकेले जीवन धारण किए रहे। भगवान् वासुपूज्य का उपदेश समरण कर भाई की मृत्यु से विरक्त होकर उन्होंने आचार्य विजयसूरि से दीक्षा लेकर यथा समय कर्म धाय कर मोक्ष प्राप्त किया।

(श्लोक ३३४-३६९)

द्वितीय सर्ग समाप्त

तृतीय सर्ग

विमलनाथ स्वामी जो कि कर्म के अभाव के कारण निर्मल गङ्गा के प्रवाह रूप हैं, धर्म-देशना के लिए जो हिमवान् तुल्य हैं, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। तीर्थस्थलों के पवित्र वारि की तरह जो त्रिलोक को पवित्र कर सकते हैं ऐसे तेरहवें तीर्थङ्कर के जीवन-चरित का अब मैं वर्णन करूँगा। (श्लोक १-२)

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह के भरत नामक विजय में, नगरियों के मध्य रत्नरूपा महापुरी नामक एक नगरी थी। पद्मा के निलय रूप पद्मसेन नामक एक राजा वहां राज्य करते थे। जो स्वरुणों के कारण समुद्र की तरह सहजलभ्य; किन्तु दुरतिक्षमणीय थे। बीर एवं बीरों में अग्रणी उन राजा ने अपने आदेश को जैसे समग्र देश में लागू कर रखा था उसी प्रकार जिनादेश को उन्होंने अपने हृदय में अनवच्छिन्न रूप में धारण कर रखा था। यद्यपि वे संसार में हीनगृह निवासी की तरह रहते थे फिर भी सांसारिक विषयों से विरक्त थे। पथिक जैसे क्लान्त होने पर वृक्ष के निकट जाता है उसी प्रकार संसार से विरक्त होकर वे सर्वगुप्त नामक आचार्य के निकट गए। उनसे दीक्षा लेकर पुनर्हीन जैसे पुनर्व पाने पर, धनहीन जैसे धन पाने पर उनकी रक्षा करता है उसी प्रकार

वे स्वजनों की रक्षा करने लगे। विभिन्न स्थानकों की उपासना कर अहंत् भक्ति के कारण उन्होंने तीर्थद्वार गोल कर्म उपार्जन किया। दीर्घ दिनों तक तपश्चरण कर आयु औष छोने पर मृत्यु ब्राप्त कर वे सहस्रार देवलोक में महाकृष्णिशाली देवरूप में उत्पन्न हुए।

(श्लोक ३-१०)

जम्बूद्वीप के भरत ध्रेव के अलङ्कार तुल्य, मानो स्वर्ग का ही एक अंश धरती पर उत्तर आया हो ऐसा, काम्पिल्य नामक एक नगर था। इसके मन्दिर रात्रि में चन्द्रकान्त मणि पुत्तलिकाओं निःसृत जल में धारायन्त्र संलग्न गृह से लगते थे। श्री देवी के गृह में शोभित स्वर्ण-कमल की तरह यहाँ के हम्मों के शिखर पर स्थित स्वर्ण-कलश किरणें विकीर्ण करते। इसके थोड़ीबढ़ हम्म्य और अट्टलिकाएँ विधाता निर्मित देवनगरी-सी लगतीं। (श्लोक ११-१४)

यहाँ के राजा का नाम था कीर्तिवर्म। भाग्य पीड़ित लोगों के शरणागत होने पर वे कवच की तरह उनकी रक्षा करते थे। गंगाजल और उनको कीर्ति का प्रवाह प्रतिस्पद्धविश ही मानो पृथ्वी को चारों ओर से आनन्दमय कर सागर में समा जाते थे। प्रार्थी और शत्रुओं से वे दूर नहीं भागते थे; किन्तु परस्ती और निन्दा से सदैव दूर रहते थे। युद्ध में शत्रु उनके पराक्रम रूपी आलोक को सहम नहीं कर सकते थे कारण, वे पृथ्वी के सूर्य-तुल्य थे और शत्रुगण मानो अन्धकार से उद्भूत हुए हों। वटवृक्ष की छाया की तरह उनकी पद्म-छाया ने राजाओं द्वारा सेवित होने से नत होने के कारण कुञ्जाकृति धारण कर रखी थी। (श्लोक १५-१९)

सूर्य की जिस प्रकार रात्रि है उसी प्रकार उनकी भी श्यामा नामक एक पत्नी थी। वह वंश के लिए श्री और अन्तःपुर के लिए अलंकार तुल्य थीं। वे जैसे साइवी थीं वैसा ही था उनका रूप। मानो श्री देवी ने ही रूप परिग्रह किया है। मराली की तरह मन्दगति से वे चलती थीं मानो वे सर्वदा अपने पति के ध्यान में रह हों। मृत्यु-लोक में तो कोई भी मानवी उनके समतुल्य नहीं थीं। अतः श्री देवी और इन्द्राणी उनकी सखी बनने की कामना करती थीं। दिन जिस प्रकार रात्रि का अनुसरण करता है उसी प्रकार जहाँ भी उनके चरण पड़ते वहीं सुख और आनन्द की धारा प्रवाहित हो जाती।

(श्लोक २०-२४)

सहस्रार देवलोक में राजा पश्चिम का ओर पूर्णिमा भीदभार वैशाख शुक्ला द्वादशी को चन्द्र जब उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में अवस्थित था वहाँ से च्यबकर महारानी इयामा देवी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। तीर्थकर जन्म-सूचक चौदह महास्वप्नों को महारानी ने अपने मुख में प्रवेश करते देखा। गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला तृतीया की मध्य रात्रि में चन्द्र जब उत्तरा फालगुनी नक्षत्र में था महारानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उस समय सभी ग्रह अपने उच्च स्थान पर अवस्थित थे। उनका लाञ्छन था शुक्र।

(श्लोक २५-२९)

सभी दिशाओं से छापन दिवकुमारियां आईं और भूत्य की भाँति तीर्थकर एवं उनकी माता का सूतिका-कार्य सम्पन्न किया। इन्द्र भी आए और जातक को मेरु पर्वत पर ले जाकर अतिपाष्ठु-कवला में रक्षित सिंहासन पर उन्हें गोद में लेकर बैठ गए। अच्युतादि लेसठ इन्द्रों ने तीर्थ से लाए जल से तेरहवें तीर्थकर का स्नानाभिषेक किया। तब इन्द्र ने प्रभु की ईशानेन्द्र की गोद में बैठाकर मानो पर्वत-शृंग से जल निकल रहा है इस प्रकार वृषभ शृंग से निकलते जल से उन्हें स्नान करवाया। तदुपरान्त देवदूष्य वस्त्र से जिस प्रकार रत्न को पोँछा जाता है वैसे ही प्रभु की स्नानसिंक देह को पोँछ दिया। नन्दन-बन से लाए गोशीर्ष चन्दन का उन्होंने प्रभु की देह पर लेपन किया। देखने से ऐसा लगा कि उनका शरीर देवदूष्य वस्त्र से लिपटा हुआ है। तत्पश्चात् उन्होंने दिव्यमाला, वस्त्र और अलंकार से उनकी पूजा कर दीप दिखाकर निम्नलिखित स्तुति का पाठ किया—

(श्लोक ३०-३१)

‘मिथ्यात्व का अन्धकार जब चारों ओर व्याप्त हो गया है, शैव, संत्यासी जब राक्षस की भाँति भयानक रूप से कुद्द हो उठे हैं, प्रवचना से ब्राह्मण जब गोयाले की तरह धूर्त हो उठे हैं, भालुओं की तरह कौलगण मण्डल बनाकर विचर रहे हैं, अन्य मिथ्यात्वी जब कि उल्लुबों की तरह चीत्कार कर रहे हैं, विवेकदृष्टि ऐन्द्रजालिक की तरह मिथ्यात्व के प्रभाव से विनष्टप्राय हो चुकी है, चारों ओर तत्त्वज्ञान प्रायः अवलूप्त है ऐसा दीर्घकाल जो कि रात्रि की तरह व्यतीत हुआ है, हे तिलोकनाथ, आपके आविर्भाव से सूर्योदय से जैसे प्रभात होता है वैसा ही सुप्रभात हो जाए। इतने दिनों तक संसार-

समुद्र जो अवतिक्षणीय था वह अब आपके चरण-शरण से अति-क्रमणीय हो जाएगा । आपकी देशनारूपी सीढ़ी पर चढ़कर अव्य जीव एक लम्बे समय के पश्चात् अब मोक्ष को प्राप्त करेंगे । प्रखर तपत ताप से तपते पथिकों के लिए मेघ की तरह, हम अनाथों के लिए दीर्घकाल के बाद आप नाथ रूप में आविर्भूत हुए हैं ।'

(श्लोक ३७-४४)

तेरहवें तीर्थकर की इस भाँति स्तुति कर इन्द्र जिस प्रकार जातक को लाए थे उसी प्रकार लौट कर जातक को उनकी माँ श्यामा देवी के पास सुला दिया । शक्र वहाँ से और अन्य इन्द्र मेह पर्वत से सफल समुद्र-यात्रा के पश्चात् वर्णिक जिस प्रकार स्वधर को लौट जाते हैं वैसे ही अपने-अपने निवास को लौट गए ।

(श्लोक ४५-४६)

राजा कीतिवर्मा ने भी बड़े धूमधाम से जन्मोत्सव मना कर सबको आनन्दित किया । जब प्रभु गर्भ में थे उनकी माँ विमल बन गई थी अतः उन्होंने अपने पुत्र का नाम विमल रखा । विलोकपति धात्री-रूपी देवांगनाओं द्वारा लालित होकर एवं सख्तारूपी देवकुमारों के साथ कीड़ा करते हुए बड़े होने लगे । (श्लोक ४७-४९)

साठ धनुष दीर्घ और १००८ सुलक्षणों से युक्त प्रभु क्रमशः यीवन को प्राप्त हुए । संसार से विरक्त होने पर भी पिता के आग्रह से भोग कर्मों को निरसन करते वाली औषधि के रूप में उन्होंने राजकन्याओं का पाणिग्रहण किया । (श्लोक ५०-५१)

१५ लाख वर्ष युवराज रूप में व्यतीत कर पिता के आदेश से उन्होंने राज्यभार ग्रहण किया कारण पिता का आदेश आहंतों के लिए भी मात्य होता है । (श्लोक ५२)

राज्य शासन के तीस लाख वर्ष व्यतीत हो जाने पर संसार-सागर को पार करने की नीका रूपी दीक्षा उन्हें स्मरण हो आई । सारस्वत आदि लीकान्तिक देवों ने प्रभु के निकट आकर उनसे तीर्थ स्थापना करने को कहा । एक वर्ष तक उन्होंने प्रार्थियों की इच्छा-नुसार जूम्भक देवों द्वारा लाया धन कल्पतरु की तरह दान किया । एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर इन्होंने प्रभु के विमल मन की तरह विमल जल से विमलनाथ का दीक्षापूर्व का स्नानाभिषेक सम्पन्न किया । प्रभु दिव्य गन्ध वस्त्र और अलंकार धारण कर देवदत्त

नामक शिविका पर चढ़े। देख, अमुर और नरेन्द्रों से परिवृत्त होकर वे पालकी द्वारा सहस्राम्भवत उद्यान की ओर क्षयशर हुए।

(प्लोक ५३-५४)

उस उद्यान के लकड़-मण्डप दीव घर से भवधीता उद्यान-पालिकाओं द्वारा मानो घर हो इस भाँति आभित हुए थे। आज्ञा, वकुल आदि बुद्धों के शिखर पर वफे गिरने के कारण मानो वे भविष्य में सौन्दर्य-जाम के लिए तपस्या निरत हों ऐसे लग रहे थे। कुण्ड का जल, बड़ की छाया नगरागत मिशुनों की जीत-हजारता को जैसे कुछ तुर कर रही थी। शीत-कातर आनरों द्वारा एकत्रित गुंजाफल देखकर नगर की नारियों के मुख पर जो हास्य विस्तित हो रहा था उसे देखकर लगा मानो चन्द्र-किरण प्रसारित हो रही है। वह उद्यान लावली और यूथि के पुष्प शुद्धियों के कारण मानो हैस रहा ही ऐसा लग रहा था। ऐसे उद्यान में शिविका से उत्तरकार प्रभु ने प्रवेश किया। तत्परात् अलंकार त्याग और देवदूषण वस्त्र धारण कार मार गात्ता उन्हीं की अपराह्न में चन्द्र वस उन्होंने उत्तर-नक्षत्र में अवस्थित था तब उन्होंने हजार राजस्वों संस्कृत दो दिनों के उपचार के पश्चात् अमण दीक्षा प्रहण की। (प्लोक ५४-५५)

दूसरे दिन सुबह धार्म्यकूट नगर में राजा जय के घर श्रीराज गहण कार विमलनाथ स्वामी ने पारणा किया। देवों ने रत्न-वर्षा आदि पांच दिव्य प्रकट किए और राजा जय ने जहां प्रभु बड़े थे वहां रत्न वेदी निमित करवाई। फिर बिलोकपलि वहां से छद्मस्य रूप में खान नगर आदि दिविज स्थानों में परिव्रजन करने लगे।

(प्लोक ५५-५६)

जम्बूदीप के पूर्व विदेह में आनन्दकरी नामक नगरी में राजा नर्सीसुमिल राज्य कर रहे। यद्यपि उनके विहिवेशु थे फिर भी वे सब कुछ विवेकहस्ति से ही देखते थे। यद्यपि उनकी विजात सेना थी फिर भी वे संगी रूप में तलवार की ही साथ रखते थे। जन्म से ही संसार से विरक्त और सब कुछ क्षणभंगुर समझ कर केवल उत्तरा-धिकार की रक्षा के लिए ही वे राज्य पासन करते थे।

(प्लोक ५६-५७)

मन से तो सब कुछ त्याग किया हुआ ही था; किन्तु एक दिन बाह्य रूप में भी राज्य परित्याग कर आचार्य सुअत से उन्होंने मूल-

दीक्षा प्रहृण कर ली । संयम पालन और अभियह युक्त तपस्या कर आयुष्य नमाप्त हो जाने पर अनुत्तर विमल में देवहृष्य में उत्पन्न हुए । (इति ७२-७५)

जम्बुद्वीप के भरत शैव की अलंकारनृत्य धारास्ती नामक नगरी में धनभित्र नामक एक राजा राज्य करते थे । राजा धनभित्र के साथ शब्दुष्ट होने के कारण शस्त्र नामक एक अन्य राजा उत्कां अतिथ्य रवीकार कर धारास्ती में निवास करने लगे । एक दिन अखोण दुद्धि राजा धनभित्र वलि राजा के साथ पाणा फेंककर अधी कीढ़ा कर रहे थे । सेल में हतने मस्त हो गए कि अक्षकीड़ा में भी धणनी पोटियों को सेना समझकर युद्ध छोड़ की तरह मारने और अवरोध करने में अस्त हो गए । दोनों ने एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से अपने-बचपने राज्य को भी दांव पर लगा दिया । शूतकीड़ा में मस्त मासद को हिताहित का ज्ञान नहीं रहता । अन्ततः हार जाने पर राजा धनभित्र राज्य परित्याप कर एकाकी विक्षिप्त की भाँति विचरण करने लगे । अथवीन फटे कम्फे पहने मलिन धनभित्र के साथ लोग शूतशस्त मनुष्य की तरह व्यवहार करते थे । (इति ७४-७५)

इस प्रकार घूमते हुए एक दिन उन्हें मुनि सुदर्शन से साक्षात्कार हुआ और कई विनों सक अनाहार रहने के पश्चात् रोगी जैसे पहली बार रस पीता है उसी प्रकार उनके देशना रूप असृत का उन्होंने पान किया । फलतः उनसे दीक्षा लेकर शीर्षकाल तक मुनि घर्म का तो पालन किया; किन्तु वलि का वसद् अपलहार वे भूमि न सके । अन्ततः वे निदान कर दीठे कि मेरी तपयचयी का कुछ पूर्ण है तो मैं आणासी जन्म में वलि को मारकर इसका प्रतिशोध कूँ । यह संकल्प कर उन्होंने अनशनपूर्वक मृत्यु को वरण किया और अच्छुत देवलोक में पूर्ण आयुष्य लेकर जन्म प्रहृण किया ।

(इति ८३-८४)

राजा वलि ने भी कलान्तर में यति धर्म प्रहृण किया और मृत्यु के पश्चात् देवलोक में शक्तिशाली देवहृष्य में उत्पन्न हुए । वहाँ से व्युत होकर मरण क्षेत्र के नर्देनपुर के राजा समरकेशी और रानी गुदरी के पुत्र रूप में जन्म लिया । उनकी देह रमाइजन धारा की तरह चमकीली और ताठ धनुष उश्त थी । उन्हें साठ लोख

वर्षे । वे देखते में बिजने सुन्दर थे उत्तमे ही बहदारी थी थे । अत्यन्त वैभवशाली उन्होंने वैताङ्ग पर्यंत अद्वा भरत पर, अपना अधिकार विस्तृत कर लड़ौचक्री प्रतिवासुदेव मेरक नाम से दिखात् हो गए थे । जिस प्रकार वायु-सा दक्षिणाली, यूर्ध्व-सा देवस्त्री कोई नहीं है उसी प्रकार शौर्य में उत्तमा कोई प्रतिस्पर्द्धी नहीं था । उनके आदेश की अमान्य करने का साहूत किसी में नहीं था मानो वे भाग्य की भाँति अमोश हों बल्कि वे शिखा-अध्यन की तरह रक्षा-कष्टक के रूप में सर्वत्र भ्रह्मीत होते । (गलोक ८५-९०)

भरत थोक के द्वारका नामक नगर में सुप्रभा-से गम्भीर रुद्र तामक एक राजा थे । उनकी सुप्रभा और पृथ्वी नामक दो ऐसी पत्नियाँ थीं मानो थीं और पृथ्वी ही सूतिमंत हो गई हों । अपने रूप और दीन से ये महाका मन हरण करती थीं । नन्दीगुमिन का जीव अनुभार दिमान से च्युत होकर रानी सुप्रभा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ । राजि के अन्त में सुख-शरण्या पर सौई हुई रानी सुप्रभा ने बलदेव के जन्म की सूचना देने वाले चार महास्वप्न देखे । नौ-मास साढ़े तात दिनों के पश्चात् सुप्रभा ने चत्व-से पुरुषवर्ण वाले एक पुत्र को जन्म दिया । राजा रुद्र ने उसका नाम रथा भद्र । कुल वंभव के साथ वह भी जाता हीने लगा । (गलोक ९१-९५)

धनमिन्द्र का जीव अन्युत देवलोक से जग्य कर सरोबर में जैसे कमल उत्पन्न होता है वैसे ही रानी पृथ्वी के गर्भ में उत्पन्न हुआ । रात्रि के शोण भाग में सुख-शरण्या दीन रानी ने बासुदेव के जन्म सूचक सात महा-स्वप्नों की अपने मुख में प्रविष्ट होते देखा । समय पूर्ण होने पर उन्होंने कृष्णवर्ण एक पुत्र को जन्म दिया जिसका शरीर बेदर्य पवंत की तरह जलकीला था । राजा रुद्र ने आनन्दित होकर पुत्र-जन्मोत्सव के समय उसका नाम रथा स्वयम्भू । पांच समितियों के पालन से जैव तपस्त्री की निर्वल तपस्या संकल होती है उसी प्रकार पांच धारियों द्वारा सर्वदा पालित होते हुए स्वयम्भू बने होने लगे । (गलोक ९६-१०३)

भद्र और स्वयम्भू गंगा और ममुना की तरह एक पोरा एक कृष्णवर्ण प्रेम के सूख में एक साथ गूँथे थे । उनके पदावशंक की अन्य राजकुमार रहन नहीं कर पाते थे कारण उनके पदावशंक से मुँगर के आमात की तरह पवंत भी चूर्ण हो जाता था । नील और पीत

कस्त्रिघारी ताल और गहुङ्खज के बेनते हुए ही चलते तो पृथ्वी डगमगाने लगती। समस्त प्रकार की शहस्र-विद्या और सर्वप्रकार के ज्ञान अर्जन कर योद्धन के समान्वय पर वे विशेष बल और ज्ञान के अधिकारी हो गए। (स्लोक १०२-१०५)

एक दिन जबकि वे नगर की सीमा पर सेज रहे थे तो उन्होंने वहां एक छावनी निमित होते देखी। वहां हस्ती अथवा घन रत्नादि रथकों के पहरे में रक्षित थे। बलदेव ने पूछा 'इन सर्वों को यहां किसने भेजा है? शत्रु ने या मिलने? प्रत्युत्तर में मन्त्रीगुल ने कहा—'अपने राज्य की रक्षा के लिए राजा शशिसीम्य यह भेंट अर्द्धचक्री भेरक को भेज रहे हैं।' यह सुनकर कुद्र वासुदेव बोले—'यह भेंट दूरी दूरी से उनके असरों जाएगी। ऐसे हैं हृषि अभागा भेरक जो हमारे रहते इस प्रकार राजाओं से कर प्रहृण करता है? वह कितना शक्तिशाली है देखना होगा। यह सब छीन लो। परि सामर्थ्य होगा तो वह आकार ले जाएगा।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने अनुचरों को हाथ उठाकर निर्देश दिया। यह वाजा पाकर उनके अनुचरों ने लाठी-सौंदा लेकर फल लगे शूक्र की तरफ शशिसीम्य के रक्षकों पर आक्रमण कर दिया। अकास्मात् शूक्रबों द्वारा आकाश छोकर रात्रि में सौंधी अधस्था में आकाश की भूमि उन्होंने भागकर अपनी रक्षा की। वासुदेव ने उन सभी हस्ती-अपन-रत्नादि की प्रहृण कर लिया। शत्रु सम्पत्ति को जबरेस्ती इच्छा करने से योद्धा का शीर्य ही प्रकाशित होता है। (स्लोक १०६-११०)

शशिसीम्य के रक्षकमण हाँकते हुए जिस प्रकार उनकी भेंट कुद्र ली गई थीं वह सब अर्द्धचक्री भेरक के पास जाकर निर्देश दिया। यह सुनकर भेरक निरंकुण यम की तरह कुद्र होकर भूकुटि कुट्टित करते हुए राज्य-सभासदों से बोला—'भेंट भर जाना मिलने से लहौता गई जिस प्रकार हस्ती को पदाधात करता है, उसके जिस प्रकार अपनी पहनी पर प्रहार करता है, भेंटक जैसे सर्व को विष्ट लगाता है, उसके पुत्र ने भी उसी प्रकार अपनी मृत्यु के लिए ऐसा अविवेकी जात्यं किया है। मृत्यु के पूर्व चौटियों के जिस प्रकार पंख निकल आते हैं उसी प्रकार हृत्षुद्धिता मनुष्य के विनाश का कारण होती है। उसने मेरी भेंट को तरह प्रहृण कर ली है।

ब्रह्म में उसे उसके पिता और भाता सहित विनष्ट कर दोगा।'

(इलोक ११५-१२०)

यह सुनकर एक मन्त्री बोला—'यह कार्य लगता है उन्होंने अज्ञातावश ही किया है। राजा रुद्र तो शीर्षकाल से आपकी सेवा नहीं करते हैं वह क्षमता नहीं तो है; वह आपके विषय में समर्थन प्राप्त नहीं करेगा। वे तो आपकी कृपा के अभिलाषी हैं। कौन प्रभु की कोणार्णि या नदी में कूदना चाहेगा? अतः अप के मारे के आपके पास नहीं आ रहे हैं। महाराज, करण करिए। मुझे आदेश दीजिए और उन्हें अभ्यु। मैं उनके पास से और अधिक मूल्यवाह भेंट लेकर आऊंगा।'

(इलोक ३२१-३२४)

मेरक ने जब यह बात सदीकार कर ली तो मन्त्री शीघ्र ही डारिका गए और अद्वयमन्त्र की उपस्थिति में ही रुद्र से बोले—'अज्ञातावशतः आपके पुत्रों ने यह कथा कर डाला? प्रभु के तो कुत्ते की भी हृत्या नहीं की जाती। वे क्षुद्र न ही जाएं अतः उनका सब कुछ लीटा दें। मैं आप पर कोई आक्रम नहीं आने दूँगा। अज्ञाता आपके पुत्रों के दोष को भी ढक देनी।'

(इलोक १२५-१२५)

यह सुनकर स्वयम्भू उनसे बोला—'महात्मन्, प्रभु भक्त और अपनी उदार मनोभावना के कारण आप हमारे पिताजी को ऐसा कह रहे हैं; किन्तु सांचकर वैष्णव, हमने उनसे कितना लिया है? हम तो समस्त गुणों को पहुँच करना चाहते हैं। कारण, गुणों वीरभोग्या होती है। धरती पर ऐसा कीन है जो कृतान्त की तरह रुद्र बलराम और मेरे सम्मुखीन ही सकता है? मैं उनकी हृत्या कर भरतार्द्ध पर अधिकार करूँगा। कीर्णों-से अन्य राजाओं की हृत्या करने से क्या आध दूँगा? उन्होंने भी बाहुबल से भरतार्द्ध की जय किया है, वैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त नहीं किया। इस विधान से ही भरतार्द्ध भेरा होगा। वली पर भी मशाबली होते हैं।'

(इलोक ३२८-३२९)

स्वयम्भू की यह बात सुनकर मन्त्री विस्मित और अयशीत होकर शीघ्रतापूर्वक मेरक के पास लीटा और जो कुछ घटित हुआ वह कह सुनाय। इन स्वप्नपूर्ण कथन को सुनकर मनोमत्त हाथी की तरह मेरक सद-संन्य लेकर युद्ध के लिए शशमर हुआ। गुफा से निकलने वाले तिहाँ की भाँति स्वयम्भू राजा यद और बलराम भी डारिका से निकले। प्रजा को उद्दिग्न कर अयशीत राहू और

शनि की तरह और और मेरक एक स्थान पर आकर मिले। दोनों सेनाओं में युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनों ओर से निश्चित अस्त्रों से आकाश प्रलयकालीन अग्नि की तरह प्रज्वलित व भयंकर ही उठा। शत्रु-सेना को ध्वनि करने के लिए स्वयम्भू ने मन्त्र की तरह पाठ्यवज्रन्य शब्द बोला। पाठ्यवज्रन्य के शब्द से मेरक की सेना कांप उठी। सिंह का गर्जन सुनकर क्या हस्ती टिका रह सकता है? तब मेरक अपनी सेना को मूर्खों की तरह तटस्थ रहने को कहकर रथ पर जड़ा और स्वयम्भू की ओर दौड़ा। मानो विजयशी के द्विष्ट-मण्डप की रचना की हो इस प्रकार जल-वर्षी की तरह दोनों ने पार वर्षा कर सूर्यों की आळादित कर डाला। अग्नि के प्रतिरोध में अग्नि की तरह, विष के प्रतिरोध में विष की तरह दोनों की पार-वर्षा दोनों का प्रतिरोध करने लगी। वे दोनों दो मूर्खों की तरह भयङ्कर प्रतीक हो रहे थे जिनसे शर रूपी लहू किरणें निकल रही थीं। भयुष और शूणीर के मध्य द्रुगति से जाने के कारण उनके हाथ दिल्लाहि ही नहीं पड़ रहे थे, मात्र हाथ की मुद्रिका भी दीपि से उनका अस्तित्व अनुभूत होता था। उनके दोनों हाथ एक भार शूणीर और एक भार धनुष की प्रत्यक्षा पर पड़ने के कारण अगला था मानो उनके बार हाथ हों। मेरक ने देखा शब्द को केवल शर-वर्षी से पराजित नहों किया जा सकता तब प्रलयकाल में शूणिवामु से जिस प्रकार वर्षा शृङ्खादि उत्पत्ति होते हैं उसी प्रकार मूसल मुद्गर आदि निषेप करने लगे। स्वयम्भू ने उन हसी अस्त्रों को प्रतिअस्त्रों से उसी प्रकार नष्ट कर डाला जैसे दृष्टिविष सर्पहृष्टि की ज्वाला से सब कुछ विनष्ट कर डालता है। (प्लोक १३३-१५०)

अन्ततः शत्रु को विनष्ट करने के लिए मेरक ने शक का समरण किया। बाज पक्षी जैसे व्याघ्र के हाथ आ पड़ता है उसी प्रकार चक्र उसके हाथों में आ गया। तब मेरक स्वयम्भू को बोला, 'तुम्हें युद्ध-विजय भी शिक्षा देने के लिए ही मैं अब तक युद्ध-भीड़ा कर रहा था। अब मैं तेरा शिरच्छेद करूँगा। अतः बदना चाहता है तो भागकर प्राणों की रक्षा कर। दस्यु और काह की भागने में क्या लज्जा है?' (प्लोक १४९-१५१)

स्वयम्भू ने प्रत्युत्तर दिया—'यदि अब तक तुम युद्धकीड़ा कर

रहे थे तो अब मैं तुम्हारा असली युद्ध कैसा है वह भी देख लूँगा ? वह युद्ध देखते ही मैं यहाँ आया हूँ। शत्रु के अन्-रक्त को चलूण करने आसा योद्धा यदि दस्यु होता है तब तो प्रधम दस्यु तुम स्थिर ही। किमने तुमको यह सब दिया था ? जक निषेप के पश्चात् यदि किसी को पलायन करना है तो तुम अभी भाग जाओ। क्योंकि दस्यु और काक को भागने में लज्जा कैसी ? जक निषेप करो ताकि मृत्यु के पूर्व ही जक की शक्ति कैसी है इस मामले में निःसन्देह हो सको।' (ग्रन्थ १५३-१५५)

यह मुनकर मानो द्वितीय वासुदेव यह हो ऐसे ज्ञालामय उस दण्ड की देवक ने गतिशील वृत्तिकर दृढ़ तर्तुप्रभोप किया। वह चक करताक जिस प्रकार एक दूसरे करतान पर चिरती है उसी प्रकार वासुदेव के वक्त पर आकर चिरा। चक के उद्गत नाभि के अद्यभाग के आवान से अक्षित होकर वे रथ के पाटातन पर गिर पड़े। उनकी आखें शत्रानी की तरह रक्तधर्णी हो गईं। वालदेव ज्ञातु-प्रेम के कारण उनके सिर को अपनी गोद में लेकर सजल नेत्रों से कहने लगे—‘आई, उठो, जाओ।’ आई के अध्युपल से सिन्ह होने से वासुदेव की संज्ञा लोटी और ‘ठहर, ठहर’ कहते हुए लड़े हो थे। तत्पुराम शत्रु के सौभाग्यरूपी चक को अपने हाथों में ग्रहण कर और स्व-संग्रह को विस्मय से दिस्कारित नेत्रों बाला अनाते हुए मेरक से बोले—‘यह अस्त ही तुम्हारा सर्वस्व था और यहीं तुम्हारा आशुष्य है। सर्व की मणि की तरह वह आज तुम्हारे हाथ से निकल गया है। अब किसको सहारे पाए हो ? भाग जाओ। स्वयम्भू युद्ध क्षेत्र से भागते शत्रु की हत्या नहीं करता।’ (ग्रन्थ १५५-१५६)

मेरक बोला—‘चक निषेप करो। तु भी अब इसकी शक्ति देख। जो अद्वितीय की सती नहीं हो सकी वह अब सामान्य राजा की रक्षा स्वीकरनेगी ?’ (ग्रन्थ १५४)

इन वचनों से अभिहित होकर वासुदेव ने उस चक को चुमा कर फेंका। उसने सहज ही कमलनाल की तरह मेरक का सिर काट डाला। स्वयम्भू पर आकाश से पुष्पबर्यां हुई और मेरक का धड़ धरती पर गिर पड़ा। जो सब राजा मेरक के अधीन थे वे सब अब वासुदेव की शरण में आ गए। बरातों तो वही रहे; किन्तु वर बदल गया। (ग्रन्थ १५५-१५७)

चक्र की अपने दाहिनी ओर रेखकर, जो चक्र दिग्बिंशुजय का सूचक होता है, स्वयम्भू ने भरत शैत्र का दिग्बिंशुहृदय कर लिया। दिग्बिंशु के निवासस्थल स्वयंभू नवमित्राहिता पत्नी की सरह और भरत की श्री के साथ कीड़ा करते हुए दिग्बिंशुजय कर लौटे। मध्य घट्टुचतुर्थ-पठुंचते उन्होंने एक स्थान पर पृथ्वी को आच्छाकर्तारी एक वक्ष शिला को एक करोड़ लोगों द्वारा उठाते हुए देखा। सहस्रनाग जिस प्रकार सहज ही पृथ्वी को धारण करता है उसी भाँति उन्होंने उस शिला को बाई हाथ में धारण कर ली। तदुपरात्र पुनः उस शिला को यथास्थान रखकर शक्तिशाली देवों को भी विहित कर देकुछ दिनों के मध्य ही द्वारिका लौट आए। वहां रथ, भद्र एवं अन्यान्य राजाशर्मों ने उन्हें अद्वेजकी के रूप में अभिषिक्त किया।

(ग्लोक १५८-१७१)

दो वर्ष तक लग्नस्थ रूप में विवरण करने के पश्चात् विमलनाथ स्वामी ने जिस लहूसाम्रादन उचान में दीक्षा ग्रहण की थी उसी उद्यान में लौट आए। उम्मुक्षु तथे उनके धाती कर्मों के क्षय हो जाने के कारण प्रभु अष्टम गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान पर चढ़ गए। पौष शुक्ला षष्ठ के दिन चन्द्र जब उत्तर भाग पर अवस्थित था, वी दिनों के उपरात्र के पाल्चान उन्हें केवल जान प्राप्त हुआ। देवों द्वारा निमित समवसरण में उन्होंने देखना दी। मन्दरादि उनके सत्तावन गणधर हुए। (ग्लोक १७४-१७७)

उसी समवसरण में लग्नसुख नामक वक्ष उत्पन्न हुए। उनका अर्ण ब्रवेत् यथ और बाहन था भयुर। उनके दाहिने छह हाथों में फल, चक्र, तीर, तलधार, पाणि और वक्षमाला थी एवं बाएँ छह हाथों में नकुल, चक्र, घनुष, ढाल और वस्त्र था तथा एक हाथ अभ्यु मुद्रा में था। वे प्रभु के शासन देव हुए। इसी प्रकार विदिता नामक वक्षिणी भी उत्पन्न हुई। उनकी देह का रंग हरिताल वर्ण और बाहन था कमल। उनके दाहिने दोनों हाथों में तीर और पाणि था एवं बाएँ हाथ में घनुष और सर्प था। वे भगवान् विमलनाथ स्वामी थीं शासन देवी बनीं। (ग्लोक १७८-१८१)

शासन देव-देवी सहित प्रभु विभिन्न स्थानों में विहार करते हुए द्वारिका आए। शक और अन्यान्य देवों ने भगत-पौ बीम अमृत दीर्घ अशोक वृक्ष सहित समवसरण की रचना की। प्रभु ने पूर्व द्वार

से प्रवेश कर नियमानुसार वृक्ष को तीन प्रदक्षिणा हो : तां-पराम्ब सीधे को नमस्कार कर तेरहवें घर्म-चक्रवर्ती दिमलनाथ भगवान् के पूर्वामिमुख होकर रत्न-मिहासन पर उपर्योगन किया । माधु-साध्वी, देव-देवी, मानव-मानवी आपने-आपने निविट गार्डों से प्रवेश कर यथास्थान पर जा बैठे । (स्लोक १८२-१८३)

राज अनुचरों ने त्वरित गति से वासुदेव स्वयम्भू को सूचना दी कि प्रभु के समवसरण का धायोजन हुआ है । हृषित होकर स्वयम्भू ने उन्हें सात्रे बारह करोड़ रुप्य प्रदान किए । स्वयम्भू बलराम भग्न सहित भायोदय के कारण समवसरण में प्रथिष्ठ हुए सीर्पवति को प्रदक्षिणा देकर दोनों शक के पीछे जा बैठे । जिनेपर भगवान् को पुनः करबड़ होकर बन्दनकर यश वासुदेव और बलराम ने इस प्रकार स्तुति की : (स्लोक १८४-१८५)

‘हे भगवन्, वर्षाकाल की घर्षा से जिस प्रकार पृथ्वी का मैल शुल जाता है उसी प्रकार आज आपके दर्शनों से मनुष्यों की भय-यक्षणा दूर ही गई है । धन्य है आज का यह दिन कि आपके दर्शनों से कर्ममल लिप्त हमारी आत्मा कर्ममल शून्य हो गई है । हमारे ये मेल जो आपको देख रहे हैं मानो उन्होंने हम देह का आधिगत्य लाभ किया है और मुहूर्त भर में हमारी आत्मा को पवित्र कर दिया है । भरत की इस धरती ने आपके चरण-स्पर्श से ही अमङ्गल के विनाशकारत्व को प्राप्त कर लिया है । आपके दर्शनों की तो बात ही क्या है ? आपका केवल ज्ञान रूपी आत्मोक मिष्यात्म रूपी उलूकों के लिए सूर्योदय की धर्ति निन्दा का कारण है । हे जगत्पति, आपके दर्शन रूपी अमृत को पात कर जगत्जनों के द्वारा उच्छ्रवसित होने के कारण उनके कर्मवन्धन छिप हुए जा रहे हैं । आपकी जरण-रेणु जो कि विवेक रूपी दर्शन को निर्मल करने में समर्थ है व महोदय रूप वृक्ष के बीज तुल्य है वह हमारी रक्षा करे । हे भगवन्, आपकी बाणी रूप अमृत हम लोगों के लिए जो कि संसार रूपी महाभूमि में खोए हुए हैं कल्याण का कारण बने ।’ (स्लोक १८६-१९१)

इस धर्ति स्तुति कर यश, वासुदेव व बलराम के चुप ही जाने पर प्रभु विमल स्वामी ने यह देखना दी : (स्लोक १९०)

अकाम निर्जंरा रूप पुण्योदय से जीव स्थावरकाय से लक्षकाय

लग में उत्पन्न होता है। मनुष्य जन्म, आर्य देश, उत्तमकुल, समस्त इनिदियों की पठुना और वीर्य आयुष्य तो कर्मों के अद्विकारीण हो जाने से बिल जाते हैं। सद्गुर्म सदगुर और उन्हें सुनने की इच्छा भी प्रचुर पुण्योदय के पात्र से प्राप्त हो जाते हैं; किन्तु नश्व शङ्खा रूप सम्यक्त्व प्राप्त होना दुष्कर है। राजा या चक्रवर्जी होना भी उत्तरा दुष्कर नहीं है जितना दुष्कर है जिस प्रकृष्टित प्रसंग द्वारा वीरियाम प्राप्त करना। समस्त जीवों ने इसी प्रकार पूर्व में भी अनन्त बार इस भाव को ग्रहण किया है; किन्तु उन्हें संसार-भ्रमण करते देख कर कहा जा सकता है कि वोधि-रूप इन्होंने इसके पूर्वे प्राप्त नहीं किया। इस संसार में परिभ्रमण करते समय समस्त प्राणियों का पुण्यल परावर्तन अनन्त बार हुआ है। जब अन्ततः अद्व-पुद्गल परावर्तन अवशेष रह जाता है और जब सब कर्मों की हितति एक कोटाकोटि सागरीयम से कम रह जाती है तब यथावृत्तिकरण में अप्रसर होकर जीव राजीवेद फर उत्तरा वीरियरूप हो जाता करता है। कुछ जीवों का ऐसा भी होता है कि वे यथावृत्तिकरण के पश्चात् प्रत्यिभैर्द की सीमा पर आकर भी भटक जाते हैं। वे उससे जागे नहीं जा पाते और संसार-चक्र में अवृत्तित होते रहते हैं।

(श्लोक २०१-२०६)

कुषास्त्र अवण, मिथ्यादिवर्दों का संग, मन्द वासना और प्रमाद वीरियरूप की प्राप्ति में बाधक है। यद्यपि चारित्र-रूप पाना दुर्लभ है फिर भी वीरियरूप की प्राप्ति के पश्चात् चारित्र-रूप पाना सहज हो जाता है। कारण, चारित्र की सफलता वीरिय के अस्तित्व पर ही निर्भर है। अन्यथा प्राप्त चारित्र भी निष्ठकल हो जाता है। अभव्य जीव भी चारित्र ग्रहण कर नवम् यैवेषक पर्यन्त उत्पन्न हो सकता है; किन्तु वीरियरूप के अभाव में मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। वीरियरूप के अभाव में अक्षवर्ती भी दरिद्र है। दरिद्र भी यदि वीरियरूप की प्राप्ति कर ले तो वह जक्षवर्ती से भी धेरेह है। जिसे वीरियरूप की प्राप्ति हो गई है संसार के प्रति उसका कोई अनुदाग नहीं रहता। समर्थरहित वह जिना बाधा के मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है।

(श्लोक २०९-२११)

अग्रवासु का यह उपदेश मुनकर अधिकतर श्रोताओं ने मुनि धर्मे ग्रहण कर लिया। सम्यम्भू शानुदेव ने सम्यक् दर्णन और अजदेव

ने श्रावकत्व प्राप्त किया। दिन के प्रथम ग्राम तक प्रभु ने देशना की। तदुपरान्त इसी अनुरूप भाषा से प्रथम शणधर भन्दार ने देशना की। द्वितीय ग्राम गेष होने पर उन्होंने अपनी देशना समाप्त की। इन्ह, बासुदेव, बलदेव आदि सभी स्व-स्थ निवास को लौट गए।

(प्रशोक २३४-२५६)

विमल स्वामी ने साक्षात्गत मनुष्यों के कल्याण के लिए नगर, ग्राम, जात, अन्दरगाहों आदि विभिन्न स्थानों पर प्रवर्जन किया।

(प्रशोक २५७)

भगवान् विमलनाथ के साथ ६५०० साथु, १००८० सातियाँ, ११०० चौदह पूर्वघारी, ४८०० अवधिजानी, ९००० ईकिय लचिन-भारी, ३८०० बादी २०८००० श्रावक, ४२४००० श्राविकाएँ थीं। केवल जात प्राप्त करने के पश्चात् २ अर्ब कम १५ लाख वर्षों तक प्रभु ने पृथ्वी पर विचरण किया।

(प्रशोक २५८-२८३)

पश्चात् निषणि समय निकट जानकर प्रभु विमलनाथ ५००० साथुओं साहूत सम्भव शिष्यर प्रबन्ध और अनशन तप प्रारम्भ कर दिया। एक माह वे अनशन के पश्चात् भाषाह छाणा सप्तमी के दिन चन्द्र जड़ पुष्प नक्षत्र में या उन पांच हजार साथुओं सहित भगवान् भोग प्रभार गए। शकादि देवों ने आकर भगवान् और मुनियों का शाहू-संस्कार कर निषणीत्वं विद्या। भगवान् १५ लाख वर्षों तक कुमारावस्था में ३० लाख वर्षों तक राज्याधिपति रूप में और १५ लाख वर्षों तक स्थानी जीवन में रहे। इस प्रकार कुल ६० लाख वर्षों का पूर्ण आयुर्वय प्रभु ने भोगा। शासुपूज्य स्वामी के निर्वाणकाल से विमल स्वामी के निषणि में ३० सागर का अन्तर था।

(प्रशोक २८४-२९८)

अपनी शक्ति के अंकार के कारण विवेक नष्ट हो जाने से स्वयम्भु ने कथा-कथा कुकर्म नहीं किए। ६० लाख वर्षों की परमायु भोगकर स्व-कुकर्मों के कारण वे छठे नरक में आकर ढरपत्र हुए। स्वयम्भु ६२००० वर्षों तक युवराज रूप में १२००० वर्षों तक शासक रूप में १०००० वर्षों तक हितिजय में एवं ५९७६९० वर्षों तक अर्द्धचक्री रूप में पृथ्वी पर रहे।

(प्रशोक २९९-३०३)

माई की मृत्यु से संसार से विरक्त बने बलदेव मुनि अन्न के

पास आकर दीक्षित हो गए। अपनी आयु के ६५ लाख वर्ष व्यतीत कर मृत्यु के पश्चात् वे मोक्ष लले गए। (इतीक ८३३)

हृषीय सर्ग समाप्त

सत्यं भवते

सिंडों के अनन्त चतुर्षय ले समस्त और संसार के समस्त प्राणियों के लिए मोक्षरूप अनन्त गुणप्रदात्तकारी भगवान् अनन्तनाथ तुम्हारी रक्षा करें। संसार रूपों भव यमुद को पार करने में नौका स्वरूप भगवान् अनन्तनाथ का भव में जीवन वर्णन करूँगा।

(इतीक १०२)

थातवी खण्ड द्वीप के पूर्व विवेह में ऐरावत नामक विजय में अरिष्ट नामक एक प्रमुख नगर था। वहाँ पश्चात् नामक एक राजा राज्य करते थे। उनके बड़े-बड़े महारथ थे जो कि शत्रु-रथियों के रथों के सम्मुख पर्वत तुल्य दुर्भय थे। समस्त शत्रुओं को पराजित और समस्त पृथ्वी को अपने अधीन कर वह राज्यपत्री को तृणवत् गमणने लगा और मोक्षधी को प्राप्त करने के लिए उद्गीत हो उठा। उपवन विहार, जलकेलि, गायकों के सुमधुर संगीत-अवण, हस्ती-जपवादि पशुओं का नानाविध कीड़ाधर्णि, नाटक और दसदिव नाटक सह वस्तलोन्तन्त्र एवं कीमुदी धारि वहुविप्र उत्सव अचलोकन, स्वर्ग के विमान-से प्राप्ताद में निवास, नाना व्रकार के वहत्वालंकार परिधान और सुगन्ध इन्द्रिय का लेपन करने में श्रीरै-श्रीरै उनकी रुचि सभाप्त ही गई। पहले भी इन सबके प्रति उनमें रुचि थी ऐसा भी नहीं था। केवल लोक-अवहार के लिए वे इन काव्यों को करते थे। कुछ दिन हस्ती धांति च्यतीत होने पर चित्तरक्ष मूर्ति से उन्होंने दीक्षा ले ली। दीस स्थानक और अर्हत्-उपासना कर उन्होंने चीर्यकर गीत कर्म उपार्जन किया और मृत्यु के पश्चात् प्राणत देवलोक के पुज्योत्तर विमान में देव-स्थल में उत्पन्न हुए।

(इतीक ३-११)

जमूदीप के भरत ध्येय के दक्षिणाद्वै में व्योम्या नामक एक नगरी थी जो कि इक्ष्वाकु कुल रूप पर्वत की आधारशिवा थी। निर्मल जलपूर्ण एतिहा लभत्वित वह नगरी मेवला परिहृत रति-

कामी सुन्दरी हड़ी-मी लगती। वहाँ के अन्तःपुरों के प्रवेश और तिर्गमन-द्वार प्रशस्त थे, सन्धियाँ हड़ थीं कुट्टिपतल प्रेक्षणीय और कीड़ा के लिए विशद भूमिकुल था। अन्त पुर का ऊपरी भाग स्वर्ण जास्तयुक्त होने से लगता था मानो अन्तःपुरों ने गृह-लकड़ी की मुकुट-माला को धारण कर रखा है। नगरी के अहंत सन्दिरों में निवेदित पुलों का सौरभ बाहु में प्रवाहित होकर नगर-जनों के तालाप-हरण में आमृत-तुल्य था।

(श्लोक १२-१६)

महों के राजा गिरु-तुल्य वस्त्राली नरसिंह सिंहसेन थे। भक्तिवदातः जिस प्रकार देवों की सेवा की जाती है उसी प्रकार राजत्यध्यने काहण के लिए इनकी सेवा करते। सदगुणियों में अपराधिय व राजा अपने विभिन्न निर्मल सद्गुणों में उसी प्रकार सबकी प्रमुदित करते जैसे सद्गुणनी निर्मल कौमुदी से पृथ्वी को आनन्दन करता है। यांत्र्य की भी भौम्यता की दहन करने वाले उन्होंने अपेक्षामें-काम को इस प्रकार धारण कर रखा था जनों व सब उनकी सेवा में उपस्थित हैं।

(श्लोक १७-२०)

उनकी पहचान नाम या सुपर्णा। वह धर्म के नियारा रूप और चारिङ्ग रूपी यथा का आधार थी। मनदाकिनी जिस प्रकार विलोक को परिव्रक्त करती है उसी प्रकार उसने मातृकुल, गिरुकुल, श्वसुरकुल रूप विलोक को परिव्रक्त कर दिया था। चन्द्र उसकी मुख्याकृति धारण करता, कमल उसके नयनों का अनुज था। एवं उसकी भूजाओं का सखा था। कलश पद्मोधर का सहोदर था। मुका नामि के पुत्र-सुल्तान था, नदी सैकल नितम्बों की अनुकृति और कदली-बृक्ष उसकी जंयाओं के अनुज थे एवं कमल पदमल के। वस्तुतः उसकी सुन्दर देह का फोई भी अंश ऐसा नहीं था जो अनुसर्मीय नहीं हो।

(श्लोक २३-२५)

प्राणत नामक स्वर्ण में पश्चरथ के जीव ने बड़े आनन्द से वहाँ का सर्वोत्तम आमृत्यु पूर्ण किया। आवण कृष्णा सप्तमी की चन्द्र जब रेती नक्षत्र में था वह वहाँ से चयवकर रानी सुपर्णा के नर्थ में प्रविष्ट हुआ। भुज-जायया में मोई रानी ने रात्रि के गेष याम में अहंत-जन्म सूचक हस्ती आदि चौदह महास्वप्न देसे। येशाख शुक्रना व्रयोदयी को जन्म जब पुर्ण नक्षत्र में था रानी ने स्वर्ण वर्ण श्येत लक्षण युक्त एक पुल को जन्म दिया। रुचकादि पर्वतों से छपन

विक्रमारिया आई और जानक के जन्म कृत्य सम्पन्न किए। सौधर्म कला से इन्द्र बहुं आए और तीर्थकर एवं तीर्थकर-माता को नमस्कार कर प्रभु की वाकाश-पथ से मेरुशिखर पर ले गए। उन्हें गोद में लेकर वे अति पाण्डुकवला यिला पर एवं गिरावत पर बैठ गए।

(स्लोक २५-११)

फिर तीर्थादि से लाए जल से अन्युतेन्द्रादि लेसठ इन्द्रों ने यथा समय उनका स्नानाभिषेक किया। मानो उनका भार बहुत करने में अक्षम हो इस प्रकार लाक वे महावली प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में दैड़ाकर स्फटिक निमित विपुलायतेन बृद्धभों के शृंग से निर्गत जल से उन्हें स्नान करदाया। तदुपरान्त देवदूष्य वस्त्र से उनकी देह पीछफर देह पर चन्दन-लेपन, पूजा आदि कर इस प्रकार स्तुति की :

‘जो आपके घरणों में गिरकर शुनिलिप्त होता है उसके लिए गो-शीर्ष चन्दन से चवित होना कुछ भी कठिन नहीं है। भक्ति-भाव से जो आपके भस्तक पर एक रूप भी चढ़ता है वह सर्वदा छवयुक्त होता है। जो आपकी देह पर एक बार भी अंगराग लेपन करता है वह निष्पत्त ही देवदूष्य वस्त्र धारण करता है। एक बार भी जो आपको गले में पुष्पमाला अपित करता है उसके गले में देवियों की जला-सी बाहुए बेटित होती है। एक बार भी जो आपका निर्मल गुणगान करता है—उसका नाम देवियों हारा कीर्ति होता है। आपके सम्मुख जो एक बार भी भक्ति भरे नलित पद्मोप से नृत्य करता है उसके लिए ऐरावत की गीठ पर अड़ना कोई बड़ी बात नहीं है। दिन और रात्रि जो आपके दिव्य स्वरूप का ध्यान करता है, है प्रभु ! वह आपके स्वरूप को प्राप्त कर यथा के लिए ध्येय ही जाता है। आपकी कहाँ से मुझे आपका स्नानाभिषेक, अंगरागलेपन, अलंकारों से आपको राजित करने का अधिकार सर्वदा प्राप्त हो।’

(स्लोक १३-४४)

इस प्रकार स्तुति कर लाक ने तीर्थकर भगवान् को ने जाकर देवी सुखणा के पास सूचा दिया। तदुपरान्त नन्दीश्वर हीप में यास्त्र जिनेश्वरों के गन्मुख अष्टाहिका महोत्सव कर लाक एवं अन्य दन्द थपते-अपने निवास-स्थान को लौट गए। (स्लोक ४५-४६)

जब यह पुल गंगा में पा तक महाराज सिंहसेन ने धारु की

अनन्त बलमुक्त संघ को पराजित कर दिया था अतः आतक का नाम रखा गया अनन्तजीवि । यह जातक मातृ-स्तम्भ पान त कर घोगी औसे ध्यानमृत पान करता है वैसे ही क्र-अंगुष्ठ का अमृत पान कर लदित होने लगता । कमाल जौहान अतिक्रम कर चढ़ाकी भूति उन्होंने पूर्ण योवन प्राप्त किया । आप ५० धनुग दीर्घाकार थे ।

(प्रतीक ४७-४९)

पथिक जिस प्रकार परित्याग के लिए व्याधम का संधान करता है वैसे ही पिता की आक्रा से, परित्याग कर्ता गा यही सौचकर, उन्होंने विवाह किया । साके सात लाख वर्ष अतीत हो जाने पर पिता को आनन्दित करने के लिए उन्होंने राज्यभार भी प्रहण किया । यन्त्रह लाख वर्ष तक राज्य शासन किया लकुपरात्म उसके मन में संसार-परित्याग की हल्दा जाग्रत हुई । उसी समय प्रत्यलोक से सारस्वत आदि लोकार्थिक देव उसके निकट आग और बोले, हे देव, अब तीर्थ स्थापित कीजिए । कुवेर डारा प्रतिल और जूषधा केदों द्वारा लाए अर्थ को प्रभु ने एक वर्ष तक दान किया । उससी दान की समाप्ति पर देव असुर और नरेन्द्रों ने मुमुक्षु प्रभु का स्नानाभियोग सम्पन्न किया । तत्परचात् विलोक्याय चन्दन वश्च-भूषण और माल्यादि धारण कर सान्तरेता नामक उसभ शिविका पर आरूढ़ हुए । उनके छल चंद्र और पंखों को शकादि देवों ने बहन किया । इस भाँति प्रभु शिविका पर आगोहण कर सहस्राभ्यवन उद्याम में पहुँचे ।

(प्रतीक ५०-५१)

प्रभु भनसिंज की भाँति उस उद्यान में प्रविष्ट हुए जहाँ नगर-नागरियों वेचरियों की भाँति प्रेणा में भूल रही थी । उस उद्यान ने अशोक के नव-उद्दगत किसलयों से रक्तिम वर्ण धारण कर रखा था । वनस्थिमी की चंचल अवकाशवियों की तरह मधुपान में मतवाले भगव इष्टर-उधर उड़ रहे थे । नव पलब्र उद्दगत कर पंखों के आन्दोलन से भानो आश्रुका नगर-नागरियों के श्रीङ्गाजनित धर्म का अपहरण कर रहे थे । कुण्डल की तरह कणिकार पुष्ट बसन्त लक्ष्मी के कानों में लटक रहे थे और कचनार के पुष्टों ने उसके कपोलों पर स्वर्ण-किञ्चक की रचना कर रखी थी । कोकिल कुहू-कुहू याथों से भानो उनका स्वागत कर रहा था ।

(प्रतीक ५२-५३)

नक के हाथों पर हाथ रखकर प्रभु सागरदत्त शिविका से

उत्तरे और उसी उद्घान में प्रविष्ट हुए। उन्होंने अपने अलंकारादि उतार दिए। ब्रैशाल कृष्ण ज्ञानदेशी को चन्द्र जब रेवती नक्षत्र में पा तब दो दिनों के उपवासी प्रभु ने एक हृजपर राजाओं सहित दीक्षा महण को। प्रभु को बन्धन कर दाकाशि देव कायं समाप्ति पर जैसे मनुष्य घर लौट जाते हैं वेसे ही आनं-अपने निवास स्थान को लौट गए। दूसरे दिन सुबह चौथक्ष्ये सीर्पकर भगवान् ने बर्द्धमानपुर के राजा विजय के घर छीराम ग्रहण कर उपवास का पारणा किया। उसी समय रत्नबृहिं आदि पंच दिव्य ग्रन्थ त्रुट हुए। प्रभु जहाँ खड़े थे उस स्थान पर राजा विजय ने एक रत्नमय वेदी का निर्माण बारबाया। प्रभु अपद्यम (भाषाहीन) होने पर भी छपस्त साधुओं की तरह परिप्रहों को सहृद करते हुए विभिन्न स्थानों में विनाशन करने लगे।

(स्लोक ५३-५८)

जम्बूदीप के पूर्व विदेह में धानन्द के निकेतन स्थस्त नन्दपुरी नामक एक नगर था। वहाँ के राजा का नाम था महावल। उन्होंने के लिए कुछ दामकारी वे अद्योक वृक्ष की तरह कुलस्त्री उद्घान के अलंकार स्थस्त थे। महामना वे जिस भाँति नन्द नगर-दाली शामवासी से दीतशब्द हो जाते हैं वेसे ही संसार-वास से बोतशब्द हो गए थे। उन्होंने अहंपि धूपम के चरणों में प्रसुंधकर केश उत्पादित कर बारित्र ग्रहण कर लिया। उनम फल प्रदान करने वाले बारित्र का पालन कर मृत्यु के पम्नान् वे गहस्तार देवलोक में सुख्य देव के रूप में उत्पन्न हुए।

(स्लोक ५९-६१)

जम्बूदीप के भरत धेश में पुरन्दर की नगरी जैसी कीशाम्बी नामक एक नगरी थी। उस नगरी के राजा का नाम था समुद्रवल। वे समुद्र की तरह ही गम्भीर थे और साधुओं के रसस्त रहनों के आकार थे। उनके नन्दा नामक एह पत्नी थी। वे नन्दालोक की तरह नेत्रों को प्रिय और सौन्दर्य में देव रमणियों के गत्वं को भी खण्डन कर देने वाली थीं।

(स्लोक ६४-६६)

मलय देश के राजा चंडशासन समुद्रवत्त के मित्र थे। बस्त-मित्र मलय वक्त की तरह एक बार वे समुद्रवत्त के यहाँ गए। समुद्रवत्त ने भी अपने सहोदर की भाँति उन्हें और उनके संगियों का अपने घर में धूब बादर-सत्कार किया। वहाँ नण्ड-शासन ने समुद्र की जात्री-सी, नदियों को आनन्द देने वाली समुद्रवत्त की पत्नी

नन्दा की देखा। उसे देखते ही उसका देह स्तम्भित हो गया मानो वह कामदेव के असह्य शर से बिध गया हो, इस प्रकार स्वेदभूर्ज ही गया मानो विच्छेद के ताप से जल गया हो, इस प्रकार रोभाचित ही उठा मानो प्रेम का अंकुर प्रस्फुटित हो गया हो, उसके देह-सौष्ठव्य को देखकर चण्डशासन का कण्ठ अवरुद्ध हो गया मानो राहु ने उसे गम लिया हो, उसकी देह कोपने लगी मानो वह उसके आलिङ्गन की उस्तुक हो गया हो, घर्णहीन हो गया मानो उसे न पाने के दुःख से बिवर्ण हो गया हो, अशुजल से उसकी हड्डि मूर्छागम्भ हो गई मानो उसे न पाने के कारण उसकी मृत्यु सम्मुच्छ उपस्थित हो गई हो। मुगाडित अंग-प्रत्यंग वाली नन्दा को देखकर इस शांति के कीन-कीन से भाष उसके मन में उदित नहीं हुए ? (श्लोक ७३-८५)

समुद्रदत्त मित्र पर विश्वास करते थे। इसका जाभ उठाकर चण्डशासन बाज जैसे हार उठाकर ले जाता है उसी प्रकार नन्दा का अपहरण कर ले गया। राशम-से शक्तिशाली और मायाकी भनुष्य द्वारा अपहृत पत्नी का उदार करने में असमर्थ समुद्रदत्त को संसार से बैराग्य हो गया। हृदय में अधमण का शाल्य लिए उसने मुनिवर श्रेयांस से दीक्षा प्रहृण कर ली और काटोर तास्या कर यह निदान कर लिया कि यदि इस तपस्या का कुछ फल है तो मैं नन्दा के अपहरण करने वाले का बध कर सकूँ। इस निदान से उसने तप के फल को सीमित कर लिया और मृत्यु के पश्चात् भहलार देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ। (श्लोक ८६-९१)

मथा समय चण्डशासन की भी मृत्यु हुई और संवारावर्त में विभिन्न भावों में भ्रमण करता हुआ वह इसी भरत धर्म की पृथ्वी नामक नगरी में राजा विश्वास के औरस से गुणवत्ती के गंभीर से मधु नामक पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। तीस लाख वर्ष ही परमायु वाला पञ्चाश अनुय दोर्य उमलवर्णीय मधु कलमान पर्वत-मा लगता था। अपनी नम्मी भूजाओं के कारण वह मनोहर एवं प्रशस्त वक्ष के कारण अधित्यका निवासी होनी हन्त विश्वाट दिव्याज-सा लगता था। और भाव में अलने पर भी उसके पश्चात् से पृथ्वी धास-फूस पूर्ण विवर की भाँति धैर जाती। जब वह पूर्वजतीं राजाओं के नीरस्य की कहानी सुनता तब उसका कोई प्रतिष्ठन्ती नहीं है जानकर दुःखी होता। उसने एक छोटे गाम की तरह लेन-खेल में भरतार्द्ध-

को जय कर लिया और अन्नीम बाहुबलधारी के रूप में अपना नाम चन्द्रसेष्ठल से छुदवा दिया । वक्त द्वारा शत्रुओं का दमन कर वह शक्ति की तरह शक्तिशाली और मनुष्यों में सूर्यतुल्य चतुर्थ प्रतिष्ठासुदेत हुआ । (श्लोक १२-११)

उसके कौटुम्ब नामक एक भाइ था । वह धार्म से तुष्णि लग्ने वाला सुप की तरह शत्रुओं को हाथों से निपटित कर देता । शत्रुघ्नियों का उपभोग करने के कारण उसने सुन्दर व्यरुप प्राप्त किया था । (श्लोक १००)

उसी समय चन्द्र-सूर्य-से गुणवान सोम नामक एक राजा द्वारका में राज्य कर रहे थे । उनके दो पत्नियाँ भी जिनमें एक का नाम था सुदर्शना । वह वेष्णने में वहुत सुन्दर थी । दूसरी का नाम था लोता । लोता का भुख था पूर्ण चन्द्रिना । सहस्रार स्वर्ण से राजा महाबल का शीढ़ च्युत होकर मुदर्शना के गंभीर में प्रविष्ट हुआ । राज्ञि के शेष याम में बलदेव के जन्म की सूचना देने वाले चार महास्वप्न उसने दें । नौ महीना साढ़े सात दिन च्यनीत होने पर रानी सुदर्शना ने चोद-से नीरवर्णीय एक पुत्र को जन्म दिया । राजा लोम ने भिक्षार्थियों की तृप्ति कर महा उत्सव के साथ पुत्र का नाम रखा सुप्रभ । (श्लोक १०३-१०५)

समुद्रदत्त का दीव भी सहस्रार बेवलोक का आयुष्य पूर्ण कर रानी सीता के गंभीर में प्रविष्ट हुआ । राजि के शेष याम में सुख-शत्र्या में सोई हुई उसने वासुदेव के जन्म सूचक सात महास्वप्नों को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा । समय पूर्ण होने पर उसने सर्वे सुन्दरणयुक्त भरकतवर्णीय एक पुत्र वरी जन्म दिया । एक शुभ दिन देखकर पिता ने चतुर्थ वासुदेव का नाम रखा पुष्पोत्तम ।

(श्लोक १०५-१०६)

नील और पीत वस्त्रधारी तालधब्ज और गडधब्ज वाले दीर्घचाहु वे परस्पर असीम प्रेम के कारण यज्ञ-से लगते थे । उन्होंने अल्प समय में ही गुरु से समस्त विद्याएँ सीख लीं । पूर्व जन्म के सुकृतों के कारण ही महापुरुषों के लिए यह सम्भव हो गया है । खेल ही खेल में उनके द्वारा किए मुण्डाषात को भी सीनिक राहन नहीं कर पाते थे । कारण, हस्ती स्पर्मासाक्ष से और सर्प निष्ठव्योंग्राम से ही निहत करने में समर्थ होते हैं । पवन-से बलधारी वे श्री

के निकुञ्ज-ब्रह्म से यौवन को प्राप्त हुए। देवों ने उन नर-रत्नों की विजय युध का अस्त्र-रत्न दिए। अद्यत को हुए अपि एवं अनुज को मारंग थादि। (स्लोक ११६-११७)

जब बलराम और वासुदेव मम्पूर्ण शर से भर्त्य और दक्षिणाम द्वारा तब कलहप्रिय नारद एक दिन प्रतिवागुदेव मधु के गृह गए। रीतिवित् मधु ने उन्हें भमावर किया और प्रणाम आरते हुए बोला— 'स्वागत महामुनि, स्वागत! पुण्य योग से ही आज आपसे भक्षात्कार हुआ है। भरतार्द्ध के समस्त राजा मेरे अधीन हैं, महोत्तम कि यमगत, वरदाम और प्रभासपति आदि देव भी मेरे आगामानी हैं। अतः हे नारद मुनि, आप निर्भय होकर आपके आने का कारण मुझसे कहें। कोई भी वस्तु या स्थान आपको अभिप्रेत हो तो कहें, मैं वह आपको देने में समर्थ हूँ।' (स्लोक ११८-११९)

नारद बोले— 'मैं चित्ती वस्तु या स्थान-प्राप्ति के लिए यहाँ नहीं आया हूँ। मैं तो यहाँ आया हूँ केवल विनोद के लिए। योग आपको मिथ्या ही अद्वैतभरत का अधीश्वर कहते हैं। याटुकारों की तरह आपका गुणगत करते हैं। सत्यवादी अब हैं कहाँ? बुद्धिमान व्यक्ति जोभी भिक्षात्थियों द्वारा प्रशंसित होकर लम्जित ही होते हैं, एवं निश्चय ही उनका दियदाता नहीं करते। पराक्रमियों में भी महादरवाङ्मी हैं और महानों में भी महत्। पृथ्वी तो बहु रत्न भंभवा है।' (स्लोक १२०-१२१)

इसी वक्त के मध्य जैसे अन्न अन्ननिहित होता है उसी प्रकार अन्ननिहित कोथ से ओष्ठ दंशन कर मधु नारद से बोले— 'इस भरतार्द्ध में मंगा से कौन सी नदी बड़ी है, वैताङ्ग से कौन या पर्वत बड़ा है और मुझसे और कौन यशशाली है? बद्रदण्ड उपर्यान नाम। शरभ के समुख ही हस्ति-शाश्वत की तरह उसमें कितना बल है यह मैं आपको दिखा दूँगा। कोई मच्य या उन्मादी ने आपका अवमान किया है जो कि उसकी मृत्यु की आपसा आप प्रशंसा के बहाने आह रहे हैं।' (स्लोक १२२-१२३)

नारद बोल— 'मैं मध्य ग्रन्थ उन्मादी के पाग नो आता ही नहीं अतः उनके हारा मेरे अवमान का तो कोई प्रण नहीं नहीं उठता। लभी आपने कहा अद्वैतभरत के अधीश्वर हैं, आदे से ऐसा गत रहिष्यगा। कारण, यह क्यन हास्यास्पद है। राजन्, क्या आपने

लोक मुख से कही द्वारिकाधीश सोम के दोनों पुत्र सुप्रभ और पुरुषोदाम के विषय में नहीं सुना ? महाबलशालो, दीर्घबाहु, परस्पर स्नेहदील और दुर्मह, मूर्तिमान पवन या अर्चि, एक हाथ में समुद्र और पर्वत, पृथ्वी को उठाने में मरण हैं। उन्हें देखकर लगता है मानो कीटहन के लिए शक्ति और ईशानेन्द्र ही इस पृथ्वी पर उन्हर आए हैं। सिंह जैसे बनकाष्ठ पर अधिकार कर भेजा है उसी प्रकार भरत पर उनका अधिकार है। यशान् रुद्री की तरह वज्र नदा तो आप वृथा गर्व कर रहे हैं।' (स्लोक १२८-१३१)

यह सुनते ही मधु के नेत्र फोक से रक्तिम हो उठे, तुरन्त जैसे युद्ध की कामना कर रखा ही इस प्रकार वह दाँत पीसते हुए बोला— 'आप जो कुछ कह रहे हैं वह पर्वत सत्य है तो मैं यम और आपको इस मुझ को देखने के लिए आमतिकता करता हूँ और यह भी कहता हूँ कि मैं द्वारिका को सोम, सुप्रभ और पुरुषोदाम से शून्य कर दूँगा यह अन्यथा नहीं है।' (स्लोक १३४-१३५)

ऐसा कहकर नारद को शिदा देते हुए उन्होंने सोम और सोम-पुत्रों से गोपनवाहारी करने वाला दूत भेजा। दूस की वज्रि अपनी कोई प्रकृति नहीं होती; किन्तु वह अपने प्रभु की शक्ति से दक्षिणाखी हो आता है। इसी प्रकार दक्षिणाखी बनकर वह दूत सोम और सोम-पुत्रों के पास जाकर बोला—

'गव्यों के गर्भ को खण्डन करने वाले, सदाचारियों के लिए सौम्य बाहुबल से सर्वत्र विजयी, युद्ध विद्या में प्रवीण, जिनके चरण-कमलों की दक्षिण भरताद्वारा के उच्चकुल जात राजन्यही पूर्ण हास की करह सेवा करते हैं, वैताहिक पर्वत की दक्षिण श्रेणी के विश्वासीर राजा भी जिन्हें कर देते हैं, द्वितीय धार्माष्टम की शांति जिनकी आकाश सभी शिरोधार्य करते हैं वही अद्दे-चक्री मधु अर्ह-भरतरुपी उद्यान के ब्रह्मन रूप आप लोगों को यह आदेश देने के लिए मुझे यही भेजा है—राजन्, ध्यान से सुनिए। हम जानते हैं कि आप हमारे प्रभु के प्रति अनुगत थे; किन्तु अब सुना गया है कि आपने अपने पुत्रों के बल के शारण उस आनुगत्य को बदल दिया है। मदि पूर्व की तरह ही आपका आनुगत्य उनके प्रति है तो कोण की चाबी सहित उन्हें उपहार भेजें। उनकी इच्छा से आप सब कुछ फिर प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य पृथ्वी से जो जल महण करता है वह पुनः पृथ्वी

को जीठा देता है; किन्तु उनके कुछ होने पर जो कुछ भी ऐश्वर्य आपके पास है सब नष्ट हो जाएगा। कारण, प्रभु के कुछ ही जाने पर उनके भक्त से ही ऐश्वर्य चला जाता है। प्रभु पदि विरोधी होने नो ऐश्वर्य को दूर पर्नी, गुल, अमृ-आनंदव भी नहीं रह पाते हैं। आप प्रभु की लाजा का पालन कर विधिवत राज्य धार्मन करिए। आपके विरोधियों के अवृय बुकुर-चाकार को भाँति मिथ्या हो जाएँ।' (स्लोक १५३-१४८)

यह सुनकर कोध से उन्मत्त बते मुश्तोलम बोले—'कूद होने के कारण तुम्हारा बध नहीं किया जा सकता तभी तुम नरक के कुने की तरह इस प्रकार बोल गए हो। तुम उन्मादी हो या भूषण, ब्रमणी हो या पिशाचप्रस्त जो ऐसा बोल रहे हो? नशता है तुम्हारे प्रभु ही ऐसे हैं जिन्होंने यह गब कुछ कहने को सुन्ते भेजा है? वाष्पों के नाटक में जैसे कोई वन्द्या राजा का अभिनय करे उसी प्रकार तुम्हारे प्रभु भ्रमित प्रभु का अभिनय कर रहे हैं। उस अविनयी को हमने कब प्रभु कहकर स्वीकृत किया है? वाष्पों से ही यदि इच्छा का परिमाप हो सकता है तो वे लघुर्यों को इन्द्र रुद्रों नहीं कहते? राज्य-ऐश्वर्य यमपत्र हम पर उन्होंने ही आक्रमण किया है। जबार हारा कृश पर निकिप्त होकर अछलियाँ जिस प्रकार मारी जाती हैं तुम्हारे प्रभु भी अब मेरे हारा उमी प्रकार मृत्यु को प्राप्त होंगे। जाओ—फरकामी अपने प्रभु से कहो—यहाँ आकर भूद्वकर कर ले जाएँ। कीरदाम का अर्थ जैसे गहण किया जाता है उसी प्रकार उसके प्राण सहित मैं अब उनका समस्त ऐश्वर्य गहण करूँगा।'

(स्लोक १५५-१५६)

पुरुषोत्तम के कथन से कुछ बना द्वात लौट गया। कहना फिल था कि भी उसने सारा वृत्तान्त मधु को खोलकर बता दिया। मेघ शब्द से शरम जैसे कुछ हो जाता है वैसे ही वासुदेव के कथन से मधु कुद्द हो उठा। उसने उसी थण युज का भगाडा बजाने की आज्ञा दी नगर्हे की भवान्धुर अवाज नुतकार बन्दरों ने कान में उंगली डाल नी। मुकुटधारी राजा, अप्रतिहत योद्धा, मेनापति, मरवी अन्य सामन्त और युद्ध में उनी के अवृक्ष मोढाओं से परिवृत्त होकर मधु ने देवों सी तरह साया रूप धारण कर युद्ध के निप प्रयाण किया। युद्धकृत और अमृतनकारक चिक्को की उग्रता

यार अपने बहुबल के अहङ्कार से अहङ्कारी बना वह मृत्यु हारा आकृष्ट होकर दीद्ध ही तीमा पर जा पहुंचा। यम जैसे वासुदेव भी वहां मोम, सुप्रभ, सेतापति और सैनिकों से परिवृत होकर उपस्थित हुए। इमर्य पक्षों के सैनिकों ने अस्तवाही ऊटों के पास जाकर अपने-आपने अस्त्र-शस्त्र भ्रूण किए और धनुष पर ढंगार देने लगे। तदूपरान्त एक साथ अनेक अस्त्र आकाश में उत्थीजन हुए और उक्तपाल को उत्सुक राक्षस की तरह बहुतों का विनाश कर डाना।

(श्लोक १५५-१६३)

उत्तम हस्ती महावत द्वारा चालित होकर कभी जागे बड़ते हुए, कभी गीछे हटते हुए आरो दांतों से मुड़ करने लगे। एक और वशी दूसरी ओर तोमर लटकाकर हाथों में तलबार लिए अष्टवारोहियों ने दूतगति से अपने ध्रुवित किए। दो रथ सिंधु नदी के दोनों ओर की दृश्य भूमि पर दृश्यी जो लक्षित करते हुए परस्पर निकट आए। पैदल सेना के कीर सैनिक तलबार से तलबार, छाल से छाल पर आघात कर मुड़ करने लगे। मुहूर्न भर में वासुदेव की सेना प्रलयकालीन वायु से जैसे दृढ़ भग्न हो जाते हैं वैसे ही भग्न ही गई। तब वासुदेव बलभद्र समित आगे आए और शत्रु के लिए अगुभगोतक अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया। इसके शब्द को सुनकर भधु के कई सैनिक रोप उठे, कई स्तम्भित हो गए, कई चुच्छित होकर धरती पर घिर गए।

(श्लोक १५४-१७०)

जब मधु ने अपने संघर्षदल को नियंत्रण होते देखा तो उसने धनुष की उड़ार करते हुए मुख्योत्तम पर सीधा आकर्षण किया। वासुदेव ने भी अपने धनुष पर उड़ार दी। उस प्रब्द की प्रतिष्ठिति ने स्वर्ण और मूर्यु को शब्दित कर डाला। सरोरा जैसे विवर से सर्व बाहर करता है उसी प्रकार वे तूणीर से तीरण बाण बाहर करने लगे और मारने के लिए एक दूसरे पर छोड़ने लगे। विनाश दो दोनों अस्त्रों द्वारा मानो दिजय-लक्ष्मी को ही विनष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने परस्पर के अस्त्र को नष्ट कर दिया। रस्सी काटने की तरह वे दोनों दूसरे के अस्त्रों को मध्य एथ में ही काटने लगे। समान शक्तिशाली योद्धाओं के युद्ध ऐसे ही होते हैं। दोनों को प्राप्ति समान-सा देखकर परिवर्तन को उत्सुक मधु ने चक्र को रूपरण किया। चक्र भी उसी महूर्त में उसके हाथ में झा गया। मन्त्रपि मधु

वासुदेव को मारने के लिए उत्सुक था फिर भी वह कमिल कण्ठ से वासुदेव को बोला—‘भागो, भागो, अज्ञानतावश तुम कर्यो वाधिनी के दान देखना जाहते हो ? तुम जैसे बालक की हत्या करने से भज-राज की अक्ति या चरितार्थ होती है ? मैं युद्ध विशारद और तुमसे बढ़ा हूँ। मेरी तुलना में तुम बहुत छोटे हो, परंतु की तुलना में हाशी की तरह, बहुद लाठी होने पर भी।’ (श्लोक १६३-१६४)

वासुदेव प्रति-वासुदेव को हँसते हुए बोले—‘सूर्य नवीन उद्दित होने पर भी अन्यकार को दूर कर देता है, अग्नि का एक स्फुलिङ्ग भी समय तृण को दम्भ कर देता है ; तीरत्व का परिमाण यथा डारा होता है ; यश का व्यवस से क्या सम्बन्ध ? द्विष्टा की द्या आधारपक्ता है ? निर्भय होकर अपना चक्र निक्षेप करो। विष उद्गीरण करके ही सर्व पात्ना होता है उसके आगे नहीं।’ (श्लोक १६०-१६१)

मधु ने चक्र को औंगुली पर धारण किया। तिण जैसे फ़लकड़ी चुमाता है उसी प्रकार उसे चुमाकर निक्षेप कर दिया। उस अभिन बदौरुणकारी चक्र ने वासुदेव के वक्ष को नाभि के अन्दराग्ना द्वारा स्पर्श किया। उस आघात से सूचित होकर वे रथ में गिर गए। वासुदेव ने उनके स्तरण की अपनी गोद में लिया। असृष्ट-स्नान की भाँति जाई के हाथ से वासुदेव की संज्ञा लौट आई और मधु के अस्त्रज्ञ के साथ ही मातो उन्होंने चक्र को हाथ में ले लिया।

(श्लोक १६२-१६३)

वासुदेव मधु को सम्बोधित करते हुए बोले—‘अब तुम मेरी तरह खड़े रहने का साहस मत करो। भागो, हीश्च भागो। कारण, कैशरी सिंह के साथ कुक्कुर की क्या तुलना है ?’ मधु बोला—‘चक्र निक्षेप करो। शरद के मेघादम्बर की तरह अपो व्यर्थ गंतवा चार रहे हो ?’ यह भुनते ही पुरुषोत्तम ने चक्र निक्षेप किया जिसने मधु के अस्तक को नाल कन की तरह अमीन पर निश्चिप्त कर दिया। देव जय-जयकार करते हुए आकाश में वासुदेव पर पुष्प दार्पण करते लगे और मधु के अनुबर ‘प्रतु तुम कहो ही !’ कह-फहकर अशुरात करने लगे। पुरुषोत्तम के मेघादति ने महायोद्धा शैदम को निहत कर डाका। मधु के सामने राजाभीं ने उनका आधिकात्य स्वीकार कर लिया।

(श्लोक १६४-१६५)

तदुपरान्त वासुदेव ने माघ, दरदाम और प्रभास सहित समग्र

दक्षिण भरताद्वारा की जय कर दिया। मगध में उन्होंने जिस शित्ता को एक कोटि लोग उठाने में मरण नहीं हो रहे थे उसे हँसते-हँसते उठा लिया और पृथ्वी के धाच्छादन की आक्षि पुनः रख भी दिया। समुद्र-तारंगों से अभिहितिक्षिप्त होते हुए वे पुनः अपनी नगरी हारिका लौट आए। वहाँ सोम, वलराम और अत्यान्य राजत्यों द्वारा अर्घ-चक्री रूप में सानन्द उनका अभिषेक सम्पन्न कर दिया गया।

(प्रलोक १९२-१९५)

अनन्तनाथ स्वामी तीन वर्ष तक छायस्थ रूप में विचरण करते हुए सहजोंभवन उद्यान में रहुंचे। वहाँ अशोक बृक्ष के नीचे जब वे उपानमन थे उनके घाटी कार्म संग्रार के अध्यन की सरह छिप हो गए। वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को चन्द्र जब ऐवंती नक्षत्र में अवस्थित था तब दो दिनों के उपरात्ती प्रभु को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। देव निनित समवसरण में भगवान् ने यथा आदि पवास गणघरों के सम्पुर्ण देशना दी।

(प्रलोक १९६-१९९)

उसी समवसरण में रक्तवर्णी किमुख पाताल नामक यक्ष उत्पन्न हुए। भक्त उनका बाहन था। उनकी दाहिनी तरफ के तीन हाथों में कमल, तलवार और पाश थे। बाएँ तीनों हाथों में नकुल, ढाल और अश्वमाला थी। वे अनन्तनाथ स्वामी के शासनदेव हुए। इसी प्रकार बुद्धवर्णी, कमल बाहना अंकुशा देवी उत्पन्न हुई। जिनके पाहिने दोनों हाथों में तलवार और पाश था एवं बाएँ दोनों हाथों में ढाल व अंकुश था। वे अनन्तनाथ स्वामी की शासन देवी बनीं। भौत के उत्तम द्वार रूप अनन्तनाथ स्वामी जासन देव-देवी सहित पृथ्वी पर विचरण करते हुए द्वारिका नगरी में उपस्थित हुए। शक एवं अन्य देवों ने वहाँ ६०० धनुष धीर्घ वैद्य वृक्ष सहित समवसरण की रक्षाका। भगवान् अनन्तनाथ ने पूर्व द्वार से प्रवेश कर विशाल वैरप वृक्ष की तीन प्रदक्षिणा दी। 'नमो तिथाय' कहकर पूर्व दिशा में रखे रत्न-सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए। एवं भी पथायोग्य स्थान पर जाकर हैठ मर्याँ। व्यन्तर देवों ने प्रभु की तीन प्रतिमूर्ति निर्माण कर आय तीन और रखे रत्न-सिंहासनों पर रख दीं।

(प्रलोक २००-२०८)

राजकीय अनुचरों ने वामुदेव पुण्योत्तम को १५वें तीर्थद्वार के भवित्वसरण की सूचना दी। वामुदेव ने मंवादवाहक को बारह

करोड़ रुपय मुद्राएं दान की ओर बलभद्र सहित समवसरण पहुँचे। भगवान् को प्रदक्षिणा देन्द्र, अन्दता कर पुरुषोत्तम बासुदेव अपने अशज सहित इन्द्र के पीछे जा दीठे। पुनः भगवान् को बन्दन कर शक, बासुदेव और दलदेव गदगद कण्ठ से निम्नलिखित स्तवन का पाठ करने लगे :

(ब्लोक २०९-२१२)

‘हे प्रभो, इत तक आप मनुष्य के मन पर आधिपत्य नहीं करेंगे तब तक उतका अन्तर ऐश्वर्य विषय रूपी व्युत्थों द्वारा लूटा जाता रहेगा। कोई रूपी अन्धकार जो मनुष्य को अन्तर कर देता है वह दूर से ही अथवे के दर्शनों के आनन्द के अनन्दाश्रु जल में काजल की तरह पुल जाना है। अशानी मनुष्य तभी तक मान रूपी राक्षस के अधीन रहता है इत तक मन्त्र रूपी आपकी काणी उनके कण्ठ-कुहरों में भवेश नहीं करती। जिनकी मानरूपी शुखों छिप हो गई है और जो अशारूप मान को प्राप्त कर चुके हैं आपकी कृपा से मुक्ति उनके लिए अहूत दूर नहीं है। जो जितना आकोशारहित होकर आपके पास आता है आप उसे उसी अनुपात से फल प्रदान करते हैं, राग-द्वेष संसार रूपी सरिता की मानो दी धाराएँ हैं। आपकी शिक्षा से वीत-राग-द्वेष होकर उन दोनों धाराओं के मध्य दीप की भाँति अवस्थान करना समझ है। जिनका मन मुक्ति के लिए उन्मुख है उनका मोहान्धकार दूर करने को और कोई नहीं आप ही एक मात्र आत्मोक्षतिका बहन किए हैं। हे प्रभो, आपकी दया से हम विषय-कथाय, राग-द्वेष और मोह द्वारा पराजित न हों आप हम पर ऐसी कृपा करें।’ (ब्लोक २१३-२२०)

इस भाँति स्तवन कर शक बासुदेव और बालराम के बूप हो जाने पर भगवान् ने यह देशना दी—

‘यथ से अनभिज्ञ मनुष्य की तरह तत्त्व को नहीं जानने वाला व्यक्ति संसार रूपी अनतिक्रम्य महारथ्य में पवित्रान्त हो जाता है। जीव, जीवीय, आत्मक, संचर, निर्जरा, अन्ध और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं—ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

‘इनमें जीव दो प्रकार हैं : मुक्त और संसारी। ये अतादि, अवोप और ज्ञान व वर्णनयुक्त हैं। इनमें मुक्त जीव स्व स्वभावयुक्त अन्म भरणादि के क्लेश से रहित अनन्त दर्शन, अवनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख से मुक्त हैं। संसारी जीव के सी—स्वस और

स्थावर दो दोहरे हैं। पर्याप्ति जीव अवधिगति है; जो दो भी दो प्रकार के हैं। पर्याप्ति दशा की कारणभूत हैं छह पर्याप्तियाँ। यथा—ब्राह्मर पर्याप्ति, दारीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, एवं सोश्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति। इन छह में अनुक्रम से एकेन्द्रिय के चार पर्याप्ति, द्विन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय के (असंज्ञी पञ्चन्द्रीय सहित) पांच पर्याप्ति और सज्जी पञ्चन्द्रीयों के छह पर्याप्तियाँ हैं।

(स्लोक २२१-२२८)

'पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, बायुकाय और बनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीव स्थावर है अर्थात् चलने की शक्ति से रहित है। पहले चार अपेक्षा पृथ्वीकाय से बायुकाय तक के जीवों के भी सूक्ष्म और बादर दो भेद हैं। बनस्पतिकाय के जीव भी दो प्रकार के हैं। यथा—प्रत्येक बनस्पति और साधारण बनस्पति सूक्ष्म और बादर दोनों हैं। तरा जीव भी दो तीत चार पांच इन्द्रियों के कारण चार प्रकार के हैं। इनमें दो इन्द्रिय बाले जीवों से लेकर चतुरिन्द्रिय जीव तक असंज्ञी हैं। पञ्चन्द्रीय जीव संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। संज्ञी वे हैं जो बहने-पहने सकें, बोल सकें, जो मानसिक प्रवृत्तियुक्त हैं। जो इनके विपरीत हैं वे असंज्ञी हैं। स्थाया, रसना, नारिका, नेत्र, और कान ये पांच इन्द्रियाँ हैं। इनके विषय हैं क्रमशः स्थाय, रस, गन्ध, रुप और जड़।

(स्लोक २२९-२३३)

'द्विन्द्रिय जीव कृमि, शंख, गण्डोपद, जोंक और सीप आदि हैं। कीन्द्रिय जीव जूँ, छटमल आदि हैं। चतुरिन्द्रिय पतंग, मछली, भ्रमर, मच्छर इत्यादि। पञ्चन्द्रिय जल, स्थल और आकाशाचारी तीन प्रकार के निर्वच प्राणी, नारक, मनुष्य और देव।

(स्लोक २३४-२३५)

'ओहादि पांच इन्द्रियों, एवं सोश्वास, आयुष्य, मन, वचन और वाया से दस प्राण हैं। काया, आयुष्य, एवं सोश्वास और स्पर्णेन्द्रिय में चार प्राण तो सभी प्राणियों में होते हैं। द्विन्द्रिय में रस, कीन्द्रिय में गन्ध, चतुरेन्द्रिय में वचन और नेत्र होते हैं। असंज्ञी पञ्चन्द्रिय के कान और संज्ञी जीवों के मन रहता है।

(स्लोक २३६-२३८)

'तारकीयों का कुम्भी में एवं ताम्पा में उपरात रूप से उत्तर

होते हैं। मनुष्य मातृमध्य से तथा जीवक जरायु या अण्डों से उत्पन्न होते हैं। गेष असंज्ञी पंचेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव समूच्छित रूप से उत्पन्न होते हैं। समस्त संसूचितम् जीव और नारक जीव नपुंसक होते हैं। जीवों में पुरुष और स्त्री होते हैं। मनुष्य और तिर्यक में पुरुष स्त्री और नपुंसक तीनों पाए जाते हैं।

(श्लोक २३१-२४०)

‘समस्त जीव व्यवहारी और अव्यवहारी भेद से दो प्रकार के होते हैं। अनादि सूक्ष्म निगोद का जीव अव्यवहारी (जो कि अनादिकाल से ही उसी रूप में अन्म लेते हैं और मरते हैं, उत्तरुकाल से अस्यत्र नहीं जाते), गेष समस्त जीव व्यवहारी (विभिन्न गतियों में भ्रमणकारी) हैं।’

‘जीवों को उत्पत्ति नो प्रकार की योनियों से होती है। यथा सचित, अचित, मिथ, संवृत, असंवृत, संवृतासंवृत, शीत, उषा और शीतोष्ण।’

‘पृथ्वीकायिक, अपृकायिक, तेजस्कायिक और बायुकायिक इन चार प्रकार की स्थावर जीवों में प्रत्येक की सात लाख योनियां होती हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाम की दस लाख और अनन्तकाम की चौदह लाख योनियां होती हैं। विकलेन्द्रियों की छह लाख (प्रत्येक की दो-दो लाख), मनुष्यों की चौदह लाख, नारक देव और तिर्यक पञ्चेन्द्रियों की चार-चार लाख है। इस प्रकार समस्त जीवों की सब मिलाकर चौरासी लाख जीवयोनियां हैं। केवलगाती अपने ज्ञान से इस प्रकार देखते हैं।’

‘एकेन्द्रियों की सूक्ष्म और बादर छिन्दियों, श्रीनिधि, चतुर्निधि, पंचेन्द्रिय, असंज्ञी और संज्ञी इन सातों के पर्याप्ति और अपर्याप्ति भेद से चौदह भेद होते हैं। इनकी मात्राएँ भी चौदह हैं। यथा—गति, इन्द्रिय, काम, योग, वेद, ज्ञान, कषाय, संयम, आहार, हृषि, लेश्या, भवय, सम्यक्त्व और संज्ञी।’

‘मिथ्यात्म, सास्वादन, मिथ, अचिरत-सम्यक्त्वहिटि, देवा-मिरत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्त-संयत, निष्पत्ति-बादर, अनिष्पत्ति-बादर, सूक्ष्म-संप्राण, उपशोन्त-मौह, शीण-मौह, सयोगी-वेदली और अयोगी-केवली ये चौदह शुणस्थान हैं।’

(श्लोक २४१-२५१)

१. ‘मिथ्यात्म के उदय से जीव मिथ्या हृषि होता है। मिथ्यात्म

कोई गुण नहीं है; किन्तु विद्यारती होने पर भी उसमें (संतोष, सरलता और यथाप्रवृत्तिकरण से लेकर अन्यी भेद तक जाना और उसके भी आगे अपूर्वकरण अवश्य प्राप्त करना रूप) युण रहने से इसे गुणस्थान कहा जाता है।

२. 'अनन्तानुभवधी कथाय का उदय होने पर भी मिथ्यात्म वा उदय नहीं होने से हितीय गुणस्थान को लास्वादन-सम्यक्-हृष्टि गुणस्थान बोला जाता है। इसकी अधिक से अधिक स्थिति छह आवलिका है। इस अवस्था में नष्ट हो जाने लगे सम्यक्त्व का किञ्चित् आस्वाद रहता है अतः दो गुणस्थान कहा जाता है।'
३. 'सम्यक्त्व और मिथ्यात्म के मिथ्यण से इसे मिश्र गुणस्थान कहा जाता है। इसकी स्थिति अन्तमुँहूर्त मात्र है।'
४. 'अनन्तानुभवलो कथाय, मिथ्यात्म भोहनोय, निश्च भोहनोय के कथोपाधामादि से आत्मा मध्यार्थ द्विंदि को प्राप्त करती है; परन्तु इस गुणस्थान में अप्रस्थानावरण कथाय का उदय रहता है। इसलिए इसे अविरत-सम्यक्-हृष्टि गुणस्थान कहा जाता है।'
५. 'अप्रस्थानावरण कथाय के कथोपाधामादि से और प्रत्याक्ष्यानावरण कथाय के उदय से विरताविरत वा देश विरत गुणस्थान होता है। (इस प्रकार के गुणस्थान का अधिकारी लद्यहृष्टि सांसारिक भोग भोगते हुए भी निवृत्ति को उपराषेय भानते हैं।)
६. 'प्रमत्त संयत गुणस्थान के अधिकारी सर्वविरत संयत होने पर भी सम्पूर्ण प्रमाद रहित नहीं होते।'
७. 'अप्रमत्त संयत गुणस्थान के अधिकारी सर्व विरत संयत महापूरुष होते हैं। वष्ट और लाप्तम् गुणस्थान परम्पर एव वृत्ति से अन्तमुँहूर्त स्थितियुक्त है।'
८. 'अपूर्वकरण गुणस्थान में स्थित आत्मा के कस्तों की स्थितियात आदि अपूर्व होते हैं। ऐसी स्थिति आत्मा में पूर्व में नहीं हुई। यह इस अवस्था में अपने कर्म-ज्ञवृक्षों को निर्जीर्ण करता है और आगे अप्रसर होने को तैयार होता है। अर्थात् उपदाम शेणी व क्षयक धेणी को लिए तत्पर होता है। इस अवस्था को प्राप्त आत्मा के बादर कथाय निवृत्त हो जाते हैं। इसलिए इस गुणस्थान को निवृत्तिवादर गुणस्थान कहते हैं।'
९. 'जिस गुणस्थान में आए मुनिकों के बादर कथाय के निवृत्त

परिणाम में कोई अन्तर नहीं रहता अर्थात् सभी के परिणाम समान हो जाते हैं उसे अनिवृत्तिबादीर गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान भै उपस्थिति महात्मा या तो उपशमक होते हैं नहीं तो शोषक। यहाँ मोहनीय कर्म के लोभ की सूक्ष्म प्रकृति के अतिरिक्त कोई प्रकृति वदय में नहीं आती।'

- १० 'सूक्ष्म संपराय इस गुणस्थान में लोभ की सूक्ष्म प्रकृति का वेदन होता है। इसमें लोभ को अर्थात् उपशमति किया जाता है या क्षय किया जाता है।'
- ११ 'उपशमति मोह वीतराग गुणस्थान में उपस्थिति आत्मा का मोह सम्पूर्ण उपशमति हो जाता है।'
- १२ 'दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय में जो मोह (लोभ) को सम्पूर्णतः क्षय कर देता है वह सीधा बारहवें गुणस्थान में आकर शीण-मोह वीतराग हो जाता है।'
- १३ 'शीण-मोह गुणस्थान के अन्तिम समय में शेष तीन घाती कर्म क्षय कर आत्मा जब केवल ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त करता है तब उसे संयोगी केवली कहा जाता है। यहाँ आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान हो जाता है।'
- १४ 'संयोगी केवली मन, बचन और काम योग का निरोध कर अंयोगी केवली हो जाते हैं और जीलेदीकरण से सिद्ध भगवान मन जाते हैं।' (स्तोक २५२-२६२)

'इस प्रकार निम्नतम दशा से आत्मा परमात्म दशा प्राप्त करती है।'

'अर्थस्तिवक्षाय अर्थमहितकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और काल ये पांच धर्मीय तत्त्व हैं। पांच ये और जीव मिल कर छह द्रव्य होते हैं। काल को छोड़कर पांच द्रव्यों के प्रदेश सूक्ष्म विनाग के समूह रूप होते हैं। काल प्रदेश रहित है। इनमें जीव ही चैतन्य (उपर्योग) युक्त और मन्त्रा है—ज्ञान पांच द्रव्य अनेतन और अकर्ता है काल को छोड़कर ज्ञान पांच द्रव्य अस्तिकाय है अर्थात् प्रदेशों के समूह रूप हैं। इनमें पुद्गल द्रव्य ही स्पी है। अन्य पांच द्रव्य अरूपी हैं। यही छह द्रव्य उत्पाद (नवीन अवस्था में उत्पाद), व्यय (युक्त पर्याय का नाश) और धौव्य (द्रव्य रूप में नवीन विद्यमान) युक्त हैं।' (स्तोक २६३-२६५)

'समस्त प्रकार के पुद्गल वर्ण गन्ध रस और स्वर्णयुक्त हैं। जो परमाणु रूप में है वह अबढ़ है, जो स्कन्धस्पृष्ट है वह बढ़ है। बढ़ पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, सूरभि, सूतूल, संस्थान, अन्धकार, धूप, चशीत, प्रभा और छाया रूप में परिणत होते हैं। पुद्गल ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के भाव, औदारिक और पांच प्रकार के शरीर, मन, भाषा, गमनादि किया और पदांसीचक्षण स्पृष्ट में भी परिणत होते हैं। ये दुःख, सुख, औदन और मृत्यु रूप में उपग्रहकारी (निमित्त) होते हैं।' (श्लोक २६६-२९८)

'धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में तीनों एक-एक द्रव्य हैं। ये शर्यदा अमूर्ति, निषिकम और स्थिर हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश एक जीव के प्रदेश की नरह असंज्ञात और समस्त लोकव्यापी है। जीव अजीव जब चलना प्रारम्भ करते हैं तो जल जिस प्रकार मछली के गति करने में सहायता देते हैं वे ही धर्मास्तिकाय उत्तम वहाँ बनता है। स्वानु विधिक शीतल छाया देखकर जैसे बढ़ा तो जाता है उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय गतिशील जीव के रुकने की इच्छा करने पर एवं अजीव को स्थित करने में भी शहायक होता है।'

(श्लोक २६९-२७२)

'आकाशास्तिकाय उपरोक्त धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से बहुत बड़ा है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकव्यापी हैं; किन्तु आकाशास्तिकाय लोक से जनेक गुणा बड़ा है। यह तो अलोक में भी सर्वेत व्याप्त है। आकाशास्तिकाय समस्त द्रव्यों का आधार एवं अनश्व व्रदेश युक्त है।'

(श्लोक २७३)

'लोकाकाश के प्रदेशों में अभिष्ट रूप में रहा हुआ काल का अणु (नमय रूपी सूरभि भेद) भावों का परिवर्तन करता है। इसलिए, मुख्य रूप में काल वयव्य परिवर्तन ही है (भविष्य का वर्तमान बनना और वर्तमान का अवीत हो जाना)। ज्योतिष शास्त्र में समय आदि का जी भान है (क्षण, वन, मुहूर्तादि) वह व्यवहार काल है। संसार में समस्त पदार्थ जो नवीत और जीर्ण अवस्था प्राप्त करता है वह काल का ही प्रभाव है। काल की छोड़ा से ही समस्त पदार्थ वर्तमान अवस्था से च्युत होकर अतीत अवस्था को प्राप्त होते हैं और भविष्य से अधिकार उसे वर्तमान में उपस्थित

करते हैं।

(पठीक २७४-२७५)

'जीवों के मन चच्चन और काया की जो प्रवृत्तियाँ हैं, वही आश्वस्त हैं। कारण इस प्रकार से आत्मा में कर्म का आगमन होता है। शुभ प्रवृत्ति पुण्यबन्ध का कारण है और अशुभ प्रवृत्ति पाप-बन्ध का। समस्त प्रकार के आगमनों का निरोध ही संवर है, जो शिरिति और द्याग रूप है। संसार के हेतुभूत कर्म का विनाश ही निर्जरा है।'

(पठीक २७५-२७६)

'कथाम के वशवर्ती हीपर जीव कर्मयोग्य पुद्गल को धार्शन द्वारा शहृण करता है। वह जिस प्रकार अपने साथ बोधता है उसे वन्ध कहते हैं। यही वन्ध जीवों की परतन्त्रता का कारण होता है। वन्ध चार प्रकार के होते हैं प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।'

(पठीक २८०-२८१)

'प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। इसके ज्ञानावरणीयादि आठ भेद हैं। वथा—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आमुष्य, नाम, गोव्र और अन्तराय। मूल प्रकृति ये ही आठ हैं। बढ़कर्म के आत्मा में लगने के काल की स्थिति कहते हैं। वह अवन्ध (काम से काम) और (अधिका से अधिक) होती है।'

'कर्म के विषयक (परिणाम) को अनुभाग कहा जाता है। कर्म के अंश को प्रवैज कहते हैं।'

(पठीक २८२-२८३)

'कर्म वन्ध के पांच कारण हैं—मिथ्यात्म, अविरति, प्रभाव, कथाय और योग। इन पांचों का अभाव होते से चार व्याती कर्म ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म आय हो जाते हैं। जीव तत्त्व केवल ज्ञान प्राप्त करता है। शाद के चार होते हैं अधाती कर्म। इनके भाय ही जाने से जीव मुक्त एवं परम सुखी हो जाता है।'

(पठीक २८४-२८५)

'समस्त नरेन्द्र असुरेन्द्र व देवेन्द्रगण जो तिभुवन में सुख-धोग करते हैं, वह मुक्ति व मोक्ष गुण के बनन्त भाग का एक भाग भी नहीं है। इसी भाँति तत्त्व को जो व्यायाम रूप में जानता है, वह तैरना जानने वाले अपक्ति की परह संसार समुद्र में निमिज्जत नहीं होता एवं सम्यक् आचरण से कर्म वन्धन अय कर भ्रुत्त और परम सुखी होता है।'

(पठीक २८६-२८७)

भगवान् की इस देशना को सुनकर बहुतों ने अणगार धर्म को प्रहृण किया। वासुदेव ने सम्यक्त्व प्रहृण किया और मुप्रभ ने धावक धर्म। दिन का प्रथम याम दीत जाने पर, प्रभु ने देशना समाप्त की और उन्हीं के पांचांग पर बैठकर यह गणधर ने देशना आरम्भ की। दिन का द्वितीय याम दीत जाने पर उन्होंने भी अपनी देशना समाप्त की। (स्लोक रुद्र-२८९)

एक, वासुदेव, बलदेव एवं अन्यगण प्रभु को चन्दना-नमस्कार कर स्थ-स्थ निधास को लौट गए। (स्लोक २९०)

भगवान् भव्य जीवीं को ज्ञानदान करते हुए आम, खान, नगरादि में प्रवासन करने लगे। उनके संघ में ६६००० साधु, ६५००० साधियां, ९१४ पूर्वधर, ४३०० अब्दिज्ञानी, ५००० मदःप्रथिज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० दंकिय एवं धार्मिकाएँ थीं। केवल ज्ञान प्राप्त करने के एक्षत्र तीन वर्ष कम साड़े सात लाख वर्ष तक स्योगी केवल अपरस्या में विचरण करते रहे।

(स्लोक २९१-२९३)

आता निवाण समय निकट जगन्कर भगवान् ३००० साधुओं सहित नम्मेत शिखर पर जाए और अनशन प्रारम्भ किया। एक मास पश्चात् एवं शुक्ला पंचमी को इन्द्र जह युव्य तथा में धर्मस्थित था ३२०० साधुओं सहित प्रभु अनन्तनाथ ने शोक प्राप्त किया। इन्द्र आए और भगवान् एवं मुनियों का निर्वाण कुर्य सम्पन्न किया। (स्लोक २९४-३००)

प्रभु साक्षे सात लाख वर्ष तक कुमारावस्या में रहे, १५ लाख वर्ष तक राज्याधिपति रूप में रहे और साड़े सात लाख वर्ष संयम पर्यावर में अपनीत किए। उनकी शुल्क आयु ३० साल पूर्व की थी। विष्वलदाच स्वामी के निर्वाण से अनन्त स्वामी के निर्वाण पर्यन्त नो सागरोपम व्यक्तीत हुए। (स्लोक ३०१-३०३)

पुष्टोत्तम वासुदेव ३० लाख वर्ष की आयु से घोर पाप कर्म के कारण छठे तमःप्रभा नामक तरक में जाए। वे ७०० वर्ष कुमारा-वस्या में, १३०० वर्ष वासक रूप में, ८० वर्ष दिग्बिजय में जीर २९९७९३० वर्ष अद्वैतकी के रूप में रहे। (स्लोक ३०४-३०६)।

बलदेव मुप्रभ ४५ लाख वर्ष तक पृथ्वी गत रहे। श्रीला की

मृत्यु से दुःखी होकर उन्होंने मृणांकुण नामक मुनि से शीक्षा प्राप्त कर ली। केवल ज्ञान और अवश्य चतुष्टय प्राप्त कर वे यथासमय मोक्ष को प्राप्त करे। (स्लोक ३०७-३०८)

चतुर्थ सर्ग हमारा

पंचम सर्ग

धर्मलबी गंगा के जीवितान तुल्य हैं, मिथ्यात्वस्त्री अन्त्रकार के वितान में जो सूर्य स्वरूप और शरण हैं वे उन भगवान् शमनाथ के घरणों की शरण प्राप्त करता हैं। उन्हीं तोषकर के जीवन-चरित्र का अब मैं बर्णन करूँगा जो संसार रूपी सरिता। कर अतिक्रमण करने में सेतु रूप हैं। (स्लोक १-२)

धातही इन्द्रिय के गुदे दिलेह में भरा नामक निहश में भग्निपुर नामक एक वृहद् नगर था। वहाँ के राजा का नाम था दहरया। वातुबल में वे इन्द्रयुक्त हस्ती की भाँति महाशक्ति तम्पन थे। सूर्य जिस प्रकार अन्य ज्योतिष्ठों का तेज पान करता है उसी प्रकार उन्होंने अन्य राजाओं का तेज पान कर लिया था। समुद्र जैसे नदियों का जल प्राप्त करता है वैसे ही उनसे कर प्राप्त करते थे। दिवेशवान होने के कारण उन्हें अपने राज ऐश्वर्य का जरा भी गर्व नहीं था। शारण थे जानते थे इन्ह का वैभव भी सेमल रूद्र की भाँति क्षणस्थायी है। यद्यपि वे विषयस्रोग करते थे फिर भी जैसे दुर्दिन के अतिथि हों इस प्रकार संसार में निवास करते थे। (स्लोक ३-३)

इन्द्रिय सुखों से विस्तृत और देह के प्रति अनुराग रहित होकर उन्होंने राज्य वैभव आदि का शासीरिक मल की भाँति परित्याग कर दिया। परित्याग कर वे दुःख रूप व्याधि के दैत्य विमलवाहन मुनि के निष्ठ गए। राजाओं के मुकुट-मणि-से उन राजा ने मुनि-राज से कामना के विनियम में सम्यक् चारित्र रूपी उज्ज्वल रत्न ग्रहण किया। निःसंग होकर उन्होंने छान जी मातृका रूप साम्य भाव पान और उपसर्ग सहन कर कठोर तप किया। विषयों रूपी स्त्रेच्छों से अपवित्र आत्मा को गुणक कर तीर्थस्थान से लाए पवित्र जल-से शान्त रूप वारि से परिषुद्ध किया। अहंत् भक्ति आदि शीत

स्थानकी की उपासना कर उन यहात्मा ने वीर्यकुर गोत्र कर्म उपार्जन किया। लक्ष्मणत मध्यसंय अनदानपूर्वक समाधिभरण प्राप्त कर वे वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में महान् शृङ्गि सम्पन्न देव रूप में उत्पन्न हुए। (श्लोक ८-१४)

जम्बूद्वीप के भरत द्वीप में विभिन्न रत्नों का आकर स्वरूप रत्नपुर नामक एक नगर था। इसकी वापिकाएँ गव्य वाटिकाएँ पार्श्व स्थित रत्नजड़ित सोपान श्रेणियों को प्रभा से मानो गुण गई हो इस प्रकार प्रतिभासित होनी रहती थी। अहंत मन्दिरों सहित इसके स्वर्णमय गृह प्रति सोपान स्थित दर्पण के कारण मानो धर्म, धर्म और काम रूप संसार की लिंगिध वस्तुओं की उद्घोषणा करता था। सरकतमणि खाचित इसका राजपथ राजि में नक्षत्रों द्वारा प्रतिबिम्बित होकर लगता थानों वहां मुक्ताओं से स्वस्तिक रवता की गई हो। पुरस्त्रियों द्वारा होवारों की छूटियों पर लटकाई गई पुण्यमालाएँ रत्न-हारों का धर्म उत्पन्न करती थीं। उद्योग-वापिकाओं के बाहर से, अट्रलिका स्थित पाकशालाओं की उपजता से और हृस्तियों के महाधरण से वहां मानो शांत, ग्रीष्म और वर्षा ये तीनों अनुरूप सर्वदा रहती थीं। (श्लोक १५-२०)

यहां के राजा का नाम था भानु। वे प्रताप में सूर्य की तरह शबू रूप कृष्ण के लिए अनि सुल्य थे और निर्मल गुण राजि से विभूषित थे। जिस प्रकार समुद्र-तरंग की गणना नहीं की जा सकती उसी प्रकार उनके गुणों की गणना करने में बहस्तर्ति भी असमर्थ थे। उच्चकुल जाति परिणिता साधकी स्त्री की भाँति इस पृथ्वी ने, जिसका कार (हाथ) एक मात्र वे ही प्रहर करते थे, अन्य किसी को अपना हवामी नहीं मानती थीं। वैचला लक्ष्मी को अपने गुणों की रससी में आवद्ध कर उसे हृस्ती-शावक की तरह अपने हस्त रूपी आशान स्तम्भ में बांध रखा था। सूर्य की भाँति देवीप्यमान उन्हींने अपने शत्रुओं के तेज को मशाल की तरह निष्प्रभ कर दिया था। राजाओं की जय करने में उन्हें भृकुटि भी चढ़ानी नहीं पड़ती, अनुप धारण करना तो दूर की जात थी। (श्लोक २१-२५)

उनकी रानी का नाम था सुवता। वह साधकी स्त्रियों में ध्यगम्य और स्वामी के चरण-रूपी कमलों में रदा संजलन रहकर भैयरों की भी लज्जित करती थी। उन्हें कोकिल से मधुर कण्ठ

मिला था, हस से मति और हटिंग हरिण से। जिनव उसकी सहचरी थी, आरित्र परिचारिका और अधिजात्य कंचुकी थी। उसकी स्वामाधिक पर्वता थी। स्थानी के प्रति अनुग्रह उसका स्वभाविक अलक्खार था। हार आदि अन्य अलक्खार तो उसके द्वारा बलहुत द्येते थे।

(ज्ञोर २००-२१)

इकरथ के जीव ने वैजयन्त्र विमान के गुख भोगकर वहाँ की सर्वाधिक आयुष्य पूर्ण की। थंशाख मुदी रातमी को, इसका जीव, घनद जब पुद्या नक्षत्र में अवस्थित था तब वहाँ से उत्पुत होकर देवी सुवता की कुँडि में प्रविष्ट हुआ। उस समय उन्होंने तीर्थकुर जन्म सूचक झस्ती आदि चौदह महास्वप्न देखे। भाष महीने की शुक्ला तृतीया को घनद जब पुद्या नक्षत्र में अवस्थित था तब रानी मुवता ने थथासमय करकवर्ण वज्र लांछनमुक्त एक पुत्र को जन्म दिया।

(मलोक ११-१४)

भोगकरा आदि शूल्पन दिक्कुभारियों आई और प्रभु-माता एवं प्रभु का जन्मकृत्य सम्पन्न किया। सौधर्मेन्द्र पालक विमान से आए और प्रभु को मेरु पर्वत पर ले गए। वहाँ प्रभु को गोद में लेकर वे अतिषाठकवला रक्षित चिह्नासन पर बैठ गए। अच्युतेन्द्रादि देवता इन्द्रोंने तीर्थ स्थानों से लाए जल से प्रभु को विधि अनुसार स्नान करवाया। तदूपरात्म शक ने प्रभु को ईशानेन्द्र की गोद में देकर उन्हें मनास कराया, अंगरात्रा लगाया और पिर उन्हें बन्दना कर यह स्तुति की :

‘हे पन्द्रहवें तीर्थकुर, हे भगवन्, जिनकी आकृति ध्यान योग्य है और जो स्वयं ध्यान समाहित है, मैं उन्हें बन्दना करता हूँ। मैं देव और असुरों की अपेक्षा मनुष्यों को अवृद्ध मानता हूँ। कारण, हे त्रिलोक-पूज्य, अपने संघ के नेता के रूप में जन्म ग्रहण किया है। दक्षिण भरतार्द्ध में मैं यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त करूँ तो मैं आपका शिष्य बनूँ। कारण, मोक्ष प्राप्ति के लिए आपका शिष्यात्म परम आवश्यक है। नारक और देव जन्म में क्या पार्वत्य है यद्यपि देव मुखी हैं; किन्तु प्रमाद के कारण आपके दण्डों से बच्चित हैं। जितने दिनों तक सूर्य की मालि आपका उदय नहीं हुआ था है विलोकनाथ, उतने दिनों तक उल्लू की तरह मिथ्यात्मसेवी लोग प्रणति करते रहे। मैष वारि से जिस प्रकार वापियां पूर्ण हो जाती हैं उसी प्रकार

दक्षिण भरताद्वारा शोध ही आपकी देशना रूप बाणी द्वारा पूर्ण हो जाएगा। हे भगवन्, राजा जैसे शत्रुओं को देश को जन-शून्य कर देता है उसी प्रकार आप बहुत लोगों को भोक्ता प्राप्त करने में सहायता कर गृध्री को जन-शून्य कर देंगे। हे भगवन्, स्वर्ग में भी मेरा मन अमर की तरह आपके पाठा करते हैं ताकि होइए दीन-रात ब्यतीत करे।'

(श्लोक ४५-४७)

इस प्रकार रक्षुति कर शक्ति ने भगवान् को ईशाकेन्द्र की गोद से लेकर उन्हें यथाविधि ले जाकर रानी सुखता के पास्त में मुना दिया। (श्लोक ४८)

जातक जब गर्भ में था तब सुखता रानी की अर्द्धराघना का दोहर उत्पन्न होने के कारण राजा भानु ने जातक का नाम रखा थमें। (श्लोक ४९)

अमैनाथ स्वामी ने बालक रूपी देवों के साथ भीड़ा कर बालकाल ब्यतीत किया। अपने ४५ धनुष दीर्घ होकर यौवन की प्राप्ति किया। भाद्रा-पिता की दीर्घकाल से जो इच्छा थी उसे पूर्ण करने के लिए एवं भ्रोग कर्मों को क्षीण करने के लिए प्रभु ने विवाह किया। जग्म से अहोद्वय हजार वर्ष ब्यतीत हो जाने पर पिता के आवेदन से उन्होंने राज्यभार प्रहेण किया। प्रभु ने पौर्व लाल वर्ष तक राज्य शासन किया और यथासमय दीड़ा अहर करने का विचार किया। (श्लोक ५०-५१)

उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर प्रभु से कहा—हे देव, तौरें स्थापना करें। प्रभु ने दीक्षा रूपी नदी के मुख रूप वर्षी दान किया। तदुपरान्त देवों द्वारा वर्भिष्ठक होकर नगदस्ता शिविका पर आलड़ होकर प्रभु वप्रकोचन नामका उद्यान में पहुँचे। प्रभु ने जैत्रययुक्त उस सीनदर्प-मणित उद्यान में प्रवेश किया। ग्रियंगु पुष्टों की सुगन्ध से मत्रालै अमर बहां गुजन कर रहे थे। उद्यान-पालिकाएँ पुष्टों बलंकारों की रक्षना में व्यस्त थीं। वे अपने मुखों को लोधरेणु द्वारा नगर-नारियों की तरह लिप्त कर रखी थीं। मदन के बाण-साझ मूर्खाण्ड बिकसित हो गया था। उद्यान-बालाएँ लवली पुष्टों को कर्तन कर रही थीं जिसका भूमितल मूनुकुन्द रस-नारि से लिप्त हो उठा था। वह भूमि सुगन्धयुक्त थी और मरकत-मणित हो ऐसा भ्रम होता था। (श्लोक ५२-५३)

माघ शुक्ला तियोदशी को चन्द्र जब पुण्य नक्षत्र में था तब प्रभु ने दो दिनों के उपवास के पश्चात् एक हजार राजाओं सहित ग्रद्यज्या ग्रहण कर ली। द्वासेरे दिन सोमनस नामक नगर में धर्मसिंह राजा के गृह में प्रभु ने लीराष ग्रहण कर बोले का पारणा किया। देवों ने रत्न बृहिं आदि पंच दिक्षा प्रकट किए परं राजा धर्मसिंह ने जहरी प्रभु ने यहीं हीं पारणा किया। हर्ष रामय इहीं का निर्देश करवाया। देह के प्रति उदासीन बायु की भाँति अप्रतिहत पृथ्वीनाथ वहां से निकलकर भ्रती पर रत्नं विचरण करने लगे।

(स्लोक ५०-५१)

जम्बूदीप के पश्चिम चिदेह में अशोका नामक एक नगरी थी। वहां पुरुषवृषभ नामक एक राजा राज्य कर रहे थे। संसार से विरक्त तत्कालीन धर्म-परायण उन राजा ने मुनि प्रजापाल से दीक्षा ग्रहण कर ली। कठिन तपस्या करते हुए आयुष्य पूर्ण होने पर वे सहस्रार दिमान में १६ साल की बायु लेकर जन्म ग्रहण किया।

(स्लोक ५२-५३)

जब उन्होंने अपनी सोनह सागर की बायुष्य पूर्ण की उस समय भरत क्षेत्र के पोतनपुर नगर में विकट नामक राजा राज्य करते थे। हस्ती जैसे हस्ती को पराजित करता है उसी भाँति युद्ध क्षेत्र में वे राजा राजसिंह द्वारा उनके अधिका शक्तिशाली होने के कारण वराजित हुए। परायण की लज्जा के कारण अपना राज्य पुत्र को देकर मुनि अतिभूति से दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्होंने कठोर तप करके यह नियाणा किया कि मैं किसी भूमि में राजसिंह को पराजित कर सकूँ। नियाणा करने के बाद आयुष्य पूर्ण होने पर वे दो हजार वर्ष की गरमायु लेकर द्वितीय स्वर्ग में उत्पन्न हुए।

(स्लोक ५४-५५)

राजसिंह ने दीर्घकाल तक भवभ्रमण कर भरत क्षेत्र के हरिपुरा नगर में राजा निष्ठुरम के रूप में जन्म ग्रहण किया। कृष्णवर्ण पंतलीस धनुष दीर्घ दम लाख वर्ष की बायुष्य लेकर तपश्चात् वे पृथ्वी के अधिष्ठिति बने। भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध को नीड़ा करते हुए जय कर वे फौचवें अर्द्धनक्षी मा प्रतिबासुदेश हुए।

(स्लोक ५६-५७)

भरत क्षेत्र के अद्यन्त नामक नगर के राजा का नाम था

शिव। वे जानक के निवास रूप थे। उनकी दो पत्नियाँ भी विजया और अम्बिका। वे दोनों ही कीति और सौभग्य की तरह राजा को प्रिय थी। पुरुषकृष्ण का जीव सहस्रार से च्युत होकर देखी विजया के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। विजया ने बलदेव के जन्म सूचक चार भवान्यन देखे। सभय पूर्ण होने पर राजा ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। देखकर लगता आठो उनके स्वामी का मन ही जैसे सूर्विमान हो उठा है। जानक के सौन्दर्य के कारण राजा शिव ने एक शुभ दिन उत्सव कर पुत्र का नाम रखा सुवर्णन।

(श्लोक ३५-३६)

विकट का जीव भी द्वितीय स्वर्ग से अयुत होकर अम्मका के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। अम्मका ने विष्णु के जन्म सूचक सात महा-स्वर्ण देखे। यथा सभय उन्होंने सरिता जैसे नील कमल उत्पन्न करती है उसी प्रकार सर्वे सुलझण युक्त हन्दमील मणि-सा गाढ़े नील बर्ण के एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। वह जानक मनुष्यों में सिंह की भाँति अभित बल का अधिकारी होने के कारण पिता ने उसका नाम रखा पुष्प सिंह।

(श्लोक ३७-३८)

धार्मियों द्वारा पालित होते हुए वे दोनों एक साथ कमशः लड़ होने लगे। तालध्वज और गरुडध्वज वे दोनों नीला और पीला वस्त्र धारण करते थे। वे इतने मेधावी थे कि सभीप ही रखी निधि को तरह समस्त कलाओं में पारंगत हो गए। पिताक तौ माद भाक्षी थे। कमशः उनकी उम्र युद्ध करने जैसी हुई। सहोदर अविद्यनी कुमार की तरह वे परस्पर स्नेह भावापूर्ण थे। पिता के प्रति उनकी अपार अद्भुत भी और उनके आदेश का वे मृत्यु की तरह पालन करते थे।

(श्लोक ३९-४०)

एक दिन राजा शिव ने बलदेव को दिव्य अस्त्र की तरह पार्वती अविद्यनीत राज्य को दमन करने के लिए भेजा। स्नेह के कारण पुष्पसिंह ने भी उनका अनुगमन किया। स्नेह का वर्णन परम्पर-सा इछु होता है। बहुत कष्ट से बलदेव ने उन्हें अपने अनुगमन से निवृत्त किया। तब दासुदेव पूर्णधर्षण हस्ती की तरह जहाँ थे वहाँ अवस्थित रहे। भाई के बिल्कुल की विरह-वेदना दूर करने के लिए जब वे क्रीड़ा-कौतुक में मध्य थे तभी उनके पिता के पास से एक दूत आया। दूत ने उन्हें जो एक शिया उसे उन्होंने मस्तक

पर धारण कर छोला। उसमें लिखा था—‘तुम, शीघ्र लौट आओ।’ विजित होकर पाहुंचे दूत से पूछ मेरी माँ बातें हैं हैं ? पिता की कहाँ है ? उन्होंने अचानक मुझे कैसे बुलाया है ?’ दूत ने उत्तर दिया—‘महाराज ने आपको शीघ्र बुलाया है कारण उनकी बेह में दाहू-ज्वर उत्पन्न हुआ है।’ इस संबोध से दुखी, मानो सप्तश्छुद की गन्ध नाक में गई ही इस प्रकार पुरुषसिंह राजधानी लौटने के लिए शीघ्र रवाना हुए। महापुरुषों की बेष्टी ही होती है।

(ग्लोब ८७-८८)

दूसरे दिन बासुदेव अपने नगर में पहुंचे। दावाग्नि की भाँति उस संबोध की बेदना समर्थन पथ उन्हें पीड़ित करती रही। पिता की बेदना से दुखी ने मानो उस बेदना को सदय में प्रहर कर रहे हों इस भाँति पिता के उम कथ में प्रबृज्ञ हुए। जहाँ दाहू-ज्वर से पीड़ित पिता अवस्थित थे। वहाँ अनुचरण बहुत किस्म की औषधियाँ काट रहे थे, पीस रहे थे, पका रहे थे, चिकित्सण बैठ प्राप्त वहाँ उपस्थित थे जो कि रस के गुणावशुण, शक्ति व प्रभाव के सम्बन्ध परिज्ञाता थे। यहाँ शब्द न हो इसलिए रक्षणाण हाथों के इशारे से लिखें फर रहे थे और लैशगण अू-अंगिमा के इशारे से कहाँ किननी दूर लड़ा होता होगा यह बता रहे थे। (ग्लोब ९५-९६)

बासुदेव ने पिता के चरण-स्पर्श किए और भक्ति जन्य उदात्त अशुजल से उन्हें प्रक्षालित कर डाला। पुल का स्पर्श पाकर राजा शिव को कुछ स्वस्थता महसूस हुई। प्रियजनों का सो दर्शन मात्र से ही आनन्द होता है, स्पर्श की तो आश ही क्या है ? उन्होंने बार-बार अपने पुत्र को हाथों पारा स्पर्श किया। उस स्पर्श से उनका सरीर दीमाचित हो गया मानो वे शीतल हो रहे हों। राजा बोले—‘तुम्हारा शरीर शीर्ण क्यों दिखाई पक रहा है ? सुम्हारी जिहा बाग के निकटस्थ वृक्ष की भाँति एक फट्टी है ?’ तब बासुदेव के अनुचर ने प्रत्युत्तर दिया—‘महाराज, आपकी अस्वस्थता का संबोध पाकर कुमार बिना एक पल भी रहे यहाँ के बिना रवाना हो गए। दो दिनों से खाना तो दूर जल नक बिना पिए हैसी जैसे विन्ध्याचल पर्वत के निकट जाता है वैसे ही आपको समरण करते हुए ये यहाँ उपस्थित हुए हैं।’

(ग्लोब ९५-१०५)

यह सुनकर राजा शिव की बेदना जैसे बिगुणित हो उठी।

वे बोले—‘पुत्र, तुम्हारा आचरण तो विपदा पर विपदा जैसा है। जाओ, आहारादि वारके आओ कारण जारीर खाद्य-आहरण वारके ही सब काम करता है।’ (श्लोक १०६-१०७)

पिता की ऐसी आज्ञा से अनुवद्ध होकर वासुदेव ने मदक्षावी हस्ती की तरह सामान्य-सा आहार किया। न उन्होंने वस्त्र बदले, न पैरों में पादुका ढाली। पिता की वेदना रुपी तप्त भूमि पर विजोरे की तरह दुःखी वासुदेव ने कुछ बाया न खाया कि विता के प्रासाद में जाने को बहिर्भूत हुए। दुःखी उनके अनुचर भी उनके साथ गए। (श्लोक १०८-१०९)

वे पिता के आसाद में प्रवेश कर ही रहे थे कि उनकी माँ की कथूकी अध्युपूरित वयन लिए उनके सन्मुख आई और भयात्त कण्ठ से बोली—‘कुमार, कुमार, रथा करो, रथा करो। महाराज, अभी जीदित है; किन्तु महारानी कैसा भवानक अकुत्य करने जा रही है।’ यह सुनकर वासुदेव उत्तिष्ठ मन लिए माँ के कक्ष में गए। महारानी उस समय अपने अनुचरों द्वारा आदेश दे रही थी—

(श्लोक १११-११३)

‘मेरे स्वामी के पुण्योदय में मेरे घर में जो रत्न, सुवर्ण, रीष्य, अलंकार, मुला आदि संप्रहित हुए हैं उसे सान छेदों में दान कर दो। जो शीर्घपथ की दात्रा करते हैं उनके लिए यह व्रथम भावप्रक है। अपने स्वामी की मृत्यु के पश्चात् मैं विपदा पहलवाना तहीं जाहूती, मैं उनके पूर्व ही जाऊंगी, जन: दीघ ही अग्नि प्रज्वलित करो।’ (श्लोक ११५-११७)

दुःख की मानो ब्रतिमूर्ति उनकी माँ जब यह शोल रही थी तब वासुदेव उनके निकट गए और लोले—‘माँ, मुझ हृतमाय को तुम भी छोड़कर चली जाओगी? हाय कुर्वेव! यह तुम क्या कर रही हो?’ (श्लोक ११८-११९)

महारानी वक्तमका ने कहा—‘पुत्र, मुझ्हारे पिता की प्राणांतक व्याप्ति लगी है। उनका विचक्षण वैद्यों ने परीक्षण कर लिया है। एक मृहूत्ते के लिए भी मैं ‘विभवा’ शब्द को सहन नहीं कर सकूँगी। इसलिए कुसुमभी दस्त्र धारण कर मैं उनसे पूर्व ही चली जाऊंगी। मेरे स्वामी शिव ने और पंचम लद्धेवकी लुमने मेरे जीवन का जो उद्देश्य था वह पूर्ण कर दिया है। स्वामी की मृत्यु पर मेरे प्राण तो

ऐसे ही चले जाएंगे; किन्तु मैं उनके पूर्व ही अभिन-प्रवेश करूँगी ताकि मेरा साहस दृढ़त न हो जाए। पुनः धारिय कंदा के नियम-पालन में रुद्धि के वक्षीमूल होकर मुझे बधा मत दो। मेरा आशीर्वाद है तुम और सुदर्शन उच्चति करो और मैं अभिन-स्नान कर पति के पूर्व गमन करूँ। इस अनुष्ठान में किसी भी बाधा की मृष्टि मत करो।' (श्लोक १२०-१२६)

ऐसा कहकर स्वामी की मृत्यु के संबाद को मुनने के भय से मानो रुद्धी पराक्रम के द्वारा इस अभिन में प्रविष्ट होने को चल दी।

(श्लोक १२७)

दुख में दुख ने युक्त होकर जुआ की भाँति उनकी देह को धीण कर दिया। समतल भूमि पर भी वे लड़खड़ते हुए पिता के पास पहुँचे। मौं की आत स्मरण कर पिता की हत्या देखकर उपचार में असमर्थ और स्वर्य को असहज पाकर बासुदेव घरती पर गिर गये। पथरिय बाहु-उच्चर से राजा ने हँसा है किरणी नहीं आँण पुनः से बोले—'पुनः तुम यह क्या कर रहे हो? भय हमारे बुल के अनुपयुक्त है। यह पृथ्वी तुम्हारी महिली है जिसकी रक्षा तुम्हें बाहुबल से बारनी होगी। साहस के अभाव में उस पर गिर जाना तुम्हारे लिए लज्जास्पद है। साहस का परित्याग कर यह सिद्ध मत करो कि मैंने जो तुम्हारा नाम पुरुषसिंह रखा है वह अज्ञानताजन्य है।'

(श्लोक १२८-१३२)

पुनः को इस प्रकार सान्त्वना देकर सुखों के निष्ठान राजा शिव ने सन्ध्या समय देह का परित्याग कर दिया। भला मृत्यु को कीन रोक सका है?

(श्लोक १३३)

पिता की मृत्यु का संबाद मुनकर बासुदेव बाध्याहृत विशाल दृक्ष की तरह या बात जन्य बात पीड़ित अक्ति की तरह भूतल पर भूच्छित होकर गिर गये। कलश के जल उनके नेत्रों पर छीटे गए। संज्ञा लीटते ही वे उठकर खड़े हो गए और कन्दन करते हुए कोले—'पिताजी, क्या अब आपकी देह में बेदवा नहीं है? औपच का गुण ही क्या है? किस बैद्ध का विषदास किया जा सकेगा? क्या अप्य सान्तिमय निन्द्रा में लो रहे हैं? उत्तर शीजिए पिताजी, मृत पर दया करिए।' गम्भीर स्नेहवश इसी आँति रहन-रहकर कुछ कहते और रो पड़ते। भूल-बूझों के सान्त्वना

देने पर पुरुषसिंह ने धैर्य धारण किया और चलने एवं आगह की विता बनाकर उनका दाह-कर्म सम्पन्न किया। (स्लोक १३४-१३५)

थाद्वादि किया सम्पन्न करने के पश्चात् जब राजसभा में आए तो बलदेव को पिता की मृत्यु का सूत्रक पत्र दिया। दुष्किनित सीमान्त राजा को पराजित कर इस पत्र को पाने ही थे दुःखीमना शीघ्रातिशोब्र रजधानी लौट आए। दोनों भाइ गले मिलकर इतनी ओर से रोए कि समस्त शभा भी उनके साथ थी पड़ी। अन्ततः बन्धु-वान्धवों के समझाने पर धैर्य प्राप्त कर वे शान्त हुए एवं धीरे-धीरे इस दुःख को छुलने लगे, किर भी बलते-किरते, उठते-बैठते, बालचीत करते हुए भी पिता की छति उनके समृद्ध तैरती रहती। (स्लोक १३६-१४३)

अब कि वे इस प्रकार पिता के दुःख से दुःखित थे तभी लंदं लक्ष्मी निष्ठाना के महीने हुए थे। उन्हाँने भी दुःखना पर उसे भ्रीतर दुष्काराया गया। दूत दोनों की प्रणाम कर बोला— 'आपके पिता की मृत्यु का संवाद सुनकर आपके स्वामी हमार्द-हृदय भहाराज निषुम्भ बहुत दुःखी हुए हैं। उनके पिताजी की सेवाओं को समरण कर कर्त्तव्य-परायणों में अवगति भहाराज ने मुझे आपके पास भेजा है—आप लोग अभी बालक हैं अतः शवुओं के लक्षण-संथल हैं। आपके पिता जिन नह पर आसीन थे वह पद हम तुम्हें देते हैं। तुम लोग मेरे पास आ जाओ और निर्भय होकर रहो। दाकातिन उसका कुल नहीं बिगड़ सकती जो जल में छड़ा रहता है। यद्यपि तुमलोग मेरे गममुख नगण्य हो किर भी दुमहारे पिताजी की सेवाओं के अनुदान स्वरूप तुम लोगों को नमान हूँशा।'

(स्लोक १४४-१५०)

जब तूत इस प्रकार कह रहा था—उन दोनों का कोध उद्दीप्त हो गया और दुःख विद्वरित। आवेग कितना ही प्रबल क्यों न हो वह क्यन्य आवेग से आधित होता है। नेत्र और भूकुटि चढ़ाकर कुद्र और कठोर स्वर में पुरुषसिंह बोला—'इक्ष्वाकु कुल के चांद्ररूप समके उपकारी हमारे पिताजी की मृत्यु से भला कौन नहीं दुःखी होगा।' अन्य राजा भी दुःखी हुए हैं—निषुम्भ भी दुःखी हुए हैं। वे यदि यह संवाद नहीं भजते तो उनके लिए वह डेष्टकारक होता। किन्तु पूछता हूँ मिह-शावक को कौन अधिकार देता है और कौन

उसका प्राजन करता है ? किसने उनका अपमान किया है जो ऐसी अपमानजनक भाषा कहने में उन्हें लग्जा नहीं आती ? ये निष्ठव्य ही हमारे शत्रु है अतः बच्चुत्व के एवं हेतु प्रकार दृष्टि अपना न कर रहे हैं। तुम्हारे प्रभु को भिन्न शत्रु निरपेक्ष जो चाहे होने वीरे, उनके प्रति हमारी कोई अस्ता नहीं है। जो शक्तिशाली होते हैं वे अपनी शक्ति पर ही विष्वास रखते हैं।' (श्लोक १५३-१५४)

दूत बोला— 'हे शिव-पुत्र, यह तुम ज्ञान की भाँति कह रहे हो ! पितृत्म्य महाराज जो शत्रु बनाकर क्या तुम सुख की कामना कर सकते ही ? हे मूर्ख राजपुत्र, राजनीति क्या है यह तुम अभी ज्ञानते नहीं हों तभी तो सूक्ष्माय दण्ड से उदर बिधते की तरह शत्रु का सूजन कर रहे हों। तुमने महाराज के लिए जो कुछ कहा मैं उन्हें वह कहूँगा नहीं। अतः जो मैं कहता हूँ तुम वही करो। ताकि तुम्हारे और तुम्हारे भ्राता (निषुम्भ) के मध्य शीघ्र विनों तक शांति रहे। नहीं को वे तुम्हारे शत्रु हो जाएंगे। कृतान्त की तरह यदि वे कुछ ही गए तो सुम्हारा जीवन भी संक्षय में पड़ जाएगा।'

(श्लोक १५५-१५६)

शह सुनकर अत्यन्त कृद्ध वासुदेव बोले— 'दूत, तुम अपने जीवन से निश्चित रूप से बीतथड़ हो गए हो। मिथ्या प्रपञ्च में कुशल तुम्हारे जैसे दूत के वाक्य विष्वहीन सर्प की भाँति केवल फणों के द्वारा ही राजाओं को भयभीत करते हैं। जाओ, जो कुछ मैंने कहा है उसे छिपाने की कोई आवश्यकता नहीं है। सबकुछ जाकर अपने प्रभु को बता दो। वे बध योग्य हैं कारण तुम कह रहे हो वे हमारे शत्रु हो जाएंगे।'

(श्लोक १५६-१५७)

यह सुनकर दूत शीघ्र उठा और निषुम्भ के पास पहुँचकर नारा बृतान्त स्पष्टतया कह सुनाया। नव शुद्ध सुनकर शत्रुहन्ता निषुम्भ कृद्ध होकर पृथ्वी को संन्य द्वारा आच्छादित कर अवधिपुर को रवाना हुआ। शत्रुजयी वासुदेव ने जब सूना निषुम्भ युद्ध के लिए आ रहा है तो वह भी अशज सहित संन्य लेकर युद्ध को चला। दो मदोन्मत्त हाथी की भाँति एक दूसरे को विताट करने की उत्सुक निषुम्भ और पुरुषसिंह मध्याय में एक दूसरे के सम्मुखीन हुए। उभय पक्ष के संन्यदल चीत्कार, धनुषों की टंकार और मुहिठचात की प्रतिध्वनि से रक्त और मृत्यु भूमि को आलोड़ित कर प्रबल युद्ध

करने लगे। जीवन से उदासीन होनों और के संन्यश्वल प्रस्तुतकाल की भाँति निहृत होने लगे। अग्नि जिस प्रकार बायु द्वारा अनुमृत होती है उसी प्रकार वासुदेव शलदेव द्वारा अनुसृत होकर स्व-रथ में खड़े होकर पाञ्चजन्य सौंड को बजाया। उस रथ से चारों ओर के धनु संन्य ईम प्रकार कांप उठे माने वज्जात हुआ हो।

(स्तोत्र १६४-१७२)

‘खड़े रहो, खड़े रहो, तुम स्वरों को बहुत खड़े योऽन्न समझ रहे हो, कहते हुए प्रतिद्वन्द्विता के लिए आळ्हान कर प्रतिवासुदेव रथालह होकर युद्ध के लिये वासुदेव की ओर आपसर हुआ। वासुदेव और प्रतिवासुदेव ने कोघ में चढ़ी भुक्ति की तरह धनुष पर टक्कार किया। ऐध जैसे अब दरहाती है उसी वक्त दोनों जग बहाने लगे। उनके सिंह-से गर्जन ने लेघर रूपी हरिणों को शमिष्ठ कर दिया। सभ्य युद्ध घोड़ में अविराम शर वर्षण ने शाराच्छदित समुद्र का रूप धारण कर लिया। हुस्तशेषित, वन्दक्षेषित वा अशेषित और अन्य अस्त्रों द्वारा, जल में जैसे दो तिमिजल युद्ध करते हैं उसी प्रकार, वे युद्ध करने लगे।

(प्रलोक १७३-१७५)

तब वज्जी जैसे वाय को स्मरण करता है उसी प्रकार निषुष्ट ने शर्वग्राही भयानक तीक्ष्ण और प्रज्ञवानित अग्निदिव्या रूप चक्र को स्मरण किया। चक्र उपस्थित होने पर उसे अंगुलियों में घुमाकर वह दर्द के साथ वासुदेव को बीला—

‘तुम वास्तव हो अतः तुम दया के पात्र हो। तुम यदि अब भी पलायन करते हो तो इसमें तुम्हारे लिए लज्जाजनक क्या है? बतः या तो भागो वा मेरी सेवा करो। तुम्हारे पास ऐसा कुत्ता भी नहीं जो तुम्हें सत्परामर्जी दे। लिक्षित इस चक्र से मैं पर्वत को भी छोड़ राक्षस हूं, तो फिर लौकों के जैसे तुम्हारे गले की तो बात ही क्या?’

(प्रलोक १७६-१८१)

पुष्पगिरि में प्रत्युत्तर दिया—‘तुम जो इस भाँति और कर रहे हो तो अब देखना होगा कितनी शक्ति तुम मैं हूं, कितनी जक्र मैं है। अन्य अस्त्रों से तुम क्या कर सके हो। मेरघ जैसे इन्द्र-धनुष की वहन करता है इस चक्र की वैसे ही तुम वहन कर रहे हो। मूर्ख! यह हमारा क्या कर सकेगा? निषेप करो, इसकी सामर्थ्य भी अब देखेंगे।’

(स्तोत्र १८२-१८४)

पुरुषसिंह का ऐसा कठोर व्यक्त्य सुनकर निषुम्भ ने उन्हें मारने के लिए अपनी भगवत् शक्ति संहृत कर उस चक्र को निक्षेप किया। वह चक्र नाभि हारा बासुदेव के बद्ध को स्वर्ण कर विद्यु पर्वत पर आघात करने लाले इस्ती भी तरह व्यर्थ हो गया। उस आघात से बासुदेव मूर्छित हो गए। बलदेव गोशीर्ष चन्द्र के जल से उनके नेत्र मुख की सिंचित खारने लगे। संज्ञा लौटते ही ऐसे उठ खड़े हुए और उसी चक्र को हाथ में लेकर निषुम्भ से बोले—‘अब खड़े मत रहो, भाग जाओ, भाग जाओ।’ निषुम्भ ने प्रत्युत्तर दिया—‘निक्षेप करो, निक्षेप करो।’ तब पंचम अर्द्धचक्री ने उस चक्र से निषुम्भ का सिर काट डाला। महाबली बासुदेव पर विजयी के हास्य की तरह आकाश से पृथ्वीवित होने लगे। (श्लोक १५४-१५९)

विजय पर विजय प्राप्त कर अर्द्धचक्री ने भरतार्द्ध जब किया। महृत् व्यक्ति की अभीप्सा हृजारों रूपों में फलदायी होती है। विजय-अभियान से बीटकर पुरुषसिंह मगध गए और वहाँ कोटिशिला की मिट्टी के धातु की तरह एक हाथ से डका लिया। पृथ्वी को अस्त्रों से आच्छादित कर वे अश्वपुर को लौट गए। तगर-नारियों ने पद-पद पर उनकी अस्थियाँ की। बलदेव और अन्य भक्तिमान राजाओं द्वारा वे अर्द्धचक्री के रूप के अभिविला हुए। (श्लोक १९०-१९१)

छद्मस्य रूप में दो वर्षों तक प्रवर्जन करते हुए भगवान् घर्मनाथ अपने दीशा स्थल व्यक्तिगत उपाय में लौट आए। दो दिनों के उपवास के पश्चात् पौय भस्त्र की पूणिमा को नन्द जब पुर्ण नक्षत्र में ध्वस्तियन धा उन्होंने दधिपर्ण वृक्ष के नीचे गुकन्दयान की हितीय अकस्मा अक्षिक्रम कर केवलज्ञान प्राप्त किया।

(श्लोक १९४-१९५)

देव निमित् समवसरण में अरिषट बादि इह गणभूतों के सम्मुख प्रसु ने देशना दी। (श्लोक १९६)

भगवान् के नीथ में रक्तवर्णोदय कूर्मवाहन वाले तिगुख यक्ष उत्पन्न हुए। जिनके बाहिनी और के तीनों शाखों में से एक हाथ में नकुल, दूसरे में दण्ड और तीसरा अभय मुद्रा में था। तीर्थी और के तीन हाथों में यथाक्रम से दिनोरग, पथ और अक्षमाला थी। से भगवान् के दासम देव हुए। इसी प्रकार प्रभु के तीर्थ में शुक्लशरणी

मपूरखाहन। बांदियों नगमक दबा उत्पन्न हुई जिसक दागी हाथ के प्रथम में तील कमल और द्वितीय में अंकुश था। दायीं और के दोनों हाथों में से एक में कमल था और दूसरा अभय मुद्रा में था। ये भगवान की शाशन देवी थीं। वह सर्वदा भगवान के निकट ही रहतीं। (श्लोक १९७-२०८)

इनके हारा सेवित होकर पृथ्वी प्रवेशन करते हुए प्रभु अपशुर आए। शकादि देवों ने वहाँ ५४० घनुष दीर्घ चैत्यवृक्ष सहित समवसरण की रचना की। भगवान ने उग समवसरण में प्रवेश कर चैत्यवृक्ष को नमस्कार किया एवं पूर्णभिसुख होकर सिंहासन पर उपवेशित हुए। तब व्यंतर देवों ने प्रभु की तीन मूर्तियाँ निर्मित कर चैत्य तीनों और रत्न-जडिल सिंहासन पर स्थापित की। संधि उसी समवसरण में प्रविष्ट होकर यथास्थान अवस्थित हो गया। लिंगका प्राणी सध्य प्राकार में भीर वाहनादि त्रितीय प्राकार में रह गए। (श्लोक २०९-२१५)

कर्त्तव्यपरायण अनुचरों ने पुरुषसिंह को प्रभु के आगमन की सूचना दी। उन्होंने सम्बद्ध वाहक को शारह करोड़ रुप्य पुरस्कार में दिया और सुदर्शन सहित समवसरण में प्रवेश कर प्रभु को प्रदक्षिणा देकर बन्धन किया और अद्यज शहित शक के पीछे जाकर बैठ गए। प्रभु जो पूनः बन्धन कर आपकी सेवा में सर्वदा संलग्न थाकृ पुरुषसिंह और सुदर्शन ने अनन्द भाव में प्रभु की इस प्रकार स्तुति की। (श्लोक २१६-२१८)

हे पृथ्वी रूप चक्रोर के लिए चन्द्रसुल्य और मिष्याल्ब रूप अन्धकार का विनाश करने में सूर्य सहस्र जगत्पति धर्मनाथ, आपकी जय हो ! यथापि आपने दीर्घकाल छाद्यस्थ रूप में विचरण किया फिर भी प्रमादसून्य थे। अनन्त दृश्य से युक्त आप अन्य भतों को विनष्ट करे। जो आपके दर्शन रूपी जल में रुनान करेंगे उनके कर्म-मल मुहूर्त मास में घुल जाएंगे। हे भगवन्, आपकी पद-छाया में आते ही जिस प्रकार ताप दूर हो जाएगा है उस प्रकार मेघ की छाया या पेड़ की छाया से दूर नहीं होता। जो यहाँ उपस्थित हुए हैं उनके पारीर आपकी दृष्टि बालोक में चित्र की भाँति स्थिर हो गए हैं। यथापि ये परस्पर वैरभाव सम्पन्न हैं। फिर दीर्घकाल के पाञ्चात् त्रिलोक यहाँ आकर सम्मिलित हुआ

है। हे निखिल जन तारक, ये सभी आपकी प्रकृति से भावुभावात्मक हो गए हैं। क्षितिंशत्पत्ति, अद्वैत भरत और की आदिम दिव्यता की रक्षा कर हम लोगों की, जिनका कि कोई रक्षक नहीं है, आप रक्षा करें। हे जगत् । तू मैं ते वस्त्राद राष्ट्री प्राप्तिः करते हैं कि आपके अरणों में हम लोगों का मन रुधि भ्रमर सर्वदा संतान रहे।' (ग्लोक २०६-२१७)

इस भाँति स्तुतिकर शक्ति, वासुदेव और कलराम के निवृत्त ही जाने पर प्रभु ने यह देशता दी :

'संसार के चारों ओर में मोक्ष का स्थान सभी के ऊपर है जिसके मूल में है आत्म-समाहिति। आत्म-समाहिति सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारिका रूपी विवरणों के द्वारा प्राप्त होती है। जो ज्ञान तत्त्वानुसारी है वह सम्यक्-ज्ञान है। इस तत्त्व में सम्यक् अड्डा ही सम्यक् दर्शन है और इसी के अनुसार हेतु का व्याग ही सम्यक् चारिका है। आत्मा तो स्वयं ही सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारिका रूपी है। आत्मा ने अज्ञान के कारण जिन दुःखों को उत्पन्न किया है उनका निवारण आत्म-ज्ञान के द्वारा ही होता है। जो आत्म-ज्ञान से रहित है उनके तपस्या करने पर भी अज्ञान-जनित दुःखों का ऐहन नहीं हो पाता। यह आत्मा चेतन्य रूप है किन्तु कर्मयोग से शरीर ध्वारी हो जाती है। जब इसके अपान रूपी अस्ति में कर्मसूल दर्थ हो जाते हैं तब यह दोष रहित परम विशुद्ध सिद्ध ज्ञानस्था को प्राप्त कर लेती है। यही आत्मा जड़ कथायों एवं इन्द्रियों के वसीधृत ही जाती है तब संसारी और कथाय एवं इन्द्रियों को जय कर लेती है तब वह मुक्त ही जाती है ऐसा ज्ञानियों का कथन है।' (ग्लोक २१८-२२५)

'कथाय चार प्रकार के हैं : क्रीध, मान, माया और लोभ। इनके भी चार-चार प्रकार के भेद होते हैं। मथा—संज्ञलन, प्रत्याक्षयानी, अप्रत्याक्षयानी और अनन्तानुबन्धी। इनमें संज्ञलन एक पक्ष तक, प्रत्याक्षयानी चार मास तक, अप्रत्याक्षयानी एक वर्ष तक और अनन्तानुबन्धी जीवन पर्यन्त रहता है। संज्ञलन कथाय चीतरागत में वाधक है, प्रत्याक्षयानी कथाय साधुता में, अप्रत्याक्षयानी कथाय भावहरय में, अनन्तानुबन्धी कथाय सम्यक् दृष्टि में वाधक है। संज्ञलन कथाय देवदत, प्रत्याक्षयानी कथाय मनव-

जन्म, अप्रस्थावदानी कथाय दियेंक औनि और अनन्तानुवन्नी कथाय नारक भव प्रवान करता है। (श्लोक २२६-२२८)

'हनमें कोष्ठ आत्मा को तप्त कर वैर और शत्रुता को अन्म देता है, दुर्गति में खींचकर ले जाता है और समता रूपी सुख में आधक बनता है। कोष्ठ उत्पन्न होते ही अग्नि की भाँति संयमप्रथम अपने आधय-स्पल को ही जला डालता है दूसरे को तो जलाए प्या नहीं। कोष्ठ रूपी अग्नि आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व के संयम और तपस्या के कल को एक मुहूर्त में जलाकर अस्म कर देता है। यह युग्म है विद्यित अपने इन्हीं जनएता ऐसी चिय ने सम्पर्क में जलाकर उसी मुहूर्त में अपेक्ष हो जाता है। विद्यित गुणों द्वारा गुणी हुई आरिद रूपी चिकित्सामा को कोधाग्नि निःसृत धूम मुहूर्त भर में काली कर देता है। वैराग्यरूपी शशी पल पर संचित समता रूपी रस कोध रूपी छिद्र से मुहूर्त भर में निकल जाता है। कोष्ठ बड़ने पर ऐसा कीन-सा अकरणीय कार्य है जिसे वह नहीं कर बैठता? यह अव्य द्वारिका भविष्य में हंपायण श्रुति के कोष्ठ में इष्टन की तरह जलकर राख ही जाएगी। कीर्ति कोष्ठ के कारण जिस कार्यसिद्धि को देखता है वह कोष्ठ के कारण नहीं होती बल्कि पूर्व जन्मस्कृत पुण्य फल के कारण होती है। अतः ऐसे कोष्ठ को जो इस लोक परलोक में अपना और पराये का स्थान विनष्ट करता है, उसे अपनी ऐह में स्थान देता है, उसे बार-बार घिक्कार है। कोधान्ध पुण्य निर्देष्यतापूर्वक अपने माता पिता गुरु सुहृद मिळ सहीदर स्त्री पुत्र यहां तक कि अपनी भी हृत्या कर बैठता है। अतः कोष्ठ रूपी अग्नि को बुझाने के लिए उत्तम पुरुष संयम रूपी उत्थान में धामा रूपी अलधारा सिंचन करते हैं अर्थात् कोष्ठ को भमा द्वारा जीत लिते हैं। (श्लोक २२९-२३१)

'अपकारकारी वयस्ति पर उत्पन्न कोष्ठ को किस प्रकार रोका जा सकता है? अथमतः सव महस्त द्वारा। द्वितीयतः इस भावना से कि जो मेरा अनिष्ट कर रहा है वह तो अपने दुष्कृतियों द्वारा अपनी ही आत्मा का अविष्ट कर रहा है। तब मैं क्यों पाण्डल की तरह उस पर कोध करता हूं? हे आत्मन्, तुम यदि सोचो तो पाण्डों जो तुम्हारा अनिष्ट बार रहे हैं वे तुम्हारे बास्तविक अविष्टकारी नहीं

है। तुम्हारा अनिष्ट तो तुम्हारे कृत कर्मों द्वारा ही हो रहा है। उसी के कारण तुम दुख पा रहे हो। कुत्ता पत्थर फेंकने वाले पर नहीं मापदण्ड बहिक पत्थर पर मापदण्ड है। जबकि सिंह तीर पर न मापदण्डकर तांर फेंकने वाले पर मापदण्ड है। तब क्यों हम अपने स्वकर्मी की उपेक्षा कर उस कर्म के लिए जो हमारा अनिष्ट कर रहा है उस पर क्रोध करके पापन्यक में डूबें। (श्लोक २४०-२४४)

‘भवित्य मैं भगवान् भहावीर धमा को शिद्ध करने के लिए मलेच्छ देश में जाएंगे। कारण सहज भाव से प्राप्त धमा तथ तक क्षमा नहीं है जब तक परीक्षित नहीं हो जाती है। महाप्रलय में जो शिलोक की रक्षा करने में समर्थ हैं ऐसे व्यक्ति भी जब अनिष्ट अपहरणकारी के प्रति क्षमा धारण करते हैं तब कदली वृक्ष की तरह स्वत्प सत्त्व सम्पद आए लोग क्यों क्षमा धारण नहीं करेंगे? ताकि कोई आपवान अनिष्ट नहीं कर सके ऐसा पुर्य क्यों नहीं अर्जित करते? आप लोग अपने पूर्व प्रमाण की अल्पोचना कर लमा के लिए तदपर बनिए। हे आत्मन्, क्रोधात्मा मुनि और चाण्डाल में पार्थवय कहां है? अतः क्रोध का परित्याग कर युग्म भाव शहदण करो। एक महर्षि क्रोधी थे; किन्तु करणवृ के क्रोधी नहीं था अतः इथों में महर्षि की उपेक्षा कर करणवृ के बदलना और नमस्कार किया। यदि कोई मर्मभेदी जात आहत है तब विचार करो जो कुछ यह कह रहा है वह यदि सत्य है तब तो क्रोध करने को कोई आवश्यकता ही नहीं है, यदि वह मिथ्या है तब भी क्रोध करने का कोई कारण नहीं है क्योंकि वह उत्साद का प्रलापमात्र है। यदि कोई हमें आशात पहुंचाने आए तो सोचिए मेरे अशुभ कर्म के कारण ही यह आशात आ रहा है, यह मूर्ख व्यर्थ ही आशात देने के पाप का भागी बन रहा है। यदि कोई तुम्हारा वृक्ष करने आए तब सोचो कि मैं दुर्भाग्यवश ही हत हुआ हूँ अतः निर्भय हूँकर निहत की हत्या के पाप कर्म का बन्धन करने वह आ रहा है। समस्त पुरुषार्थ अपहरणकारी क्रोध रूपी तत्कर पर यदि तुम्हें क्रोध नहीं आता है तो निमित्त मात्र ज्ञान अत्य अपराधी पर क्रोध कर तुम स्वयं ही क्या धिक्कार के पाद नहीं बन रहे हो? एकदर्श जो शुद्धिमान हैं वे समस्त दुनियों को ज्ञान करने वाले जारी और विस्तृत क्रोध रूपी

विषयक को क्षमा रूपी गारुड़ी मन्त्र से जय करते हैं।

(श्लोक २४५-२५४)

'मान कवाद विनय, श्रुत और होल रूपी विवरों का नाश कर प्रणामों के विवेक रूपी नेत्रों द्वारा इन कर बहुत चाही देह है।' यानि कुल, ऐष्ट्यर्थ, बल, शक्ति, सौम्यता और तप एवं ज्ञान का अभिमान ऐसे कर्म वस्थनों का कारण बनता है कि वह उसी अनुपात में परजन्म में हीनता को प्राप्त होता है। ऊच-नीच मध्यम जाति के ऐसे अनेक भेदों को देखकर भी क्या कोई शुद्धिमान जाति का अभिमान करेगा? जाति की हीनता और उन्नतता कर्म के अनुरूप ही होती है अतः परिवर्तनशील जो जाति सामान्य कुछ दिनों के लिए प्राप्त हुई है उस पर क्या अहंकार करना है। अन्तराय कर्म क्षय होने पर ही मनुष्य सम्पदा प्राप्त करता है अन्यथा नहीं कर सकता अतः यस्तु स्थित की जात कर संपदा का अहंकार मत करो।

(श्लोक २५५-२६१)

'नीच कुल में जन्मे मनुष्य में भी ज्ञान-सम्पद, चारित्र संपद मनुष्य पाए जाते हैं तब किर क्यों उच्छ्वास कुल में जन्म प्रहृण करने का गर्व करते हो? सद्वारित्र और असद्वारित्र से कुल का कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा सोचकर विदेशकीय शक्ति के धोग्य कुल का गर्व मन करो।'

(श्लोक २६२-२६४)

'बलभान मनुष्य को भी रोग एक मुहर्ते में दुर्बल और तृद्रता से जीर्ण कर देता है। इसलिए शल और शक्ति का गर्व करना भी उचित नहीं है। व्याधिका और मृत्यु रो जो बल पराजित है उस यान पर गर्व करना।'

(श्लोक २६५-२६६)

'नदा धातुओं से निर्मित दग्ध देह का रूप कभी यड़ता है कभी घटता है। रोग और व्याधिका रूप को विनष्ट कर देता है। तब ऐसे रूप का गर्व ही क्या है? भविष्य में सनत्कुमार नामक ग्रन्थ वक्तव्य होंगे जिनके जैसा रूपभान कोई नहीं होगा। यह रूप भी जब विनष्ट हो जाएगा तब रूप का भी गर्व गर्व क्या?

(श्लोक २६७-२६८)

'अतीतकाल में हुए भगवान् श्रुतभद्रेव के घोर तप और भविष्य के जाम तीर्थकर भगवान् महाबीर के घोर तपों को अवगत कर स्वयं के सामान्य तप पर गर्व मत करो। जिस तपस्या से कर्म

बन्धन भीण होता है वही तपश्चया यदि अभिषेकमुक्त हो तो उससे उलटे विशेष कर्म का बन्धन हो जाता है। (श्लोक २५९-२७०)

'पूर्व के महापुरुषों ने अन्तर्जनि द्वारा जिन शास्त्रों की रचना की उन्हें पढ़ाकर मैं सर्वज्ञ हूं जो ऐसा अहंकार करते हैं वे उस जास्त्र का ही अध्ययन करते हैं। यद्यपि इन्हें शास्त्र ज्ञान निर्माण और धारणा करने की शक्ति को गुनकर ऐसा कीज शोता और हृदयवान् है जो शास्त्रज्ञान का अहंकार करेगा ?'

(श्लोक २७१-२७२)

'दोष रूपी जाता का विस्तार और गुण रूपी मूल को संकुचित करने वाले वृक्ष को मृदुता रूपी नदी की वाष्प से उत्पादित जारना उचित है। उद्धत मान का निर्वेध मृदुता व मार्दवता स्वरूप है और उद्धता मान का स्वरूप है। जब आदि कुल आदि की उद्धता मन में जाने लगे तब उसे दूर करने के लिए मार्दव भावों को लाएं। सक्षके प्रति विनम्र बनें विशेषकर जो पूज्य हैं उनके प्रति तो अवश्य ही जने कारण मृदुता मनुष्य को मुक्त करने में समर्थ है। मान के कारण ही बाहुबली पाप रूपी जाता में आद्ध हो गए थे और मृदुता अवलम्बन करते ही पाप से मुक्त हो केवलज्ञान शाप्त कर लिया था। चक्रवर्ती महाराज तक वर्तिज प्रहृण करने के पश्चात् निःसंग होकर शत्रु के घर भी विद्या प्रहृण करने जाते हैं। मान को उदाहरण के लिए उनकी मृदुता भी किननी कठोर है? चक्रवर्ती समाट भी मान परित्याग कर ताकाल प्रवर्जित साधु को दलदन-नमन करते हैं और हमेशा करके रहते हैं। मान पाप-वर्जक है इस तरह की जमानकार मुद्दिमन व्यक्ति मान विनाट करने के लिए सदैव मृदुता का अवलम्बन करते हैं।'

(श्लोक २७३-८०)

'भाया असत्य की जननी है। सदाचार रूपी वृक्ष की निर्मूल करने में कुठार रूप है, अविद्या की अन्म भूमि और हीन अन्म का कारण है। कुटिलना में चतुर और काषटयुक्त वाक् वृत्ति युक्त पापी मनुष्य जगत की उन्नति के लिये भाया का विस्तार करते हैं, किन्तु इससे वे अपनी आत्मा को ही ठगते हैं। याना अर्थसाम के लिए राजनीति के वृद्धुणों से छल, प्रपञ्च और विकासचाल कर संसार की ठगते हैं। व्रात्युष अन्तर में सदृशुण से शून्य है; किन्तु ऊपर से गुणवान् होने का दोग कर तिलक मुद्रा मन्त्र दीनता आदि से मनुष्य

को उगते हैं। कपड़ी तणिक धर्ये लोभ से कम बजन और खराब वस्तु देकर लोगों को उगते हैं। अन्य धर्मियोंन्हीं पश्चापि अन्नर से नाशिक हैं बाहर मूँज छिला भधम बलकल अग्नि (धूती) आदि धारण कर मुख्य अद्वालु लोगों को उगते हैं। गणिकाएँ पश्चापि अन्नर में स्नेहहीन होती हैं फिर भी बाहर हाव-भाव शिखाकर भीला छिलास और कटाक्ष ढारा लाती है। तिनुग्रह कर देती है। नाशी-स्त्री, पिता-पुत्र, भाई-भाई, मिल-मिल, स्वाभी-सेवक और अन्य लोगों को परस्पर माया द्वारा ठगते हैं। और धन के लोभ से दिन-रात सतके रहता हुआ असाक्षात् मनुष्यों को निर्दयतापूर्वक उगते हैं। कला प्रदर्शनकारी और निम्न धोणी के अक्ति जो कि अपनी कला की सहायता से आजीविका बलाते हैं वे सरल मनुष्यों को नाना प्रकार से ठगते हैं।

(इति २८१-२९१)

'श्रूत प्रेतों की वरह अंतर जाति में हीन पानि के वेवण श्वास और प्रपञ्च से प्रमादी मनुष्यों को फूरतपूर्वक नाना प्रकार से दुःख देते हैं। भस्त्रादि जलचर जीव छल से अपने ही शाश्वतों को खा जाते हैं। धीरण छलपूर्वक जाल से भस्त्रादियों को फैकर उनके प्राण हरण करते हैं। शिलारी अनेक प्रकार की माया से स्थलचर पण्डियों का संहार करते हैं। सांस-लोलुप प्राणी लावक आदि पश्चियों को छल से पकड़कर कृता पूर्वक उनको हत्या कर खा जाते हैं। इस प्रकार मायाचारी जीव मायाचार से अन्य को घाकर स्वघर्म से और गद्यगति को नष्ट कर स्वदयं को ही ठगते हैं। जो माया शिर्यक दोनि में उत्पन्न होने में कारणरूप बीज है मोक्ष द्वार को दृढ़ता से बन्द करने वाली अर्थात् है और विश्वास अपी कृत्ता के लिए दावानल त्रुह्य नाशकारी है उसे विवेकदान अवैष्य ही त्याग कर देय। अविष्य में होने वाले तीर्थकर मल्लीनाथ पूर्वजन्मकृत मूर्ख माया शाह के धारण स्त्री स्व में उत्पन्न होने वाले द्वौहकारी मायारूपी सरं को गरबता रूपी धौषधि द्वारा जय करना उचित है। सरलता से आनन्द प्राप्त होता है; सरलता मोक्ष रूपी पुरी का सरल मरण है। इसीलिए जातियों ने कहा है कि कूसरों को दुःख मत दो। जो गरबता का सेवन करते हैं वे सबके प्रीति-भाजन होते हैं। जो शुद्धि मायाचारी है लोग उनसे सर्व की भाँति डरते हैं। जो कर्म और शिष्टन से सरल है वे संसार में रहते हुए भी स्वतः ही

अनुभव में अति है इस भाँति अङ्गिम मुक्ति मुख का अनुभव करते हैं, जिसमें कुटिलता रुपी कंठक हो, जो मायाचारी है, जो दूसरों का अनिष्ट करने में प्रबुत्त है, ऐसे व्यक्ति स्वान में भी सुख शान्ति कसे प्राप्त कर नकलते हैं? समस्त विद्या प्राप्त करने के बहुत भी, समस्त कलाओं को अधिगत करने के पश्चात् भी, शिष्य नुक्ति सरलता भाष्यशाली को ही भिनती है। अज्ञ शिशु की सरलता भी जब सको प्रिय लगती है तो फिर जो धास्तों के अध्ययन में निरत हैं उनकी सरलता सबको प्रिय लगती है में आश्वर्य हो जाता है? सरलता स्वभाविक है, कुटिलता कुङ्गिम है। इगलिए स्वभाव धर्म को छोड़ कर कुङ्गिम धर्म कोन पहण करेगा?

(शोक २९२-३१६)

‘इति पिण्डुत्ताता यथोऽपि और प्रतिबन्ध में निरद मनुष्यों ने शुद्ध स्वर्ग के समान निर्मल और निविकार मनुष्यों का साक्षात् भाष्य से ही होता है। जो समस्त गणधर धूत मनुद्र पारणायी हैं वे तीर्थकरों की वाणी को सरलतापूर्वक सुनते हैं। जो सरलता-पूर्वक अपने दोषों की आलोचना करता है वह समस्त मुख्यों को धय कर देता है। जो मायाचारपूर्वक दोषों की आलोचना करता है वह अपने सामान्य से दुरकाम को खूब बढ़ा बना लेता है। जो मन, वचन, कामा से कुटिल है वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। मुक्त बही होता है जो मन वचन काया से राखता है। इस प्रकार मायाचारी कुटिल मनुष्यों को उचकर्म की कुटिलता का विचार कर कुङ्गिमान मुक्ति प्राप्त करने के लिए सरलता का आश्रय लेते हैं।

(शोक ३०७-३११)

‘लोभ समस्त दोषों का घर है, गुण भक्षणकारी राक्षस है, व्यसन रूपो लता का मूल है और समस्त प्रकार की धर्म प्राप्ति में बाधक है। निर्मन व्यक्ति भक्ति सौ लप्त चाहता है, जिसके पास एक लो है वह हजार चाहता है, जिसके पास हजार है वह एक लाख चाहता है, जिसके पास एक लाख है वह एक कोटि चाहता है। कोटिपति राजाधिपति होना चाहता है, जो राजाधिपति है वह चक्रवर्ती होना चाहता है। इतने पर भी लोभ की समाप्ति नहीं होती। वह देवता होना चाहता है, देवों में भी इन्द्र। इन्द्र होने पर भी लोभ की शान्ति कहीं है। लोभ तो धारा की तरह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। समस्त पापों में अंते हिता, समस्त कर्मों में दिव्यास्व-

समस्त रोगी में श्रवण दोष है उसी भाँति समस्त कावायों में लोभ कषाय है। (श्लोक व १२-११६)

'इस संसार में लोभ का एकछल आधिपत्य है कारण वृक्ष भी अपने तल में रखे धन को जहाँ डारा भावूल कर देता है। धन के लोभ में हिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव भी पूर्व जन्म में गाँड़ घन पर मूच्छित होकर अवस्थान करते हैं। सर्व और छिपकली की तरह पञ्चेन्द्रिय जीव भी नोभ से जाने पूर्व भव या अन्य के मिट्टी में गाँड़ अन पर आकर स्थित हो जाते हैं। पिण्डाघ मुदगल मूर्ति प्रेष और यज्ञादि देव लोभ के बड़ीभूत होकर अपने या अन्य के गाँड़ घन पर आकर अधिकार जमा लेते हैं। बलद्वार, उषान, वापो आदि में मूच्छित देव स्वर्ग से न्युत होकर पृथ्वीकायादि में उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि साधु-मुमिनाज जिहाने क्रोधादि एव्यायी को जीत वर्द उपशान्त बोह तरमक चतुर्दश गुणस्थान प्राप्त कर लिया है वे भी लोभ के एक अंश मात्र रह जाने से गतित हो जाते हैं। याच के लिए जिस प्रकार दो कुन्ते परस्पर मापड़ते हैं उसी अकार दो सहोदर तर्दा परस्पर बन के उस सागड़ने लगते हैं। यामींग अधिकारी और राजा जैत, याम और राज्य की सीमा के लिए लोभबद्ध एक-दूसरे को विक्रता परित्याग कर परस्पर शब्दु बन जाते हैं।' (श्लोक व १६-२२५)

'लोभी मनुष्य इवामी व अधिकारी को प्रसन्न करने के लिए उनके तमसुख पट वी तरह अकारण हृषि, शोक, वैष, रागादि व्यक्त करते हैं। लोभ का गर्व विचिन्ता है। इसकी जितनी पूलि होती है उतना ही यह बड़ता जाता है। समुद्र को जलदारा पूर्ण करना फिर भी सम्भव है, किन्तु लोभ रूपी समुद्र को जिनोक के बैमब से पूर्ण नहीं किया जा सकता। न जाने कितने ही वस्त्र खाश विषय और वैभव की मनुष्य ने जन्म-जन्म में भोगा है, किन्तु क्या उसका एक बाण मात्र लोभ भी उपदांत हुआ है? यदि लोभ को ही वह छोड़ सकता तो अन्य तपों की आश्वस्यकता ही क्या थी? फिर जब लोभ का ही परित्याग न कर सका तो अन्य तपस्याओं का प्रयोग्यन ही क्या है? समस्त शास्त्रों का यही सार है कि कुरिमान मनुष्य लोभ-विजय का प्रयास करे।'

(श्लोक व २२५-११७)

‘बुद्धिमान मनुष्य लोभ रूप महासागर से चतुर्विक प्रसादित प्रचण्ड तरंगों को सन्तोष रूपी बांध ढारा नियूल करते हैं। मनुष्यों में जिस प्रकार चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार सभी गुणों में सन्तोष गुण सर्वश्रेष्ठ है। सन्तोषो मुनि और असन्तोषी चक्रवर्ती के सुख-दुःख की तुलना की जाए तो दोनों के सुख-दुःखों का उत्कर्ष प्राप्त समान ही भिलेगा। अर्थात् सन्तोषी मुनि जितने सुखी हैं असन्तोषी चक्रवर्ती उतना ही दुःखी है। इसलिए चक्रवर्ती सभात् मी चार्य कीर दुरुष्टि परिवर्तन करने तो संगता हारा सन्तोष रूपी अमृत को प्राप्त करते हैं।

(इलोक ११३-११४)

‘कान बन्द कर लेने पर भी भीतर के शब्दाद्वय जिस प्रकार स्वतः ही वर्दित होते हैं उसी प्रकार धन का लोभ परित्याग कर देने पर सम्पत्ति स्वतः आकर उपस्थित हो जाती है। नैव बन्द कर लेने पर समस्त विश्व जिस प्रकार आवृत्त हो जाता है उसी प्रकार सन्तोष धारण कर लेने पर प्रथेक वस्तु से विरक्ति स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। तदुपरात्म उसे इन्द्रिय दमन और कायमलेन की आवश्यकता ही नहीं रहती। सन्तोषधारी व्यक्ति की ओर मोक्ष लक्षणी भी स्वतः ही आकृष्ट हो जाती है। जो सन्तोष हारा तुष्ट हैं वे जीवन में ही भुक्ति का अनुभव करते हैं। राग हेतु युक्त किष्य भोग में ऐसा क्या सुख है जिसके लिए सन्तोष से उत्पन्न मुक्ति सुख का नियादर किया जाए? उस शास्त्र-वाक्य की भी क्या आवश्यकता है जो अन्य को तुष्ट करने का विद्यान देता है? जिनकी इन्द्रियों मलिन हैं, जो विद्यामत्त छैं, उनके लिए उचित है वे मन को स्वच्छ कर नन्तोष जात सुख की खोज करें। यदि तुम कहते हो कि कारण के अनुसार ही कार्य होता है तद्व सन्तोष के अनन्तर्द से ही मोक्ष का आनन्द प्राप्त हो जाता है वह तुम्हें स्वीकार करना होणा। जो उम तप कर्म को निर्मल करने में रामर्थ है वह उम तप भी यदि शन्तोष रहित है तो निष्पल है।

(इलोक ११५-११६)

‘सन्तोषी आत्मा के लिए क्या कुछ, क्या तौफारी, क्या पशु-पालन, क्या अ्यवसाय उसे तो किसी की भी आवश्यकता नहीं रहती। कारण सन्तोषामृत पान करने से उसकी आत्मा नियूति सुख की

प्राप्त कर सेती है। सत्तोषी तुण्डिया पर सोकर भी जो आनन्द प्राप्त करता है असत्तोषी रुद्धि के नरम विष्णुने पर सोकर भी उत्त अनन्द को प्राप्त नहीं करता। असत्तोषी घनवान् सत्तोषी समर्थ पूर्णप के लम्बुख तुण्डि तुल्य है। चकवर्णी और हन्दिगदि का अद्विजनित सुख प्रयास जन्म्य और नम्रर है; किन्तु यत्नोष से उत्तम सुख अप्रथास जन्म्य और नित्य है। जतः गुद्धिमात् मनुष्य के लिए उचित है कि समस्त दोषों पा आकर पौध परित्याग कर अद्वैत सुख का आशास रूप सत्तोष का अवलम्बन करे। इस प्रकार कवाय विजयी दूर शोध में मोक्ष युद्ध का दूजा भविता है, एतोक में सोध अद्वैत प्राप्त करता है।

(खोज ३४३-३४८)

प्रभु की यह देशना सुनकर अनेकों ने शमण धर्म प्रहण कर लिया। बलदेव आदि बहुत से जनधारी आवक बने। बामुदेव ने सम्यक्तव प्राप्त किया। दिन का प्रथम प्रहर समाप्त होने पर प्रभु ने देशना समाप्त की। इन्हों के पादपीठ पर बैठ कर गणधर अरिष्ट ने देशना दी। दिन का दूसरा वाम समाप्त होने पर उन्होंने भी अपनी देशना समाप्त की। तत्पश्चात् अहैतु बन्दना कर लाक, वातुदेव, बलदेव व छन्यान्य अपने-अपने स्थान को बले गए। भगवान् धर्मनाथ स्वामी अपने समस्त अतिशयों सहित गृष्णी के एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवृजन करने लगे। (खोज ३४९-३५२)

धर्मनाथ स्वामी के परिवार में ६४००० साषु, ६२४०० माडियाँ, ५०० चौदह पूर्वधारी, ३६०० अवधिजानी, ३५०० यनः पर्याय जानी, ३५०० केवलजानी, ३००० वैकिय लज्जि सम्पन्न, २८०० बादी, २४२,००० आवक और ३,१३०० आविकारै थीं। केवल जान प्राप्त करने के पश्चात् दो वर्ष कम अडाई साख धूंच तक प्रभु ने पृथ्वी पर विचरण किया। (खोज ३५३-३५८)

अपना मोक्ष समय निकट जानकर प्रभु द०० मुनियों सहित सम्मेत शिखर पर्वत पर आए और अवस्थान तप प्रारम्भ किया। एक मास पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को चन्द्र जब पुर्ण नक्षत्र में अवस्थान कर रहा था तब धर्मनाथ स्वामी ने ८०० मुनियों सहित मोक्ष प्राप्त किया। वैत पृथ्वी शक्वादि ने प्रभु का निवारणोत्तम संपन्न किया। अनन्तनाथ स्वामी के निवारण के बार लागर वर्ष के पश्चात् धर्मनाथ स्वामी का निवारण हुआ। प्रभु अद्वैत साख वर्ष तक

कुमारावस्था में रहे, पांच लाख वर्ष तक राज्य संचालन किया, अडाई लाख वर्ष तक चारिंव पालन किया। इस प्रकार पूरे दस लाख वर्ष तक की पूणिय भोग कर वे निवाण को प्राप्त हुए।

(बलोक १५९-१६३)

पंचम कामुदीव पुरुषसिंह मुद्दादि कूर कर्म करने के कारण छठे नक्क में गए। वे ३०० लाख पुश्यम रूप में, १२५० वर्ष उत्तरक रूप में, ७० वर्ष दिश्मिजय में और ९५-१०० वर्ष राजा रूप में रहे। उनकी कुल आयु १० लाख वर्ष की थी। (बलोक ३६४-३६७)

आत्म वियोग में दुखी बलराम, मुद्दर्णि साधुकीर्ति से दीक्षा लेकर १३ लाख वर्ष की पूर्ण आयु भोगकर मोक्ष को प्राप्त किया।

(बलोक ३६८)

पंचम सर्व त्रयाम्ब

बल सर्ग

भगवान् शासुपूज्य के हीर्ष में इस भगतक्षेत्र के महीमण्डल नामक नगर में अमरक्षति नामक एक राजा राज्य करते थे। अनाधीं के नाथ वे त्रृप्तिर्थ उत्तर साधु जिस प्रकार मम्यक् चरित्र के प्रति प्रयत्नदीन रहता है उसी प्रकार वे मम्यक् व्यवहार के प्रति प्रयत्नशील थे। वे पुरुषवृत्त द्वारा भी कभी किसी को आधात नहीं पहुँचाते थे वहिं तबीन पुष्पों की भौति उनकी रक्षा करते थे। विवेकशील के उन लोगों के उच्च और नीच स्वभाव के लिए काम और ऐश्वर्य को नुपुर की भौति और धर्म को मुकुट की भौति धारण करते थे। सर्वोच्च मुख प्रदान करने वाले मन्त्र की तरह वे अर्हत देव गुह साधु धर्म और अनुकम्पा की आराधना करते थे। (बलोक १-६)

एक दिन वहाँ उत्तरमना विवेकी राजा सबको निर्भय करने के पश्चात् व्याघ्र-से राज्य भार का परिव्याग कर थमण हो गय। अप्रमाद डागा विजय प्राप्त कर वे विर काल तक संयम पालन में निरत रह कर राज्य रक्षा की तरह साधुत्व का पालन करने लगे। दिव्य रत्नों से जैसे अलंकार मुशोभित होता है उसी प्रकार वे अस्तित्वारहीन मूर और उत्तर गुणों से मुशोभित थे।

वीर्यकाल तक संयम का पालन कर मृत्यु के पश्चात् 'सह्य प्रैवेयक' में शहूमित्र रूप में बै उलास हुए। (इतीक ७-१)

जम्बूद्वीप के भरत ज्ञेत्र में आवश्यक नामक एक नगरी थी। उस नगरी में समुद्रविजय नामक एक राजा राज्य करते थे। रहनाकर जिश प्रकार विविध रहनों का आकर है उसी प्रकार पै विविध गुणों के आकर है। वे शहू-मित्र दोनों के ही हृदय में विराजते थे कारण वे जैसे मित्रों को सहा जानन्द देते थे उसी प्रकार धनुषों के लिए भी सदैव भय का कारण रहते थे। वे पराक्रमी राजा जब युद्धरत रहते तो सदैव उन्मुक्त तलवार में केवल स्वयं को ही प्रतिफलित देखते। उन्होंने दशों दिलाओं को इस प्रकार अधीन कर लिया था। मानों यज्ञ रूप अलङ्कृत देकर उन्हें वृथीधूक कर लिया हो। सोपालक जैसे गाय श्री रथा करता है उसी प्रकार वे पृथ्वी की रक्षा करते और किसी को भी कष्ट न देकर कर बादि दुर्घट की सरह यथासमय प्रयोजन के अनुसार प्रहृण करते थे। (इतीक १०-१५)

उनकी पत्नी का नाम मञ्चा था। वह जितनी सुन्दर थी उन्हीं ही शोलवती और सौभाग्य का आकर थी। धर्म का लंघन न करते हुए समुद्र विजय ने उसके साथ दीर्घ दिनों तक सुख-भोग किया। (इतीक १६-१७)

अपरपति का जीवन अपनी ईकेयक की आयु पूर्ण कर वहां से च्युत होकर भद्रा के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। सुख-शाम्या में सौधी भद्रा ने चक्रवर्ती के जन्म-सूचक चौदह स्वर्णों को अपने मुख में प्रवेश करते देखा। यथासमय उसने सर्व सुलक्षणों से युक्त एक पुत्र को जन्म दिया। जातक हवर्ण वर्ण का था और साथे व्यालीस धनुष दीर्घ था। पृथ्वी पर मह मध्यान्तरा होगा ऐसा कह कर राजा ने उसका नाम रणा मध्या। (इतीक १८-२१)

सूर्य के पश्चात् जैसे चन्द्र आकाश को अलंकृत करता है उसी प्रकार समर्थ और विद्युती मध्यान्तरा ने दिता के पश्चात् पृथ्वी को अलंकृत किया। एक दिन विद्युत की भौति प्रभा विकीर्ण करते वाला चक्ररथ उनकी बायुप्रशाला में उत्पन्न हुआ। यमाक्रम से पूरोहित रथादि अन्य रथ भी यथास्थान उत्पन्न हुए। चक्ररथ का अनुसरण कर दिग्बिजय की अविवादा से

उसने पूर्व समुद्र के अलंकार रूप मगध तीर्थ की ओर प्रयाण किया। मगध तीर्थ के अधिष्ठित नीर के फलक में लिखे नाम द्वारा भूचित होकर उसके सम्मुख उपस्थित हुए और उसकी अधीनता रक्षीकार कर दी। उसने दक्षिण में वरदापति और पश्चिम में प्रभासपति को मन्त्रध्यायि की आर्ति जब कर लिया।

(इलोक २३-२६)

तत्पश्चात् चशी ने दक्षिण तीर पर उपस्थित होकर सिंहु देवी को जय किया। वहाँ से बैनाहथ पर्वत के निश्ठ गए और बैठाहथ कुमार को पराजित कर उससे कर यहण किया। वहाँ से वे नमिला बाए। नमिला गुहा के डार-रक्कां के रूप में अवस्थित कुतमाल देव को जीत लिया। उनके आदेश से उनके सेनापति ने अर्भ रत्न की सहायता से सिंहु अतिक्रम कर पश्चिम विभाग जय कर लिया। जब सेनापति ने इण्ड रत्न की सहायता से तमिला के उभय द्वारों को उन्मुक्त कर दिया तब नकी हस्ती रत्न की पीठ पर आरु होकर स्व-सेन्य सांकुर तमिला गुफा में भ्रष्ट हुए। हस्तीनुभांगों द्वाहिने और रथी मणिरत्न प्रभा और कांकिणी रत्न कुत दृश्य के अलोक से दूस्तर उन्मग्ना धौर निमग्ना नदियों का बद्धकी रत्न द्वारा बनाए सेतु द्वारा पार कर उत्तर दिशा के हार से होकर जो कि स्वयं ही खुल गया था उस गुफा से बाहर निकले।

(इलोक २८-३१)

इन्द्र जैसे अमुरों को पराजित करता है वैसे ही मध्या चक्रवर्ती ने जिन्हें जीतना कठिन था ऐसे किरात और आपातों को भी जीत लिया। सेनापति के सिंहु के पश्चिम भाग को जीत लेने पर उन्होंने स्वयं हिमचूल कुमार को पराजित कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने कांकिणी रत्न से अष्टभरूट के शिखर पर 'चक्रवर्ती मध्या' यह नाम खोद दिया।

(इलोक ३६-३८)

वहाँ से लौटकर वे पूर्वाभिमुख हुए। सेनापति ने गंगा का पूर्व अदेश जय कर लिया और उन्होंने स्वयं गंगा को वशीभूत कर लिया। इन तृतीय चक्रवर्ती ने बैतृढ़थ पर्वत की उभय श्रेणियों के विशाधरों को सहज ही जय कर लिया। तत्पश्चात् चक्रवर्ती के लिए जो करणीय है उसे जात कर उन्होंने छष्टप्रपत्ता गुहा के प्लाट पर बास करने वाले नाट्यमाल देव को जीत

लिया। सेमापति के द्वारा दोनों हार खोल देने पर वे नीका से बिल प्रकार सहज रूप से भासुद का अविक्षम किया जाता है औसे ही सहज रूप में चंताडय पर्वत को अविक्षम कर दए।

(एनोट ३९-४२)

गंगा-मुख पर अवस्थित नेसर्य आदि नदि-निधियों ने सानन्द उनकी अधीनता रखीकर कर ली। उनके सेमापति ने गंगा का पूर्व भाग जीत लिया। इस प्रकार उन्होंने छः क्षण भरताधेश को जीत कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। (एनोट ४३-४५)

चक्रवर्ती के समस्त बैभव राह मध्या इन्हें जैसे अमरावती को लौटते हैं जैसे ही आवस्ती को लौट आए। यहाँ देवों और राजाओं ने उन्हें चक्रवर्ती रूप में अभिषिक्त किया। १२ हजार मुकुटधारी राजाओं से परिवृत् १६ हजार देवों द्वारा सेवित इच्छा भाव ने नष्टनिधि जितको इच्छा पूर्ण करने के लिए उपस्थित रहती है ऐसे चक्रवर्ती ६४ हजार अन्तःपुरिकालों ने नेत्र रूपी नील कमल द्वारा लचित और देवोपम समस्त प्रकार की भोग-सामग्रियों के रहने पर भी वे भोग-रूप्य न बनकर बैश्व परमप्राप्त आवक धर्म का पालन करते में प्रवृत्त हुए। उन्होंने बहुविध वैद्य और सन्दिरादि का जीर्णोद्धार य निर्माण करवाया। जिनमें स्वर्ण और रसनों की जिव प्रतिमाएँ स्थापित करवायी। वे रसी लगती थीं मानो देव निर्मित हों। वे जिस प्रकार धूधकी के एक मात्र अधिनक्षित थे उसी प्रकार अहंत (देव), उत्तम साधु (गुह) और अनुकम्भा (धर्म) के वे एकमात्र उपासक थे। वे संयमी चक्रवर्ती राजाओं द्वारा पूजित होकर भी अहंत पूजा से कभी निष्पत नहीं हुए। (एनोट ४५-४६)

इस भागि आवक अविरत जीवन यापन कर मृत्यु के पूर्व अद्युप का विरति रूप धर्म ग्रहण किया। वे २५००० वर्षों तक कुमारावस्था में, २५००० वर्षों तक माण्डलिक राजा के रूप में, १०००० वर्षों तक दिविजजय में, ३,५०,००० वर्षों तक चक्रवर्ती रूप में और ५०००० वर्षों तक संयम साधना में रहे। इस प्रकार कुल ५००००० वर्षों की पूर्णायु भोग कर वे धर्वितमना चक्रवर्ती नंव परमेष्ठि का समरण करते हुए मृत्यु प्राप्त कर

सनत्कुमार देवलोक में सामानिक देवरूप में उत्थन हुए ।

(श्लोक ५४-५३)

इति २५ खण्ड

सप्तम संग

सोगवती, अमरावती और लक्ष्मा से भी अधिक सुवर्ण मनुष्य कांचमपुर नामक एक नगरी थी । विक्रमयज्ञ नामक एक विक्रम-जाती राजा वहाँ राज्य करते थे । उनकी समृद्धि की चिन्हान-ज्वाला शबूषणियों के अथुरुण बारिर-वर्णण की वृद्धि करती थी । उनके अन्तःगुर में सूर्यनन्दी पांच सौ रानियाँ थीं । यूथपति हस्ती को जैसे सूर्य की हृषिकेयी प्रिय होती हैं वैसे ही वे उन्हें प्रिय थीं ।

(श्लोक १-३)

उस नगर में कुबेर के घनगार से एक महा समृद्धिशाली नागदत्त नामक विणिक रहते थे । विणु की आई-सी अत्यन्त रूप-लालण्यवती उनके थिण्युधी नामक एक गती थी । उन दोनों के परस्पर का प्रेम नील के दाग की भाँति मिटने वाला नहीं था । वे सारस पिपुन की भाँति कीड़ा करते हुए सभी व्यापार कर रहे थे ।

(श्लोक ४-५)

एक दिन काकतालीय की भग्न हिण्युधी पर राजा विक्रमयज्ञ की इटि पड़ी । उसे देखकर विक्रमयज्ञ जियका विवेक काम हारा अपहृत कर लिया गया था । सोनने लगा—जशकी आधं हिरण्य-सी है, केदा नुन्दर मयूररूच्छ्वल-से है, झोण्ठ कोमल व काल पके विम्बफल की तरह दो भागों में विभक्त है, उसके स्तन पूर्ण और भद्रन के कीड़ाबीय की तरह पीन है, उसके हाथ सरल और लता-से कोकल हैं, कटि अत्यन्त कीण है जो कि बज्जे के मध्य भाग की तरह मुँहि में जा सकती है । उसकी तिवली रेखा हुस-पक्ति-नी है, नाभि नदी के आवती-सी है, नितमध्य सोन्दर्ये रूपी सरिता की बेलाशूभ्यि-से है, जंघाएं कदली बुझ-सी हैं, पैर कमल-से हैं । उसका मत्रण किसका मन हरण नहीं करेगा । एकदान में इन्द्र स्तम्भ-से वार्दुकप के लिए भ्रमवज्ञ विद्याता ने इसे अपाल को दान दिया है । इसे अपहृण कर मैं

अपने प्रसाद में रखूँगा। अ-पाल को दान और विद्वाता की इस भूल को मैं सुधार दूँगा।

(प्रतीक ७-१५)

इस प्रकार सौचकार विक्रमश काम के व्रष्टीभूत बना अपना यश नष्ट कर उसे अपने अन्तःपुर में ले आया और उसके साथ नानाविद्व काम-कीदा करने लगा। उगके विरह में विणिक ने अर्द्ध उत्तम ददा को प्राप्त हो गया भानी वह भूतपहन हो गया है या धनुरा पान कर लिया है या किसी व्याधि से आकर्त हो गया है अथवा सदिरा पान कर ली है या उसे विषी गाँ ने दंशन कर लिया है या उसका वायु पित शक विपर्व ही गया है।

(प्रतीक १६-१७)

उनके विरह-दुःख में विणिक के दिन एवं विलन-मुख में राजा के दिन व्यक्तिगत होने लगे।

(प्रतीक २०)

राजा सदैव विष्णुश्री के दान ही रहने वाले उनकी अन्न राजियों ने ईर्ष्यान्वित होकर उस पर इन्द्रजाल और मन्त्र का प्रयोग किया। इन्द्रजाल और मन्त्र-प्रयोग से विष्णुश्री कीट-कादी लता-सी थीरे-धीरे सूखकार मृत्यु को प्राप्त हो गयी। उसकी मृत्यु से राजा भी मृतप्राप्य हो गए एवं दुःख और वेदना से उनकी अवस्था नानदत्त-सी हो गयी। मुझ पर अधिमान किया है यमपत्रकर राजा उसकी मृत देह का अविन-संस्कार नहीं करने देते। अतः मन्त्रियों ने छलना द्वारा उसकी मृत देह को बन में फेंक दिया। तब राजा विलाप करते हुए कहने लगे—‘अनी तो तुम यही थी, किन्तु अब दिक्षायी कर्मों नहीं पड़ रही हो? विष्णु के सहृदय लुका-छिपो के इस खेल को अभाव करो। कारण विष्णु की अग्नि लेल नहीं है, यह जलाकर नष्ट कर देती है। तुम मेरे दुःख की कर्मों समझ नहीं पा रही हो—कारण ज्ञामारी भास्ता तो एक ही है। बीत्सुक्यवदा क्या तुम किसी कीदा-सरिता के निकाट गयी हो या कीदा-पर्वत पर जड़ गयी हो या उपवन में विहार करने गयी हो, किस्मु, मेरे बिना तुम विहार कीते करोगी? मैं भी आ रहा हूँ।’

ऐसा कहते हुए राजा उन्मादी की तरह नाना स्थानों में घरिजमण करने लगे।

(प्रतीक २१-२२)

इस प्रकार यिना चार जद तीन दिन भीत गए तब मन्त्रियों

ने उसके जीवन की अपेक्षाका कर विलग्नश्री की मृत देह उन्हें दिखाई। राजा ने जब उसे देखा तब उसके केश भालू के केश-से अविच्छिन्न थे। भाँड़ों धारक तेजों की तरह अन्य वक द्वारा निकाल ली गई थीं। स्तन मांस-लोकुप दाकुन द्वारा विधात था, उदर की बाँड़ें शून्यालों द्वारा निकाली हुई थीं। उसे भास पर मणियाँ जैसे भवभनाती हैं वैसे ही उसकी देह पर मणियाँ भवभना रही थीं। कृष्ण हुए अष्टे के चारों ओर जिस मांति चीटियाँ जुट जाती हैं उसी प्रकार उसकी देह के चारों ओर चीटियाँ लगी हुई थीं और उस देह से हुर्गम्य निकल रही थीं। यह देखकर राजा का मन संसार से विरक्त हो गया। ऐसे मन ही मन सोचने लगे :

'हाय ! इस असार संसार में कुछ भी मूल्यवान नहीं है। फिर भी उमकी देह को मूल्यवान समझकर मैं इतने दिनों तक मोहान्व बना रहूँ। जो परम मूल्यवाला को जाता है, वह कभी नारी के देह-सौन्दर्ये पर प्रलूब्ध नहीं होता। कारण, वह तलवी के रंग को भानि धण स्थापी होता है। चर्म द्वारा आवृत स्त्री-देह बाहर से ही सुन्दर होती है; किन्तु भीतरी मांस, मेद, मज्जा, पित्त, कफ, मन-मूल आदि अपवित्र वस्तुओं से भरी हुई और पेशियों की शक्ति द्वारा धूत होती है। यदि नारी देह बाहर-सी भीतर और भीतर-सी बाहर होती तब तो उसके प्रेमी शिथार-गिर्जा ही होते। कामदेव यदि नारी-देह को अस्त्र बनाकर संसार-विजय करता चाहते हैं तब पालक की भानि वे अविवेकी अन्य अस्त्रों का दमदहार कर्ते नहीं करते ? जिस राग द्वारा सब कुछ भोहनोग ही जाता है उसी राग को मैं जड़ सहित उखाड़ फेंकूँगा।' (प्रकोप ३०-३०)

ऐसा विनत कर संसार-विरक्त होकर राजा ने आखाय सुन्नत से हीका प्रहर कर ली। पालक के प्रति विदत्तस्यहु होकर सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणों से जल को सोख लेता है उसी प्रकार उन्होंने एक-एक दिन, बेल-बेलों की तपस्या द्वारा स्व-करीर को मुखा डाला। इस प्रकार कठित तपस्या में जीवन व्यतीत कर मृत्यु के पश्चात् वे सनकुमार देवलोक में परिपूर्ण आयुष्य वाले इन्द्र रूप में उत्तम हुए।

(प्रकोप ४१-४२)

सनकुमार देवलोक का आयुष्य समाप्त हो जाने पर विक्रम-वश के जीव ने रत्नपुर नगर में जिनधर्म नामक विष्णु पुक्ष के लंघ

में जन्म ग्रहण किया। वे बास्यकाल से ही रामुद जित प्रकार कट की मर्यादा का पालन करता है उसी प्रकार धावक के बारह वर्षों का पालन करने लगे। तीर्थकुरों की अष्टप्रकारी पूजा, शाश्वतों की निर्दोष आहार वान और स्वधर्मियों की बास्यवादि भक्ति सहित सेवा करते हुए जीवन विताने लगे। (श्लोक ४४-४५)

तांत्रदात ने पासी से वियुक्त होकर आत्मध्यान में भरकर विभिन्न तिर्यच धोनियों में दीर्घकाल तक विचरण कर मिहनुर तंगर में अग्निशमी नाभक आहुण के पत्र रूप में जन्म लिया। ददस्क होने पर त्रिदण्डी संन्यासी के रूप में विचरण करता हुआ वह रत्नपुर नगर में आया और दो-दो मास का उपवास करने लगा। उस समय श्रिरिवाहून रत्नपुर के राजा थे। वे वैष्णव थे। जब उन्होंने अग्निशमी की तपस्था के शिष्य में सुना तो उसे पारणे के लिए राजसभा में आमंत्रित किया। अग्निशमी राजप्रापाद में आया तो हठात् वहाँ जिनधर्मी को देखा। उसे देखने मात्र से ही पूर्व जन्म के दौर के कारण क्रोधित हो गया और करबद्ध होकर जड़े राजा से बोला—‘महाराज, अद्वितीय मृगे पारणा करनाना चाहते हैं तो आप का गरम पाल हस वणिक पुत्र की पीठ पर रखकर करवाएं अन्यथा मैं विना पारणा किए ही छला जाऊंगा।’ (श्लोक ४६-४७)

राजा ने जब विनीत भाव से भूति को समझाया और कहा—‘प्रेषिष्ठपुत्र की तो नहीं अन्य किसी की पीठ पर गर्म शीर का पाल रखकर मैं आपको पारणा करवाऊंगा।’ इस पर अग्निशमी कुछ होकर राजा से बोला—‘राजा, आप यदि इसी की पीठ पर गर्म शीर का पाल रखकर पारणा करवाएं तो करूँगा नहीं तो दिना पारणा किए ही धापस लौट जाऊंगा।’ (श्लोक ४८-४९)

राजा वैष्णव अर्माणितम्बों थे अतः नम्मत ही गए; किन्तु यह कौसा विवेक? राजा के कारण जिनधर्म ने अपनी पीठ उभसुल कर दी। संन्यासी जितनी दैर तक पारणा करता रहा जिनधर्म से हस्ती जित प्रकार दावाग्नि का उत्ताप सहन करता है उसी प्रकार उस पाल का उत्ताप सहन किया। मेरे पूर्व जन्मकृत किसी पाप का ही यह फल है जो कि इस विद्वान्डी बन्धु के उपकार से परिसमाप्त हो जाए। ऐसा वह दीर्घकाल तक सोचता रहा। (श्लोक ५०-५१)

अग्निशमी का पारणा समाप्त होने पर जब वह पाल उठाया

गया तो गांधनी से जिस प्रकार कर्दम सहित ईट निकल आती है उसी प्रकार रन्क, मांस, मञ्जा, रस सहित वह पात्र उठा। जिन-वर्षों पर विश्वविद्यालय जिनधर्म से ने गृह लौटकर आत्मीय बन्धु-वान्धवों की बुलडाया। सबसे धमायाचना और सबको क्षमादान कर भन्दिर गया। वहाँ तीर्थङ्करों की पूजा कर मुनियों से दीक्षा प्राप्ति प्राप्ति कर लो। दीक्षान्त में नजर परित्याग कर पवित्र-सीर्वे पर आरोहण किया। वहाँ मनेखनाथ जैकर पूर्वाभिमुख होकर नायो-लायर ध्यान में लीन हो गया। पीठ पर छुजा मांस देखकर गिरादि पक्षी उनमें से मांस भीचने लगे उस असहा वेदना को सहनकर जिनधर्म लारों और कायोलायर ध्यान में पंख परभैछि मन्त्र का ध्यान करते हुए मृत्यु ग्राह कर मौष्ट्री देवलोक में इन्द्र रूप में उत्पन्न हुए।

(बलोक ६०-५५)

त्रिदण्डी अग्निशमी मृत्यु के पश्चात् भूत्य-कर्म बन्धन के कारण शक्ति का वाहन ग्रेहनत हस्ती के रूप में सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ।

(बलोक ५५)

आयु गेए होने पर वहाँ से च्युत होकर त्रिदण्डी के जोद ने जन्म-जन्मान्तर से होते हुए यशाराज असिताध रूप में जन्म ग्रहण किया।

(बलोक ६७)

जम्हुद्दीन के भरतभेद में कुहंजगाल देश में हस्तिनायुर नामक एक नगर था। वहाँ अश्वसेन नामक एक राजा राज्य करता था जिनकी अपवाहनी से पृथिवी की मेघला जैसे पूर्ण होती थी उसी प्रकार शत्रु मेघला भी उसकी वज्र ललतार से अवदमित होती थी। गुण रूप रत्न से वह रोहण पवित्र जैसा था। इघम में जैसे जलकोटी को अवकाश नहीं होता उसी प्रकार उसमें सामान्य अणु भाव भी दोष नहीं था। श्री उसकी लब्धार की धार पर रहती थी मात्र वह कोई हुःसह कर्य कर रही हो और यह कहना आहटी ही कि उसकी तुलना में वह तृणवत् है। प्रार्थिण जब उनके पास आते तो वे उत्कूल होते और जब प्रार्थियों को मांगते के लिए कुछ नहीं रहता वो हस्तोत्साह ही जाते। उसकी प्रवान रानी का नाम था महादेवी। उसके सौन्दर्य को देखकर लगता भावो किसी देवी ने मूर्मुलोक में अवतरण किया है।

(बलोक ५८-५९)

शक की समृद्धि का भोग कर आयुष्य पूर्ण होने पर जिनधर्म

था तभी हंस, सारस आदि की आवाज उसके कानों में पड़ी। हवा में प्रवाहित कमलगन्ध से उसने अनुभान लगाया कि कहीं समीप ही जलाशय है। मिक्क से मिलन हो सकेगा सोचकर वह राजहंस की तरह हृतण्ठि से उधर बढ़ा। उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित हो रहे थे। वह जितना ही थारे बढ़ता गया उतना ही बेणु और बीणा के साथ गए गान्धार ग्राम का गीत उसके कानों में पड़ने लगा। उसने बहुमूल्य बस्त्र और अलंकार लगे तरहियों जे मरण हो जाने विन करे देह—।

(श्लोक १४७-१५३)

मन ही मन वह सोचने लगा क्या यही मेरा श्रिय मिल है या यह किसी का इन्द्रजाल है? या ये सब मेरे हृदय से तो नहीं निकले हैं? वह जब इस प्रकार सोच ही रहा था कि चारण द्वारा अमृतघर्षी यह गीत उसके कानों में पड़ा—‘कुरुकुल सरिता के हंस, अश्वसेन रूप उदधि के चन्द्र, सौधार्य में मनोभव रूप हे सनत्कुमार, तुम दीर्घजीवी बनो। विद्याधर ललनाथों की बाहुरूप लता के आश्रय रूप महिरुह, वैताढ्य पर्वत की उभय श्रेणियों पर विजय लाभ से श्री सम्पन्न, हे सनत्कुमार, तुम दीर्घजीवी हो।’

(श्लोक १५४-१५७)

यह सुनकर ताप-तप्त हस्ती जिस प्रकार उदधि में प्रवेश करता है, उसी प्रकार महेन्द्र कुमार सनत्कुमार के सम्मुख जाकर उसके पैरों पर गिर पड़ा। सनत्कुमार ने भी आनन्दाश्रु प्रवाहित करते हुए तुरक्त उसे उठाकर गले से लगा लिया। इस अप्रत्याशित मिलन के कारण दोनों वर्षकालीन मेघ की तरह आनन्दाश्रु प्रवाहित करने लगे। रोमांचित देह लिए दोनों बहुमूल्य आसन पर उपविष्ट हुए। विद्याधर तरहियाँ आश्चर्य चकित-सी उन दोनों को देखने लगीं। तीर्थकरों की तरह ध्यानासन में उपविष्ट योगी की तरह उनके नेत्रों की दृष्टि परस्पर केन्द्रित हो गई भानो संसार में अन्य कुछ भी नहीं है। दिव्य औषधि के प्रयोग से जैसे रोग निरामय हो जाता है उसी प्रकार सनत्कुमार के मिलन से महेन्द्र सिंह की आन्ति-बलान्ति दूर हो गई। नेत्रों के आनन्दाश्रु को पोंछते हुए अमृत निःस्यन्दी स्वर में सनत्कुमार महेन्द्र सिंह से बोले—

देखने के लिए वह आकाश पर उड़ रहा है। बल्गा औंचकर कुमार उसे चितना ही रोकता चाहते वह उत्तरी ही दुतगति से इस प्रकार प्राप्ति या मानो उसने विषरीत विधा प्राप्ति की हो। मुहूर्त भर में वह घासमान धृष्टि अन्य राजाओं को पीछे छोड़कर ऐसे चला मानो वह कोई राजा हो। कुछ ही देर में राजपुत सहित वह अश्व असद जैसे नदियों से धृष्ट ही जाला है उसी प्रकार राजाओं से धृष्ट हो गया। (गलोक ८५-१५)

बाढ़ जिस प्रकार नीका की बहा ले जाती है उसी प्रकार उस अश्व द्वारा अपहूल पुत्र की लौटा दाने के लिए राजा अश्वरीन ने स्वयं अश्वथा हिनी लेकर कुमार का अनुसरण किया। 'इधर से वह अश्व गया था', 'यह रहे उसके पैरों के चिह्न', 'यहाँ उसके मुख का केन पड़ा है'—इस प्रकार जब वे बोल रहे थे उन्होंने समय एक भीषण निर्मम और निरुत्तर मानो गृष्णी की धींकती हो ऐसा असामयिक एक तुफान आया। इस तुफान ने प्रलयकालीन रात्रि की मांडि मनुष्यों की आँखों को अन्ध कर दिया। क्योंकि वे आच्छादित में जैसे घर आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार आरों और से उड़ती धूल द्वारा सभी सेनिक आबूत हो गए मानो वे मन्त्र हारा अभिमन्त्रित होकर एक कदम चलने में भी असमर्पि हो गए हों। थोड़े के पद-चिह्न और केन जो कुमार के पथ का निर्देश दे रहे थे उस तुफान की धूल से नष्ट हो गए। निम्न भूमि पर उच्च भूमि या लम सूमि यहाँ तक कि वक्ता और वौष्ठे भी दिखाई नहीं गड़ रहे थे। समस्त लोगों के मन में हुआ मानो वे पाताल में प्रवेस रहे हैं। समुद्र याकी विशिकों की नीकाओं में जल भर जाने से जिस प्रकार किंवद्दन्ति-विमूढ़ हो जाते हैं उसी प्रकार सेनिक भी अनुसरवान को ल्पर्य समझकर किंवद्दन्ति-विमूढ़ हो पड़े। (गलोक ९६-१०२)

महेन्द्रमिह अप्तवेन की प्रणाम कर बोला—'महाराज, यह सब भाग्य का निश्चय है नहीं तो क्यों कुमार यहाँ आता, क्यों विदेशगत अश्व को यहाँ लाया जाता? अज्ञात चाल-चलन के अश्व पर कुमार चढ़ते भी क्यों और दुष्ट अश्व हारा वे क्यों अपहूल होते एवं क्यों आँखों की दृष्टि को आवृत कर देने वाला तुफान ही आता? किन्तु मैं सीमान्त स्थिति सामने को तरह भाग्य को पराभूत कर अपने मिश्र को मानो वे मेरे प्रभु हैं उन्हें खोजकर ले आऊंगा।'

गिरि-कन्दराओं में, गिरि-शिखरों पर सबत अरण्य में, पाताल जेसे नदी के निकटस्थ बिलों में, जल हीन मरुसूमि में एवं आन्य दुर्गम स्थल में सामान्य सैनिक सह कुमार को खोजना भी लिए जितना सहज होगा। विजयन सेन्यवाहिनी लेकर धारा के लिए वह सहज नहीं होगा, उचित भी नहीं होगा। युस्तुचर की परह मैं कही भी अकेला जा सकता हूँ। सामान्य पथ पर हस्ती का चलना संभव नहीं है।'

(प्रौढ़ १०३-११०)

अध्यसेत को इस प्रकार भार-बार समझाकर गौरों पर गिर कर महेन्द्र सिंह ने उन्हें दुखार्थ चित्त से राजधानी लौट जाने को विवेष किया और बुद्ध उसी काण सामान्य विश्वस्त अनुचरों सहित धारित हस्ती और उसी अनुचर के प्रतिष्ठ हो गया। वह सनकुमार की खोज में बन के समस्त प्रान्तों में घूमने लगा। गौड़ों के सींगों से उत्क्षिप्त पत्थरों से वह बन गय असमतल था। ग्रीष्म से तप्त सूखरों के प्रवेष के कारण वहाँ के सरोवर कदंसमय थे। शाइ-भाँडाड़ भालूओं एवं सिंह-गर्जन के प्रतिष्ठनित होता था। शीताओं द्वारा अनुसरण करने के कारण हरिणों का भूड़ द्व्यर-उधर भाग रहा था। बृक्षों पर बड़े-बड़े अजगर लिपटे हुए थे। सच पशुओं को निजलने के कारण वे हिलने नहीं पा रहे थे। बृक्ष की छाया में हरिण घूम रहे थे। नदी भाँड़ का पथ पानी पीने के लिए आगत सिंह-सिंहियों द्वारा अवश्य था। इसके अतिरिक्त मदोन्मत्त हस्तियों द्वारा उत्पाटित भग्न वृक्षशाखाओं से उस अरण्य-पथ पर चलना कठिन था।

(प्रौढ़ ११०११७)

महेन्द्र सिंह जितना ही अगसर होता गया वैसे-वैसे ही उसके अनुचर भी छिन-मिन होते गए। कंटकबृक्ष, बन्य पशु, टील, गङ्गुर से वह बन करमाः भयंकर होता गया। उसके अनुचर अम-बलान्ति होकर एक-एक कर उसको परित्यज कर जाते जाए। संसार-त्यागी मुनि की तरह तब वह एकाकी ही बन में विचरण करने लगा। अब वह होम्य में धनुष बाण लेकर अधिकार प्राप्त आदिवासियों के राजकर्मचारी की तरह—गहन बनों में, गिरि-कन्दराओं में घूमने लगा। हाथियों की चीड़ाड़ और सिंह की गर्जना में उसे सनकुमार की ही युक्तार

सुनायी पढ़ी जता: वह उत्तर ही दौड़ गया। शहां उन्हें न पाकर निशंके के बद्द को ही उसकी पुकार समझकर वहाँ जाकर उपस्थित हो गया। प्रेम का तो यही नियम है: वह नदी, हस्ती और सिंह को बोला उन सबों ने गन्धकुमार के कप्ठ-स्वर का अनुकरण किया है, इसी से बद्द प्रभावित हो गए हैं कारण अंश को देखने से हो सो शमश को जाता जाता है।

(ब्लॉक ११८-१२३)

महेन्द्र सिंह ने घपने मित्र को यहाँ न पाकर पश्चात् पवित्र की तरह एक ऊंचे लक्ष पर छड़कार चारों ओर देखा। दशिं-पूर्व की तरह वह एकाकी वसन्तकाल में अशोकवन में दुख से कातर बने हुए की तरह, बकुलबन में विभ्रान्ति की तरह, सहकार वन में उद्धिरन की तरह, मलिलकावन में असहाय की तरह, कणिकावन में जीवन से मानो धूगा हो गयी हो इस प्रकार, पाढ़लबन में पाण्डुर की तरह मिन्हुवार वन में दूरापति की तरह चम्पक वन में कमिति की तरह और खल की तरह चलय पवन से दूर रह कर, कोनल के गंधम स्वर ने मानो उत्तके लंग कुहर विद्धीण हो रहे हीं व चन्द्र किरणों से वेह की झाला शान्त महीं हो रही है इस प्रकार वसन्तकाल व्यतीत किया।

(ब्लॉक १२४-१२५)

थीर्थकाल भी उसने एकाकी विचरण करने हुए ही गिराया। प्रेत पद पर लूँय-किरणों से जप्त रजनियों ने उसके चरण-कपल के नखों को विश्वदुर्लित अर्चिन-स्कुलिंग की तरह दग्ध किया। मानो वह रंगों की ज्वाला को अग्राह कर दात्रामिति की भूमि राशि पर चलने का इन्द्रजाल दिखा रहा हो इस प्रकार उस पथ पर चलने लगा। उसने पासंत्रय हस्ती की तरह अविनिश्चाल ऊपी उत्तान हृदा में दग्ध शरीर की उगेदा शरीरों के बोध्य-पान को तरह नदी के उत्तप्त और पलचलयुक्त जल को पीकर पथ अतिक्रम किया। (ब्लॉक १२५-१५२)

रात्रि जैसे मुख से अभिन-शिखा निकालते हैं वैसे ही विद्युत उद्भिरथकारी भयंकर मेघ को देखकर भी वह जगा भी भयभीत नहीं हुआ। दोषं व अनिन्दित्र शरधारा-मी जलधारा से अकान्त हो कर भी वह सामान्य भी विद्वित

नहीं हुआ। मानो उसने वर्षे धारण कर रखा हो। जब नदी के प्रवाह से उत्थाइ बृहों द्वारा अवश्यक होने पर भी उसने वह नदी राजहंस की तरह सहज ही अतिक्रम कर ली। सूक्षरों की तरह वह वार कई भरा पथ भी मिश्र के अन्वेषण में उसने सहज ही पार कर दिया। (पत्रोक ११३-१३६)

मिश्र पर या चित्ता नक्षत्र (शरद काल) का उत्ताप और पैरों तले भी उत्पत्ति धूल मानो वह अग्निगृह में निवास कर रहा हो, किन्तु मन ही मन शीतल जल, कामल, पश्ची, हंस आदि का चिन्तन करते हुए और हे बन्धु, तुम कहाँ हो, तुम कहाँ हो इस प्रकार उसे खोजते हुए सब कुछ सहज किया। मदगन्ध की तरह सप्तपर्ण की गच्छ से उन्मत्त हस्ती युध की उसने उपेक्षा की। पद्ममाणस से लाङूष्ठ अरण्य में प्रवेश करने वाले हस्ती की तरह उसने गहन अरण्य में प्रवेश किया और शरदकालीन मेघ की तरह मिश्र की खोज में इधर-उधर भटकने लगा।

(पत्रोक १३७-१४०)

हिम पर्वत के सहोदर रूप उत्तरी पश्चिम से जब नदी और जलाशय जम गए, लाल गहरा, तेज में प्रसारित हवेन क-व, रात्रि में प्रसकुटित घैरेन और नील कमल शीतल के प्रभाव से जब झियमाण हो गए, दावेदिन का उत्ताप भी जब उन्हें बचा नहीं सका, किरात भी जब शीतल से जर्जर होकर दावागिन की कामता करने लगे ऐसे शीतकाल को भी उसने अरण्य में छोड़ती रखा। यह निपच्य ही उसके कठिन मनोवृत्त का घोटक था।

(पत्रोक १४१-१४२)

जो पथ पत्तों के झरने से छुट्टों तक आच्छादित हो जाया था जिसमें पर्य, विलक्षु आदि अन्यथा लिए थे ऐसी राह पर भी वह निर्भय चलना रहा। काण की अप्रिय ऐसी मिहादि के गर्वना की भी उसने उपेक्षा की। केवल यात्र अंकुर अक्षर कर उस शीतकाल को अलीस किया जबकि मिश्र की दुश्चिन्ता में वह शीतल नहीं था।

(पत्रोक १४४-१४६)

इस प्रकार मनकुमार को खोजते हुए एक बड़ अवसील हो गया। एक दिन अरण्य में कुछ दूर आकर जब खड़ा हो गया और उथोर्तिविद की तरह आकाश में न जाने क्या देख रहा

'मित्र, तुम यहाँ कौसे आए, फिर तुम अकेले ही क्यों हो ? तुम कैसे जान सके कि मैं यहाँ हूँ ? और तुमने यह समय किस प्रकार व्यतीत किया ? मेरे विरह में पूज्य पिताजी कौसे हैं ? मेरे माता-पिता ने उस अवस्था स्थान में तुम्हें अकेला कौसे भेज दिया ?'

(बलोक १५८-१६९)

इस प्रकार पूछने पर भगेन्द्र सिंह अध्युवाच्य हद्द कपड़ से जो-जो जंसा-बैसा घटा था सब कुछ दता दिया। तब सनकुमार ने कुशल विद्याधर अंगनाकों द्वारा उसको म्नात करवाकर खोजन करवाया। तदुपर्याप्त भगेन्द्र यिह ने विस्मय विस्मर्त्त नेत्र किए सनकुमार से करवाव होकर पूछा—'वह अस्त्र तुम्हें कितनी दूर तेर गया था और क्या-न्या घटनाएँ घटी थीं कुछ मुझे बताओ और यदि गोपनीय न हो तो वह समृद्धि किस प्रकार प्राप्त हुई वह भी कहो।'

(बलोक १६७-१७९)

सनकुमार सौचते लगा—जो मेरा अभिन्न हृदयी भिन्न है उसमें छिपाना क्या; किन्तु जार्यों की यदि उनके सम्मुख दूसरा भी उनका दुःसाहसिक अभियान की सत्यकथा ही बतलावे तो भी वह सुनने में अस्वस्तिकर लगता है तो अपने भुख से अपने अभियान की कथा में अपने भिन्न को कैसे कहूँ ? तब उन्होंने समीप ही बैठी अपनी पठनी से कहा—'बकुलमनि, मुझे जोर से नींद आ रही है। तुम्हें विश्वा से जो आत्मव्य है जानकर जो जो बटित हुआ है महेन्द्र सिंह को बतला दो।'

(बलोक १७२-१७५)

ऐशा कहकर वह सोने के लिए विश्वामित्र की ओर चला गया। बकुलमनि ने तब कहना प्रारम्भ किया—'उस दिन जापके सम्मुख वह अपने अप्तके भिन्न को लेकर अदृश्य हो जाने के पश्चात् एक यहावन में प्रविष्ट हुआ। वह बन मम के गोपन श्रीढास्त्रेश की दरख़्त भयंकर था। दूसरे दिन मध्याह्न में जब वह पंचम चाल में चल रहा था हो भूख-प्यास के कारण जीभ निकाल कर दीच राह में खड़ा हो गया। तब आर्यपुत्र धोड़े से उसरे, कारण धोड़े को नाभि श्वास उठ रही थी और घर की छत गिरते समय जैसे धौंध अकड़ जाते हैं बैसे ही उसके पैर अकड़ गए थे। आर्यपुत्र ने उसकी बलगा छोल दी और उसके ऊपर की जीन भी हटा दी। धोड़ा तंभो चक्कर बाकर जमीन पर गिर पड़ा और मादो मृत्यु के भय से ही उसका

म्बास रक्ख पाय। तब आर्युव्र जल की खोज में इथन-उधर घूमते लगे कारण वे स्वयं भी तो तृष्णा से कानून थे; किन्तु भग्नभूमि-से उस अरण्य में वे किसी को भी देख नहीं पाए। आपके मित्र सो ऐसे ही कोमलदेही हैं फिर दीर्घ मात्रा की कलान्ति एवं वाकानल के उत्ताप से किनष्ट होते के कारण अधिक दूर कहीं जा रहे। अतः एक सफारी वृक्ष के नीचे बैठ गए और वहीं मूँछड़न हो गए।

(श्लोक १३६-१८५)

'उनके पूर्व जन्म का पुण्य था। इसलिए उस थन के अधिकाना वेश उन गर अनुकूल होकर शीतल जल लाए और मुख पर छीटा। शीतलता के संचार से उनकी संज्ञा लीटी, वे उठ बैठे और उसके हारा दिया जल पिया। ततुष्ठरात्र उन्होंने पूछा—'देव, आप कौन हैं और यह जल आए कहाँ से लाए?' प्रश्नुतर में वक्ष बोला—'मैं यहीं का अधिवासी हूँ और यह जल आपके लिए मानगरोवर से लाया हूँ।' तब आर्युव्र बोले—'मेरे शरीर में जो दाढ़ है लगता है वह मानसरोवर में स्नान किए बिना चान्त तहीं होगा।' मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा' कह कर वह देव उन्हें कन्दनी कृमध पर बैठा कर मानसरोवर ने गया। वहाँ महावत जैसे हाथी को स्नान करवाता है, वैसे ही आर्युव्र ने नानाविध कीड़ा करते हुए स्नान किया। मर्दन करने वालों के हाथों के स्नान से जिस प्रकार शरीर की व्यथा दूर हो जाती है उसी प्रकार शीतल जल ने उनके समस्त शरीर में प्रविष्ट होकर उनकी कलान्ति दूर कर दी। (श्लोक १८६-१९२)

'जब वे स्नान कर रहे थे। तब उनके पूर्व जन्म का शव अमिनाश नामक देव भानो दूसरा शकान्त हो गी इस भानि वही आया और बोला—'अरे ओ दुर्लभ, आधार्य मिह जैसे हस्ती की खोज करता है उसी प्रकार मैं भी बहुत दिनों से तुम्हें खोज रहा था। अब तु कहा जाएगा?' वह कहकर एक लृहृद वृद्ध उजाझ कर लकड़ी की तरह उसे आर्युव्र पर केंका। आपके मित्र ने मुझी आघात से दया वृक्ष की हस्ती जैसे महावत की सहज दी उठा केंकता है उसी प्रकार केंका दिया। तब उसी वेश में प्रलयकालीन अन्धकार की तरह ममस्त पृथ्वी की अन्धकारमय कर डाला। उसने मन्त्रवल से अन्धकार के मानो सहोदर हो गेसे धूमधर्म और विषटाकार पिण्डाचों की सृज्जि की जिनके

मुख चिता की लपटों की तरह आग कोक रहे थे। बच्चाम के शब्दों की तरह वे कुर अट्ठाल-सा कर रहे थे। लाल केला, लाल टेजों के माझे थे वन्हे उन्‌हाँ की भाँति आग रहे थे। उनकी निकली दुई जीभ बृक्ष-कोटर से निकलते गर्म-सी लग रही थी। उनके जबडे मोटे और ढांस दीर्घ थे। मधुमक्खियाँ जिस प्रकार मधु की ओर दीढ़ती हैं वैसे ही वे आर्यपुत्र की ओर दीढ़े।

(स्लोक १८३-२०१)

'किन्तु आर्यपुत्र मन्त्र के अधिनेताओं की भाँति उन विकराल निशाचरों को आपनी ओर आते देखकर जरा भी भयभीत नहीं हुए। जब यक्ष ने आर्यपुत्र को भयभीत नहीं पाया तो यम-पाश की भाँति पाश से उन्हें बांध दिया। हस्ती जैसे द्राक्षालता के कुञ्ज की सहज हो तोड़ डालता है उसी प्रकार उन्होंने बड़ी सहजता से उस चन्दन को लोड़कर रथयं को मुक्त कर लिया। इस प्रकार त्रिफल होकर गिह जैसे पर्वत पर आपनी पूँछ पटकता है उसी प्रकार वह आर्यपुत्र पर मुछिन्प्रहार करने लगा। फुँद महाबत जैसे अंकुश गारा हस्ती की गत्तुत करता है उसी भाँति आर्यपुत्र आपनी वस्त्र-सी मुछिन्प्रहार उस यक्ष को आहृत करने लगे। मैघ जैसे विशुत छाटा पर्वत पर आधात करता है उसी प्रकार यक्ष ने आपने लोह मुद्गर से आर्यपुत्र पर आधात किया तब उन्होंने एक चन्दन थूका उत्पादित कर यक्ष पर फेंका। उस आधात से पूर्णतः निर्जन होकर वह नूल थूका की तरह जमीन पर गिर गड़ा।

(स्लोक २०२-२०६)

'तब उस यक्ष ने बृहुद गत्तर-से एक पहाड़ को उठा कर आर्यपुत्र पर फेंका। उस आधात से आर्यपुत्र मूर्छित ही एवं और सन्ध्या समय जैसे कमल पटल बन्द हो जाते हैं वैसे ही नेत्र बन्द कर लिए। जान लौटने पर प्रबल धायु जैसे मैघ को छिप-मिप कर देती है वैसे ही उस पर्वत को हस्त प्रहार से विदीर्ण कर डाला। इतना ही नहीं आपके मिल ने फिर तो हस्त बण्ड के पहार से उस यक्ष को चूर-चूर कर आला; किन्तु देव-योनि में होने के कारण उसकी मृत्यु नहीं हुई और वह अंधव की तरह बहु से आग गया। मृत्यु से पूर्व सूखर जैसे चीतकार करता है उसी प्रकार वह भी विलगाने लगा। देवियों

और दिव्याधर कन्याएँ जो इस शुद्ध की देख रखी थीं अतुलकमी की तरह आर्यपुत्र पर पुण्य वर्षा करने लगीं। (श्लोक २०९-२११)

‘अपराह्न में आर्यपुत्र दृढ़ संकल्प कर मदमस्त हस्ती की नश्ह कुछ आगे बढ़े। वहाँ उन्होंने नन्दन से आगत मदन की संजीवित करने वाली खेचर कन्याओं की देखा। उन्होंने आपके मित्र को स्थयंब्रह्म-मात्य की तरह हास्याव और विलसापूर्ण हंडिट से देखा। दस्तुस्थिति जानने के लिए विचक्षणों में अपरणी आपके मित्र उनके पास जाकर अमृत-निःस्यन्दी हवर में पूछते नगें—

‘तुम लोग कित महानुभावों की कन्या हो? किस कुप
की अलंकार लगा हो? इस बन में किसलिए शूम रही हो?’
उन्होंने उत्तर दिया—“दिव, हम आठों दिव्याधर राज भानुवेण
की कन्याएँ हैं। हमारे पितामों की राजधानी महों से दूर नहीं
है। कमल पर राजहंस जिस प्रकार निवास करता है उसी प्रकार
उस नगरी में निवास कर आप उसे अलंकृत करिए।

(श्लोक २१५-२२१)

‘उनकी बात सुनकर आपके मित्र भानों रान्ध्याकृत्य करने
मा रहे हैं इस भौति उस नगर में गए। सूर्य अस्त हो गया।
पात्र श्री चिन्ता से विन्तित व्यक्ति के लिए वंशरूपकरणी तुल्य
आपके मित्र कां उन्होंने डार-रक्षक द्वारा लपने पिता के पास
मेजा। उन्हें खेळकर उनकी अश्यवना के लिए भानुवेण उठकर
खड़ा हुआ और बोला—

‘देवब्रह्म से ही आप जैसे गुणवंत द्वारा मेह घर पवित्र
हुआ है। आपको देखने से ही लगता है कि आप उच्चकूल जात
और शक्तिशाली हैं। चन्द्र का जन्म क्षीर समुद्र से हुआ है यह
तो चन्द्र को देखने से ही पता चल जाता है। आप मेरी कन्याओं
के लिए उपश्रुत वर हैं इसलिए मैं आपनी आठों कन्याओं का
विवाह आपके साथ करना चाहता हूँ। कारण स्त्री में ही इन
जड़ा जाता है।’ (श्लोक २२२-२२६)

‘इस प्रकार अनुहृद होकर आपके मित्र ने उसी समय दिक्
कुमारिदोंसी उन आठों कन्याओं से विधिवत् विवाह कर लिया।
मंगलसूत्रवद् अवस्था में वे केलिगृह में उनकी साथ दायेन करने गए

और रसनजहित दायथा पर मुख्यपूर्वक लो गए। निश्चित अवस्था में उस यथा ने उन्हें उठाकर अन्यत्र फेंक दिया। गल शक्तिमान से भी अधिक शक्तियाँ ली होता है। अतः नींद टूटने पर उन्होंने बंगलहुन्न को जमीन पर गिरा हुआ और स्वर्ण को दत में देखा। सोचने लगे—यह क्या हुआ? तत्पश्चात् वन में पुर्व की भौति ही किर अमण करते हुए उन्होंने एक सात मंजिल वाला प्रासाद देखा। यह क्या किसी ऐन्द्रजालिका का इन्द्रजाल है, ये सोचते हुए उन्होंने उस प्रासाद से प्रवेश किया। वहाँ प्रविष्ट होते ही उन्होंने एक तमगी का उत्कीष भरा कल्दत मुना। उसके कल्दन से मानो दत भी कल्दन कर रहा था। दयादेवित आर्यपुत्र उस कल्दन को मुनकर मीठे सातवीं मंजिल पर पहुंचे। वह भहल ज्योतिषक देवों के विमान की तरह प्रतिभासित हो रहा था। वहाँ उन्होंने एक रूप-लावध्यवती विषयणदत्ता नीचा मुँह किए एक कुमारी को अथु प्रवाहित कर दीते हुए देखा। वह बार-बार कह रही थी—‘हे कुरुकुल धुन्यव सनत्कुमार, इस जन्म में न होने पर भी दूसरे जन्म में आप ही मेरे पति बनना।’

(सीन २२३-२४३)

‘उसे व्यपना नाम उच्चारण करते सुनकर संदिग्ध मन से कि कौन मुझे इस प्रकार माद कर रही है, अभीष्ट देव को तरह उसके सम्मुख जाकर उपस्थित हो गए और बोले, ‘शुभ्र! सनत्कुमार कौन है? तुम कौन हो? तुम कैसे यहाँ आई? तुम्हारा हुआ क्या है जो तुम सनत्कुमार को पुकार-पुकार कर रो रही हो?’ मह मुनकर उस तरुणी के मन में आनन्द का संचार हुआ और वह मधुर स्वर में दोली—

‘दिद, मैं सोराद्ध के राजा सोकेत पुराधिपति की कन्या हूं। मेरा नाम सुनन्दा है। मेरी मर्द का नाम चन्द्रयथा है। कुरुकुल सूर्य सनत्कुमार जिनके रूप से मदन भी पराजित होता है वे महाराज अश्वसेन के पूत्र हैं। वे ही दीर्घवहु मेरे पति हैं कारण मेरे माता-पिता ने मेरे स्वप्न-दर्शन के कारण जल का अंजलिदान देकर मुझे उन्हें बाल कर दिया था। इसी बीच विवाह होने के पूर्व ही परद्रव्य अपहरणकारी दस्तु की तरह एक विद्याधर मेरे प्रासाद की छत से मुझे उठाकर ले आया। वह मन्त्र बल से इस प्रासाद का निर्माण कर मुझे यहाँ रख गया है। वह अभी कहाँ है वह मैं नहीं

जानती। यह भी नहीं जानती ऐसा भी क्या होगा ?'

(स्लोक २३:-२४४)

'आर्यपुत्र बोले—'हे भीरु, भय मत करो। मैं ही कुरुवंशी रानकुमार हूँ जिसे तुमने स्वर्ण में देखा था।' सब वह चोली, 'मैं कृत-कृत्य हुई कारण बहुत दिनों पश्चात् भाग्य के द्वारा स्वर्ण साकार होने की भाँति आइ मेरे सम्मुख थे' हैं। हे देव, ईश्वर को प्रत्यवाद।' (स्लोक २४५-२४६)

'वे लोग जब इस प्रकार दार्त्तिलाप कर रहे थे तभी धर्मनिवेदन का पुत्र वज्रबेग विश्वाधर श्रीधर मेरे नाम नेत्र किए बूझ आ पहुँचा। वज्रबेग आर्यपुत्र को उठाकर आकाश को ओर उड़ चला। 'हा देव, मैं दुर्दल द्वारा नष्ट हुई' कहती हुई वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। आर्यपुत्र ने कुरु होकर वज्रबेग को पत्थर से कठोर हस्त आघात से मराक की भाँड़ भाँड़ लाला। तपुरान्त अद्यत रह लिए बन्द की तरह उसके तीले नयन-कमलों को छलन्द देने के लिए पुनः सुनन्दा के पास लौट गए। उन्होंने सुनन्दा को हीष दिलाया और वही उससे विचाह कर लिया कारण उपनिषदों ने कहा था कि यह कन्या रमणीरत है। (स्लोक २४७-२५८)

'अपने भाई की मृत्यु का संवाद पाकर युद्ध सन्धायकमी उसी शरण बहाँ आ पर्युच्ची। आर्यपुत्र को देखकर और नैमित्तिकों द्वारा की गई यह भविष्य बाणी स्मरण कर कि सुमहारा आनुहन्ता ही तुम्हारा पति होगा वह जान्त हो गई। अपनी इच्छा ही सबके लिए बनवान होती है। आर्यपुत्र को पतिष्ठन में आह कर रहे सब द्वितीय जयथी की तरह उसके पास गई। सुनन्दा की रात्रिद शम्मति पाकर आर्यपुत्र ने उस अनुरागवती से भी गार्ध्यर्थ-विवाह कर लिया।

(स्लोक २५९-२६०)

'उसी गमय दो विश्वाश्र अस्त्र-शस्त्रादि तथा रथ सहित बहौ शाएँ और आर्यपुत्र को बोले—'वज्रबेग के पिता विश्वाश्र राजा धर्मनिवेदन ने गहड़ जैसे सर्व की हुआ करता है उसी प्रकार उसकी हत्या कर दी है सुनकर अपनी रोना से आकाश को आच्छादित कर दिक् हस्ती से भी अशिक बलवान्, कोष्ठरूप सदण-समुद्र की तरह आपके माथ युद्ध करने आ रहा है। हम आपके माले हैं, हमारे पिता वज्रबेग और मातृबेग द्वारा प्रेरित होकर आपकी सहायता के लिए

यहाँ आए हैं। आप उनके हारा भेजे हुए इन्डिरध-से इस रथ पर चारोंहण कर और अस्त्र-शस्त्रादि धारण कर शत्रु-सेन्य को पराजित करिए। चन्द्रघेग और भानुघेग द्वादु से द्रुतगामी यज्ञ पर आ रहे हैं। वे आपके ही प्रतिरूप हैं। (इतीक २४३-२६२)

'उसी समय नदी सहित परिवर्ष और पूर्व समुद्र की तरह उच्छवेन और भानुघेग और नीरायष्ट्रियों लेनार थह। उत्तरियत हुए। पुष्करावर्त मेघ की तरह अशनिवेग की सेना का कोलाहल सुनाई पढ़ा। उसी समय चन्द्रघावली ने आर्यपुत्र को प्रज्ञप्तिका नामक विद्या प्रदान की। कारण स्त्रियों वति का पथ ही प्रहण करती है। युद्ध के लिए उद्योग आर्यपुत्र अस्त्र धारण कर रथ पर जड़े। अतिरिक्तों को युद्ध ही प्रिय होता है। चन्द्रघेग और भानुघेग एवं अन्य विद्याधरण ने, अस्त्रावल शत्रु-सेन्य के लिए जो राहु रूप थे, सेन्य द्वारा अशनिवेग को घेर लिया। पकड़ी-पकड़ी, मारी-मारी जिल्लाते हुए अशनिवेग की सेना दौड़ने लगी। उभय दल की सेनाएँ असीम साहस से मुर्गे की तरह बार-बार ऊपर उड़कर कीध से आघात कर युद्ध करने लगी। उस समय युद्ध के सिंहासन के अतिरिक्त कुछ सुनाई नहीं दे रहा था, अत्तों की चक्रमक के अलावा कुछ दिखाई नहीं दे रहा। हाथी की तरह युद्ध में बुद्धान दे कभी बाटे कभी पीछे होकर, कभी अस्त्रावर्त करके कभी अस्त्राधात् खाकर युद्ध करने लगे। बहुत समय तक युद्ध बलने के पश्चात् उभय दल की सेनाएँ जब कलान्त हो गयीं तब अशनिवेग हवा की तरह द्रुतगामी रथ पर उड़कर शासने आया और त्रिद्वृप-के स्वर में हँसते-हँसते बोला—'कुत्तास्त्रयुह का नदीन अतिरिक्त वज्रघेग का वह हृत्यारा कहाँ है?' ऐसा कहकर उसने बनुप पर टकार दी। तब उन बीनों महाशक्तिक्षणलियों में युद्ध आरम्भ हो गया। तीर के बदले ऐसे तीर निक्षिप्त हुए कि जिससे सहजमाली का किरणजाल भी आघृत हो गया। (इतीक २६३-२७४)

'आर्यपुत्र और विद्याधरराज परस्पर एक दूसरे की हत्या करने को उत्सुक होकर अपनी नदा आदि से युद्ध करने लगे; किन्तु दिजय किसी को नहीं मिली। उन्होंने दिष्यास्त्रों से मुद्द किया। नागबाण, मरुष्याण, अग्निबाण, वरणबाण ने एक दूसरे को प्रतिहृत किया। (इतीक २७५-२७७)

'विश्वाधरराज' ने अनुप भूकाकर एक तीर निशेष किया। आर्यपुत्र ने एक तीर से अशनिवेग के धनुष का चिल्ला काट डाला। परन्तु उसके जीवन का ही अन्त कर डाला हो। अशनिवेग जब हाथ में छाइँगे तो अर्थात् वर्ष्युद ने लोट दीहा तस उम्होंने अर्द्धवश की भाँति उसका आधा हाथ ही काट डाला। अस्यधिक ओरित होकर एक त्राय कट जाने पर भी पर वह एक बाँत टूटे हस्ती की तरह या एक दौत खोए मृत्युर की तरह, उनकी ओर बढ़ने लगा। जब वह होठ बनाकर आर्यपुर पर छाइँग का चार करने जा ही रहा था कि उम्होंने विश्वाधरस्थ चक्र द्वारा अशनिवेग का मस्तक छेदन कर डाला। (प्रलोक २७८-२८१)

'अब अशनिवेग की राज्यवी पूर्णतः आर्यपुत्र की आधित हो गयी। कारण थो साहसियों का सौ आधय ग्रहण करती है। चन्द्रवेग, भानुवेग और अन्य विश्वाधर सहित आर्यपुत्र बैताउथ वर्वत पर गए। जिन विश्वाधर राजाओं को उम्होंने युद्ध में पराजित किया था उनके हाता वे विश्वाधर पति के रूप में अभिवित हुए। याक जैसे नन्दीश्वर हीप में अहुर्वै महीत्सव करता है उसी प्रकार जिसकी महत्ता अनुशनीय है ऐसे आपके मित्र ने वहाँ अष्टाङ्गिका महोरस्त्र किया।' (प्रलोक २८२-२८५)

'एक दिन विश्वाधरों के अङ्गाभणि रूप मेरे पिता जी ने आर्यपुत्र से कहा—'बहुत दिन पूर्व' मैंने महाशत्कियर और जात में समुद्रमुख एक मुनि का वर्षन किया और उन्हें अमृतमर्ति आदि मेरी एक सी कन्याओं के भाषी पति के विषय में पुछा। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—'चतुर्थ वर्की सनत्कुमार आपकी इन एक सी कन्याओं के पति होंगे। सीधाग्यवता बाइ उनी समय महां आए जबकि मैं सोच रहा था कि आपको कहाँ खोजूँगा और कैसे आपको इनसे विश्वाश्रु करने की बहुंगा? देख, अब आग अनुप्रह कर उन्हें ग्रहण करें कारण, महान् पुरुषों के सम्मुख की गयी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं होती, मुनि वाक्य भी व्यर्थ नहीं होता।'

(प्रलोक ३८६-३९०)

'याचक के लिए चिन्ताभणि तुल्य आएके मित्र ने मेरे पिता द्वारा इस प्रफार अनुरूप होकर मेरे सहित एक सी कन्याओं से विवाह किया। तब से विश्वाधर कन्याओं से परिवृत होकर आएके

मित्र कभी मनोभुग्यकारी संगोत सुनते थे, कभी मुन्दर अभिनव पेखकर, कभी कहानियाँ सुनकर, कभी विव देखकर, कभी विव चरिता में जल-कीड़ा कर, कभी उच्चान में पुण्य चयन कर सभव अवशीत करने लगे। यही आपके वन्धु कीड़ा के लिए आए थे जहाँ आपसे उनका मिलन हुआ। इस भाँति निष्ठुर भावय का चक्रान्त व्यर्थ हुआ।¹

(स्तोक २९१-२९५)

बकुलमति की कथा यमान्त होते ही सनलकुमार हस्ती जैसे सरोवर से निर्कल आता है उसी प्रकार होइ। भह से धहर आए। तदुपरान्त विधाधरों से परिवृत होकर इन्द्र जैसे मुमेह पर्वत पर जाता है उसी प्रकार महेन्द्र तिह सहित वैताणध पर्वत पर गए।

(स्तोक २९६-२९७)

एक दिन महेन्द्रकुमार सनलकुमार से बोले—‘मिल, तुम्हारी इन संदृढ़ि से मेरे आनन्द की सीमा नहीं है; किन्तु तुम्हारे मता-पिता तुम्हारे विरह में दुःखी हैं। वे जर्वा तुम्हें स्मरण करते हैं। तुम्हारे और मेरे प्रिय उनका इतना अनुराग है कि हमलोगों जैसे किसी को देखते ही यह सनलकुमार है, यह महेन्द्रसिंह है वे ऐसा सोचने लगते हैं। एतदर्थं बलो, हम हस्तिनापुर चलें। वन्द्र जैसे समुद्र की आनन्दित करता है तुस मी उन्हें जैसे ही आनन्दित करो।’

(स्तोक २९८-३०१)

महेन्द्रसिंह जब हम प्रकार बोले तब शास्त्ररूप पहाड़ के लिए जो वज्र तुल्य है ऐसे उन्होंने उसी मुहूर्त में पत्ती, बन्धु-वान्द्रव, सैन्य-साम्राज्यों और अनुचरों से परिवृत होकर हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया। उनके अधीनस्थ राजाओं के विभिन्न आकाशयानों की दृश्यति से आकाश बहुसूर्यमय लग रहा था। किसी ने उनका स्वपनका था, कोई चौदर ढुका रहा था, कोई उनकी पादुका बहन हिए चल रहा था, कोई ताढ़ पंखा धारण किए था, किसी के हाथ में उनका ताम्बूल-पात्र था, कोई पथ बता रहा था, कोई हाथी पर चढ़ा था, कोई साथ पर कोई रथ पर, कोई पैदल ही आकाश-भारी से जा रहा था।

(स्तोक ३०२-३०७)

मैथ जैसे त१५-किलोट्र मनुष्य को असन्दित करता है उसी प्रकार लसन्कुमार ने दुःखान्त मता-पिता और पुरवासियों को दर्शन देकर आनन्दित किया। आनन्दमना अस्त्रसेन ने सनलकुमार को

सिहामन पर बैठाया और महेन्द्रसिंह को उनका सेनापति बना दिया। तीर्थंकर धर्मनाथ स्वामी के समनवसरण में जाकर अश्वसेन ने वयोवर्षेषों के कम्भुज दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को सार्वक किया। (इतीक ३-२-३१०)

चौदह महारात्न और चक्रादि सनत्कुमार के राज्य में उत्पन्न हुए। चक्र का अनुसरण कर उन्होंने भरत के लहु खण्डों को जीत लिया एवं नैसर्य आदि रत्नों को प्राप्त किया। इस प्रकार इस हुआर वयों में समस्त भरत धैत्र की जग कर वे हृस्तीरत्न पर आरुङ्ग हौंडर हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुए। जब वे महामना नगर में प्रविष्ट हुए तभी धर्मधिकार से ज्ञानकर सौधर्मेन्द्र ने पूर्व अन्धुर्ल के लिए उन्हें अपना प्रतिरूप समझा। जिस हेतु पूर्व जन्म में वे सौधर्मेन्द्र थे अतः वे मेरे भ्राता हैं ऐसे स्तोह के कारण शक ने कुबेर की तुलधार्या और कहा—‘शकों में उत्तम, चक्री, कुरुवंशरूप समुद्र के लिए चन्द्र तुरुप महामना अश्वसेन के पुत्र मेरे भाई के समान हैं। छह खण्ड भरत जय कर आज वे नगर में प्रवेश कर रहे हैं। उनका चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक करना है। अतः उसका आयोजन करो। इतना कहकर सौधर्मेन्द्र ने उन्हें हार, अर्द्धहार, छल, दो धौंवर, मुकुट, गुगल कुष्ठल, दो देवदूष्य वस्त्र, सिहासन, पादुका और उज्ज्वल पात्रपीठ सनत्कुमार को प्रदान करने के लिए दिए। ताथ ही साथ उन्होंने तिकोनामा, उर्द्धशी, मेनका, रम्भा, तुम्भुर और नारद को भी अभिषेक में जाने के लिए कहा। कुबेर न रुकान उन्हें लेकर हृहितना-पुर गए और सनत्कुमार को शक का आदेश मिवेदित किया। सनत्कुमार की आज्ञा मिलते ही कुबेर ने रोहत पर्वत की उपस्थिका-सा एक पोजन दीर्घ रत्नखटित मच का निर्मण करवाया। उस पर दिव्य चन्द्रतप लगाया और वंच के मध्य रत्नों की बैदी निर्मित कर उस पर रत्न सिहासन स्थापित किया। कुबेर के आदेश पर जूम्हर देव और समुद्र से जल से आए। समस्त राजस्थार्य महारथ गंध-माला आदि से आए। (इतीक ३-१-३२४)

आयोजन सम्पन्न होने पर कुबेर ने सनत्कुमार को रत्न सिहासन पर बैठाया और इन्ह द्वारा प्रदत्त उपहार प्रदान किए। इन्ह के सामानिक देवों की तरह सनत्कुमार के अनुचरकून्द, सामन्त और राजन्यवर्ग यथास्थान बढ़े रहे। नाभिपुल का जिस प्रकार

राज्याधिके किया गया था उसी प्रकार देवों ने पवित्र जल में सनत्कुमार को चक्रवर्ती पद पर अभिषित किया। तुम्हारु आदि गणकों ने संगल गान किया। देवों ने मृदंगादि वाय बजाए। रम्भा, उर्वसी आदि ने नृत्य किया, गन्धबौ ने नाना प्रकार के कौतुक दिखाए। स्नानाधिष्ठक ममाप्ति कर देवों ने उन्हें दिव्य वस्त्र, गन्ध, अलंकार और माल्य आदि प्रदान किए। हस्तों रस्म की मूर्गधित केशर से चम्किल कर उत्सवी पीठ पर सनत्कुमार को बैठा कर कुबेर ने हस्तिनापुर में उनका प्रबोध करवाया। अपनी नगरी की तरह ही हस्तिनापुर को जल सम्पर्ख कर कुबेर ने घक्कदर्ती से विदा भी।

(इनोक ३२५-३३८)

घक्कदर्ती रूप लता की क्षारी के रूप में उनका अभिषेक मुकुटबद्ध राजाओं और सामन्तों हाथ भी अशुचित हुआ। इन अभिषेक समझोह के कारण हस्तिनापुर को बाहर वर्षी के लिए दण्ड, कर आदि से मुक्त कर दिया गया। इन्द्र-से वेभव सम्पन्न सनत्कुमार पिता की तरह प्रजा को पूर्ववन् पालन करने लगे। उन्हें करादि हारा पीड़ित नहीं किया। शक्ति में जिस प्रकार उनके समक्ष ब्रिजोप्य में कोई नहीं था उसी भाँति रूप में भी ब्रिजोप्य में कोई नहीं था।

(इनोक ३३३-३३६)

एक दिन बाक सौधर्मी कल्प में अपने रूप मिहमन पर बैठ कर सौदामिनी नामक नाटक देख रहे थे। उसी समय वहा ईशान कल्प से संगम नामक एक देव आया। उसकी कान्ति और रूप ने वहाँ अवस्थित समस्त देवों के रूप और कान्ति को म्लान कर दिया। यह देख कर वे गव विस्मय हो गए। उसके चले जाने पर देवों ने बाक को हर रूप और कान्ति का कारण पूछा। बाक ने प्रत्युत्तर में कहा—‘गूर्व जग्म में उसने आदीविल वद्धेमग्न ताप किया था उसी कारण यह रूप और कान्ति अजित की है।’ देवों ने पूनः पूछा—‘उसके जैसे रूप और कान्ति किलोक में और किलो के हैं?’ इन्द्र ने उत्तर दिया—‘उससे भी अधिक रूप और कान्ति कुरुकुल के अलंकार घक्कदर्ती सनत्कुमार को प्राप्त हैं। उनसा रूप और कान्ति अन्यत्र किमी भवन्त्य या देवों में भी नहीं है।’

(इनोक ३४३-३४६)

विजय और वैजयन्ति नामक दो देवों को इनकी इस

बात पर विश्वास नहीं हुआ। वे पृथ्वी पर उतारे। सनत्कुमार का सौन्दर्य देखने के लिए ब्राह्मण देश में वे राजप्रासाद के द्वार पर जहाँ द्वारपाल खड़े थे पहुँचे। सनत्कुमार उस समय स्नान के लिए बैठे थे अतः देह के समस्त रत्नाभरण उतार कर उबटन का लेप कर विया गया था। द्वार-रक्षक ने द्राह्यणों का आगमन निर्देशित किया, सनत्कुमार में उन्हीं वहाँ ले आने को कहा। वहाँ जाकर जब उन्होंने सनत्कुमार को देखा तो विस्मित होकर मस्तक नीचा किए सौचने लगे—

इनका ललाट अष्टमी के चन्द्र से भी सुन्दर है। आकर्ण-विस्तृत नेत्र नील पद्म को भी लज्जित कर रहा है। ओष्ठ पके विस्त्र से भी अधिक रक्तिम है। कान मुक्ता सीपन्से हैं। कण्ठ पांचजन्य शंख को भी पराजित कर रहा है। झुजाएँ गजराज की सूँड का स्मरण करवा रही हैं। वक्ष देश ने सुष्वर्ण शिला के सौन्दर्य को चुराया है। कटिदेश सिंह शिशु-सा कीण है। और अधिक क्या कहें? उनका देह-सौन्दर्य भाषा में पकड़ा नहीं जा सकता। उनकी देह का लावण्य तेजा निर्बाधि है कि चन्द्र किरण द्वारा आवृत नक्षत्रलोक की तरह उबटन की तो बात ही मन में नहीं आती। इन्द्र ने जैसा कहा था ये वैसे ही हैं। सत्य ही महामना कभी झूठ नहीं बोलते। (श्लोक ३४४-३५४)

सनत्कुमार ने उनसे पूछा, 'हे द्विजोत्तमगण, आप यहाँ क्यों आए हैं?' वे बोले, 'हे नरशार्द्दल, आपका रूप स्वर्ग मर्त्य सर्वत्र विख्यात है और सभी के लिए विस्मयजनक है। इसी रूप की चर्चा सुन कर स्वनेत्रों से इस रूप को देखने हम यहाँ आए हैं। लोग आपके रूप के विषय में जैसा कहते हैं उसी प्रकार यह आश्चर्यजनक सुन्दर है।' (श्लोक ३५५-३५६)

सनत्कुमार के अधरों पर हास्य विखर गया। वे गर्व से बोले—'हे द्विजोत्तमगण, उबटन लेपित देह में वह सौन्दर्य कहाँ? जब तक मैं स्नान न कर लूँ तब तक आप अपेक्षा करें और मेरा अंगराग लिप्त स्वर्णाभरण मणित देह-सौन्दर्य देखें।'

(श्लोक ३५७-३६१)

सूर्य जैसे आकाश को अलंकृत करता है उसी प्रकार स्नान के पश्चात् स्वर्णाभरणों से भूषित होकर चक्री ने अपने प्रताप

से राजसभा को अलंकृत किया। उन दोनों व्राह्मणों को वहाँ लाया गया जिससे वे उनका सौन्दर्य देख सकें; किन्तु उन्हें देखते ही वे विषण्ण होकर सोचने लगे—इतनी-भी देर में ही इनका वह रूप-लावण्य, कान्ति कहाँ चली गयी? सचमुच ही मृत्यु लोक में मनुष्य का सब कुछ ही नश्वर है। (स्लोक ३६२-३६४)

सनत्कुमार ने विस्मित होकर उनसे पूछा—‘इसके पूर्व जब आप लोगों ने मुझे देखा तो हर्षोत्कुल हो उठे थे; किन्तु आज्ञी सहसा दुःखी और विषण्णमना क्यों हो गए हैं?’ तब वे मधुर स्वर में सनत्कुमार से बोले, ‘राजन्, हम दोनों सौधर्म देवलोक के देव हैं। सौधर्म देवलोक में इन्द्र ने आपके रूप की प्रशंसा की। हमें विश्वास नहीं हुआ। अतः मानव देह में आपका वह रूप देखने यहाँ आए। उस समय इन्द्र ने जैसा कहा था वैसे ही आपका रूप देखा; किन्तु अब आपका वह रूप बदल चुका है। निःश्वास जैसे दर्पण को अन्ध कर देती है उसी प्रकार रूप का अपहरण करने वाली व्याधि डारा आपकी देह परस्त हो गयी है?’ (स्लोक ३६५-३६९)

इस सत्य को प्रकाशित कर वे देव तत्क्षण अन्तर्घनि हो गए। सनत्कुमार ने स्वयं भी अपनी देह को हिमग्रस्त वृक्ष की भाँति प्रभाहीन देखा। तब वे सोचने लगे—‘हाय! यह देह सर्वदा ही रोग का आकर है। अल्पवृद्धि मुख्य ही व्यर्थ इसका गर्व करते हैं।’ (स्लोक ३७०-३७१)

‘दीमक जैसे भीतर ही भीतर वृक्ष को नष्ट कर देता है उसी भाँति देह को भी देह में उत्पन्न व्याधि भीतर ही भीतर नष्ट कर देती है। यद्यपि कभी-कभी यह देह बाहर से देखने में सुन्दर लगती है, फिर भी यह भीतर से बटवृक्ष के फल की तरह कीट पूर्ण है। जलकुम्भी जैसे सुन्दर जलाशय को नष्ट कर देता है उसी प्रकार व्याधि भी शारीरिक सौन्दर्य को क्षणभर में नष्ट कर देती है। शरीर शिथिल हो जाता है, किन्तु कामना नहीं जाती। रूप नष्ट हो जाता है; किन्तु भोग-लिप्सा रह जाती है। वृद्धावस्था भी जाती है; किन्तु ज्ञान का उदय नहीं होता। धिक्कार है मनुष्य की इस देह को! रूप-लावण्य, कान्ति, वैभव, शरीर और सम्पत्ति इस संसार में कुशायस्थित जलविन्दु की

तस्ह अस्थायी है। अतः इस नाशकान देह द्वारा सकाम मिर्जारा
रूप तप करना ही उत्तम है। (स्कोल व३२-३३)

ऐसा दोष पर संभार के दिलत भने अनेकुंगणों द्वारा प्रतिष्ठित
यहण करने की इच्छा से अपने गुव की सिद्धान्तन पर चैठाया।
तदुपरान्त उधान में जाकर जो कुछ है वै उसका परित्याण
करने के लिए विनयधर मुनि से भागवती दीक्षा यहण कर ली।
महाब्रत यहण व उत्तरगुण पालन करने के लिए सर्वदा समझान
में स्थिर रहते हुए वे जब प्रामान्यप्राप्ति किञ्चरण करने लगे तब
हृष्णीयुथ जैरो-जैसे युधिष्ठिर का अनुसरण करता है उसी प्रकार
उनके प्रति अनुरागी समन्तराजगण उनका अनुसरण करने लगे।
इह मात्र योनि अनुगरण कर वे लौट आए। कारण सर्वजित
समत्व और अनुरागहीन निष्परियही उन महात्मा ने उनकी
बोर्ड भुड़ कर भी नहीं देखा। (श्लोक व५८-५९)

दो दिनों के उपवास के पश्चात् एक दिन वे जब पारणा के
लिए एक गृहस्थ के घर गए तो वहाँ छाँच और डब्बाला हुआ
जो मात्र भिला। उन्होंने अपनी आकार पारणा किया। यही कम
उनका चलता रहा। एक दिन पारणा दो दिन उपवास करने
से, दोहर रह जाने पर शरीर में जैसे व्याधियाँ बढ़ जाती हैं
उसी प्रकार उनकी देह में भी रोग बढ़ने लगा। वे महात्मा खुली
दाढ़, जबर, दमा, मन्दागिरि, पेट का दर्द और नेत्र रोग इन सात
व्याधियों से आफत हो गए। उन्होंने उसी अवस्था में ७००
दर्पण व्यक्ति दुःख गमिष्य ह सहन कर व्याधि
बचावार से निःस्पृह रहते हुए घोर ता करने के कारण उन्हें
द्विभिन्न लक्ष्यों प्राप्त हो गयीं। उन्होंने अपने शूक, कफ, पसीना,
शरीर का मेल, विला व स्वर्ण द्वारा रोग नियुक्त करने की
आपत्ति प्राप्त की। (श्लोक व५३-५४)

गनकुमार की विशुद्ध नपस्या के प्रभि खड़ान्वित हीकर
दग्धदेव सभा में चोने जलते हुए फूस की भाँति ज़क्कवती के
विषुल वैभव को परित्याग शर सत्त्वुमार कठोर तप में संलग्न
है। यथोऽग्नि ता के प्रभाव से व्याधिमुक्त होने को भवता उन्होंने
क्षणित बर ली है किर भी देह के प्रति निरादर के महात्मा
स्वर्ण को रोगमुक्त तर्ही कर रहे हैं? गृहोक्त वही शिश्य और

बैंजपत्र दोनों देव यह मुनकर विश्वास न होने के कारण बैल के रूप में सनस्कुमार के पास पहुँचे। वे उन्हें बोले, 'हे महामना, आप क्यों रोग से कष्ट पा रहे हैं?' हम वैष्ण हैं। हम चिकित्सा द्वारा हम रोग को निरामय कर सकते हैं। आप यदि भास्मलि के हो आपका जो शरीर व्याघ्रियत्व छो भया है, उसे हसी मुहर्त में हम रोगरहित कर सकते हैं?' (स्तोत्र ३५४-३५५)

सनस्कुमार बोले, हम बैष्णगण, व्याघ्रि दो प्रकार की होती है। एक द्रव्यव्याधि, दूसरी भावन्याधि। कोध, मान, माया, लोभ भाव-व्याधि है जो कि मनुष्य को हजारों जन्म तक कष्ट देती है। यदि आप उसका निरामय कर सकें तो लब्धतोऽधावेन अवश्य ही निरामय कर दीजिए और यदि द्रव्य-व्याधि निरामय कर सकते हैं तो देखिए'— (स्तोत्र ३५४-३५५)

ऐसा कहकर अपनी शतग्रस्त अंगुली पर अपना थूक लगाया। पारा के हाथ से तास्वा जिस प्रकार रथर्ण वर्ण हो जाता है वैसे ही इह अंगुली स्थणी-ही भी थी। यह देख कर वे देव उनके पैरों पर गिर कर बोले, 'अहनिधर, हम वही दोनों देव हैं जो हम की बात का विष्वास न होने से आपका रूप देखने आए थे। आज भी हमने जब वहा—'व्याधि निरामय की लक्ष्य होते हुए भी अहं सनस्कुमार रोग चन्द्रणा सहन करते हुए उत्तम तप कर रहे हैं' तो हमें विष्वास नहीं हुआ। अतः यही आपकी लक्ष्य देखने आए थे। अब उसे अपनी अँखों से देख लिया है।' ऐसा कह कर उन्हें प्रणाम कर देव चले गए। (स्तोत्र ३५६-३५७)

नकी की आमु इलाखे वर्ष की थी। ५००००० वर्ष उन्हें कमाराजस्था में, ५००००० वर्ष माषड़निक राजा के रूप में, १००००० वर्ष दिविष्वजय में, १००००० वर्ष चक्री रूप में व १०००००० वर्ष ब्रह्मी रूप में व्यक्तीत किए। मृत्यु समय आने पर उन्होंने संलग्नना वत यहाँ कर लिया और पांच परमेष्ठी का रूपरण करते हुए शुक्ल ऋत में वैत त्याग कर सनस्कुमार देशनीक में देव रूप में उत्पन्न हुए। (स्तोत्र ४०६-४०७)

शास्त्र रूप समुद्र से संगृहीत मुक्ता-भा यह नवुर्ध पर्य, यहा-

२२ शलाका पुस्तकों में ५ अहंत, ५ बलदेव, ५ दासुदेव, ५ प्रति-
दासुदेव और दो चक्रवर्तियों का जीवन विवरण दिया गया है,
यह आपके कल्याण के लिए हो। कुछ सूत्र से, कल्प आद्यान
से, कुछ ओर पर अथर्वा मुख शिष्य परम्परा प्राप्त विषय वर्णित
हुआ है। यदि इसमें कोई भूल-भाल हो तो, हे मुजन, वह
मन्द कर्म की भाँति निरफल हो।

(अनुवाद ४०५-४०६)

सत्त्वम् सर्वं समाप्त

चतुर्वेदं पर्वं समाप्त

